तत्व मार्तण्ड



इस ग्रंथ में अनेक मत के ग्रन्थों व मतों में से वेद और वैदिक मत की श्रेष्ठता
युक्ति व प्रमाण से सिद्ध की गई है मूर्त्ति पूजा और साकार निराकार उपा-
सना के विषय में देवता मन्त्र और प्रेत विषय में श्री स्वामी दयानन्द कृत
लेख और अन्य आर्य्य समाजी महाशयों लेख के विषय में आर्ष ग्रन्थ
अनुकूल संस्कार कर्तव्य व वर्तमान में प्रचरित कुसंस्कार विधि के
त्याग विषय में आर्ष ग्रंथों व पुराणों में अनेक अयुक्त व मिथ्या
कथाओं व व्याख्यानों के होने व प्रक्षिप्त होने विषय में मांस
भक्षण के निषेध और वर्णव्यवस्था आदि के विषय में प्रमाण
व युक्ति से अच्छे प्रकार से समीक्षा करके निर्णय
किया है यह तत्व ज्ञान प्राप्त करने में विशेष लाभ-
दायक है इसको श्री स्वामी प्रभूतानन्द जी ने
लोक के हित के लिये निर्मित किया है।

लेखक तथा प्रकाशक

श्री स्वामी प्रभूतानन्द सरस्वती

पण्डित ओंकारनाथ बाजपेयी के प्रबन्ध से,ओंकार प्रेस प्रयाग में प्रकाशित

प्रयाग



प्रथमावृत्ति १०००] सम्वत् १९७४ [मूल्य १)

अध्याय और विषय सूचक सूचीपत्र



॥ ओ३म् ॥

तत्व मार्तण्ड

ग्रंथ निर्माण हेतु वर्णन

प्रणम्य सच्चिदानन्दं तत्वज्ञानोपलब्धये
करोमितत्वमार्तण्ड ग्रंथ लोकहितेच्छया ॥१॥

अर्थ—सदा विद्यमान, ज्ञान व आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्रणाम करिके लोक के हित की इच्छा से तत्वज्ञान प्राप्त होने के लिये मैं तत्वमार्तण्ड नामक इस ग्रंथ को निर्मित करता हूं ॥

वर्तमान समय में अविद्या और पक्षपात के कारण से सम्पूर्ण आर्य्यावर्त में अधिकतर परस्पर विरोध झूंठ छल और कपट से अपना अर्थ साधन करना मतविरोध से अपने मत को उत्तम कहना अन्य के मत की निन्दा करना इत्यादि अनेक अनर्थ के हेतु देखे और सुने जाते हैं जिससे प्रतिदिन सिवाय देश की अवनति और दुःख परिणाम के कोई आशा परस्पर मित्रभाव एक दूसरे की सहायता व सहानुभूति की सामान्यतः इस आर्य्यावर्त देशवासियों के हृदय में उदय होने की विदित नहीं होती ॥

इसका कारण केवल विद्या व विचार का न होना है जिससे यह देश इस शोचनीय दशा को प्राप्त है जब इस देश में वेद शास्त्र और महात्मा ऋषियों से निर्मित हुये सद्ग्रंथों का प्रचार व उनके अनुसार धर्माचार व व्यवहार सब देश निवासी करते थे विद्वान सज्जन महात्माओं के सत्संग व विचार से सत् व असत् का निश्चय करते थे तब इस देश की अवस्था सब देशों से उत्तम थी यहाँ के निवासी लौकिक और पारलौकिक सुख के अधिकारी होते थे।

परन्तु कौरव और पाण्डवों में राज्याधिकार प्राप्त करने के विषय में विरोध उत्पन्न होने व युद्ध होने में अच्छे अच्छे सत्पुरुषों का व लाखों वीर पुरुषों का संहार होने और पाण्डवों को राज्य प्राप्त होने पर अल्प ही काल में युधिष्ठिर आदि पाण्डवों के भी परलोकगामी होने के पश्चात् इस देश की अवनति होने का प्रारंभ हुआ तब से समय समय पर अवनति के कारण होते जाने से उक्त दशा को प्राप्त हुआ है ॥

कोई धार्मिक सम्राट (सब राजाओं में अधिकार रखनेवाला) उत्तम प्रबन्ध व विद्या की उन्नति करनेवाला नीति व नियम का प्रवर्तक इस देश में न रहने से अपनी इच्छा के अनुसार वेद व शास्त्र के ज्ञान और ब्रह्म धर्म से रहित ब्राह्मणों ने अनेक निर्मूल बातों को अपने स्वार्थ साधन के लिये प्रचरित कर दिया और उनको समूल और प्रमाण के योग्य करने के लिये व्यास का वर्णन किया हुआ प्रसिद्ध किया और व्यास जी के बनाये हुये महाभारत ग्रंथ में और वाल्मीकि जी के बनाये हुये वाल्मीकि रामायण में और अन्य पुराण ग्रंथों में जिनको व्यास के बनाये प्रसिद्ध किया है उनमें मिला दिया। और यह भेद ज्ञात न होने के लिये सिवाय अपने प्राय अन्य वर्णों को वेद व शास्त्र का पढ़ाना बन्द कर दिया। इस हेतु से जो कोई सत्पुरुष के सत्संग व साधन और उपासना से कुछ ज्ञान लाभ किया और लोक में प्रतिष्ठित व महात्मा प्रसिद्ध हुये वह वेद व शास्त्र के यथार्थ आशय को न जानकर अपनी बुद्धि के अनुसार जो उनको उत्तम विदित हुआ वैसा उपदेश किया और अपनी देशभाषा में ग्रंथ भी बनाया जिसको उनके शिष्य और मतानुयायी सब वेद और शास्त्रों का सारांश प्रत्युत सब से उत्तम होना स्वीकार किया। और वह अपनी प्रसिद्धि के लिये अपने नाम से नया पंथ भी जारी किया। इस प्रकार से अनेक पंथ प्रचरित हो गये और अभी होते जाते हैं।

इन अनेक पंथों के प्रचरित होने का यह फल प्राप्त हुआ है कि एक मत वा पंथवाला प्राय दूसरे मतवाले को न्यून और अपने से विरुद्ध समझता है जिन में कुछ अधिक भेद नहीं है उनमें भी किसी अंश में कुछ भेद होता है।

बहुत मतवाले अन्य के मत की निन्दा करके लड़ते हैं परस्पर दुर्वाक्य कहते हैं इत्यादि अनर्थों का कारण मिथ्याज्ञान होने से उसके निवारण के लिये आप्त वाक्यों के प्रमाण से तत्व वस्तु के निर्णय के अर्थ इस ग्रंथ को निर्मित करता हूं।

किसी मत का पक्ष करने से तत्व का निर्णय नहीं हो सकता इससे किसी मत का पक्ष ग्रहण न करके केवल वेद शास्त्र व ऋषिवाक्यों के प्रमाण से व विचार से जो सत्य निश्चित होता है वह इस ग्रंथ में विज्ञापित किया जाता है (जनायाजाता है) जिससे विचारवान् पुरुष तत्व को निश्चय करके उसके विरुद्ध कथन व व्यवहार को असत् जानकर त्याग करें जो सत् प्रतीत हो उसको ग्रहण कर अर्थात् अपने माने हुये भी असत् को त्याग व पर के माने हुये सत् को ग्रहण कर जिस से परस्पर का विरोध दूर हो जाय परस्पर सुहृद्भावसे वर्तें और धर्म की वृद्धि और देशकी उन्नति होने के प्रयत्न करने में प्रवृत्त हों सत्य के निश्चित होने में पक्ष को त्याग कर सत्य को ग्रहण कर।

अब जो अनेक पंथ प्रचरित हैं और उनके माननेवाले केवल अपने मतप्रवर्तक करनेवाले आचार्य या गुरू के बनाये हुये ग्रंथ ही पर विश्वास करते हैं वेद शास्त्र को नहीं जानते वह कोई पक्ष वेद के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने का ग्रहण नहीं कर सकते और न जान सकते हैं।

संस्कृतवाणी और उपनिषदों के ज्ञाता थी स्वामी रामानुज व माध्वाचार्य आदि चार सम्प्रदायों के आचार्य हुये हैं उनमें से वेदान्त सूत्रों पर अर्थात् व्यास कृत शारीरिक सूत्रों पर जो रामानुज स्वामी ने भाष्य किया है वह उक्त सूत्रोंपर जो वैष्णव सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने भाष्य किया है उनमें उत्तम है परन्तु इन सम्प्रदायवालों में और अन्य पंथवालों में वेद व शास्त्र विषयक विचार नहीं होता क्योंकि यद्यपि रामानुज स्वामी के सम्प्रदायवालों में कोई कोई पण्डित होते हैं परन्तु बहुत कम अन्य वैष्णव प्राय भाषामात्र के जाननेवाले विद्या से विमुख अज्ञान ही पाये जाते हैं।

जो सहस्रों में कोई कुछ पढा हुआ भी होता है तो वह यथार्थ विद्वान् नहीं होता इससे वैष्णवों और अन्य अनेक पंथवालों में शास्त्र विषयक विचार बहुत ही कम होता है परन्तु अपने अपने मत के उत्तम प्रतिपादन करने में प्राय झगडा और विरोध हुआ करता है जिसका कारण सिवाय अज्ञान के और कुछ ज्ञात नहीं होता अनेक पंथों वा मतों के जारी होने से परस्पर के विरोध के सिवाय धर्म या उपासना वा तत्वज्ञान की उन्नति होने में कुछ लाभ नहीं है। जिसने अपना एक नया पंथ जारी किया है उसने अपना नाम प्रसिद्ध होने के लिये जारी किया है।

पंथवाले छाप व तिलक और विशेष चिन्ह जो भिन्न भिन्न पंथों के हैं उन को भगवान का बाना कहते हैं यह कहना और ऐसा मानना केवल मूर्खता है। क्योंकि सतयुग आदि युग और लाखों वर्ष अब तक व्यतीत होगये कोई इस प्रकार के पंथों का बाना नहीं रहा परन्तु बडे बडे ऋषि मुनि सिद्ध और महात्मा हुये हैं अब कलियुग ही में थोडे काल से भगवान के अनेक बाने प्रकट हुये हैं इसमें भी यह निश्चय नहीं होता कि कौन बाना भगवान का सबसे अच्छा और प्रिय है क्योंकि प्रत्येक पंथवाला अपने ही पंथ के चिन्ह या बाना को अच्छा कहेगा इससे भगवान का बाना कहना सर्वथा मिथ्या है केवल पंथ जारी करनेवाले का बाना या चिन्ह है जैसे कबीरदासी नानकशाही रामानन्दी चरणदास आदि पंथों के चिह्न से कबीरदास नानकशाह रामानन्द चरणदास आदि का नाम प्रसिद्ध होता है।

नाम की प्रसिद्ध चाहना रजोगुण का धर्म है इससे यह विदित होता है कि पंथ जारी करनेवाले रजोगुण आसक्त थे यथार्थ सत्वगुणको प्राप्त नहीं हुये जो इनकी ऐसी मति ऋषि मुनियों की होती तो वे भी अपना पंथ जारी करते परंतु किसी ऋषि व मुनि का चलाया हुआ एक भी पंथ पाया नहीं जाता वसिष्ठ, भृगु, याज्ञवल्क्य अत्रि, वाल्मीकि, नारद, भारद्वाज व्यास और जैमिनि आदि के पन्थवाले कोई देखने में नहीं आते।

ऋषि मुनि महर्षियों ने वेद उपनिषद और योग शास्त्र के उपदेश के अनुसार एक परमात्मा की उपासना करना और वेदोक्त विधि से कर्म करना सब के और सदा के लिये पर्य्याप्त (काफी) समझकर किसी ने नया पन्थ (मार्ग)

जारी नहीं किया चार आश्रम जो ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक थे वे ईश्वरीय नियम के अनुकूल अवस्था अनुसार सब के लिये उपयोगी व युक्त महर्षियों से नियत किये गये थे और अब भी सब के लिये उत्तम फलदायक हैं। किसी एक के प्रचारित किये हुये पन्थ के लिये न थे और न अभी हैं इससे अनेक पन्थों का मान्ना अयुक्त और ऋषियों की सम्मति के विरुद्ध है मन्तव्य नहीं हैं।

योगदर्शन और उपनिषदों में जो उपासना की विधि वर्णित है उस प्रकार से उपासना करना चाहिये और जो कोई महात्मा उपनिषद् के आशय के अनुसार कोई उपासना की सरल विधि अपने अनुभव से उपदेश करे उसके अनुसार प्रवृत्त होना चाहिये नये नाम से नये पथ जारी करने की आवश्यकता नहीं है।

एक ही परमात्मा की उपासना में अवस्था भेद और योग्यता के अनुसार जो उपासना विधि में कुछ भेद भी हो तो वह एकही समझना चाहिये विचार से सब के लिये एक ही परमात्मा मुख्य उपास्य और एकही धर्म मार्ग पाया जाता है भेद केवल मनुष्यों की समझ और उनके आचरण का है वास्तविक नहीं है जैसा कि मनु जी के वर्णन किये हुये धर्म के लक्षण से निश्चित होता है मनुजी ने धर्म का यह लक्षण वर्णन किया है —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

मनुस्मृति अध्याय ६। श्लोक ९२।

अर्थ—(१) धृति (धैर्य्य) बिना धैर्य्य अर्थात् चित्त में दृढता धारण करने के किसी साधन को थोड़े ही विघ्न होने में अथवा आलस्य वश हो त्याग देने में लौकिक वा पारलौकिक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता इससे धैर्य का धारण करना आवश्यक है अथवा धृति शब्द का अर्थ संतोष ग्रहण किया जाता है तृष्णा जो मन की चंचलता का हेतु है चित्त की एकाग्रता और और उपासना में विघ्न करनेवाली है उसको त्यागकर सन्तोष को धारण करना।

(२) क्षमा-अर्थात् जो कोई अपनी हानि करे उसको सहना उसपर क्रोध न करना उसको दण्ड न देना।

(३) दम-अर्थात् मन की कुवृत्तियां जो अधर्म की अभिलाषा की होती हैं धर्म में बाधा करती हैं उनसे निवृत्त करके मन को शान्त करना क्योंकि मन में कुवृत्तिया उत्पन्न होने से मन चंचल होता है अनेक अनर्थों की ओर दौड़ता है इससे मनको रोककर अपने वश करना।

(४) अस्तेय (चोरीन करना) जैसे कोई अपनी वस्तु ले लेता है तो अपने को दुःख होता है ऐसे ही दूसरे को होगा ऐसा विचार कर दूसरे की वस्तु को चुराकर उसकी हानि न करना।

(५) शौच (पवित्रता) स्नान आदि से मल को दूर कर शरीर को अनुचित मनकी वृत्तियाँ रूप मल को दूर कर मन को शुद्ध करना।

(६) इन्द्रियनिग्रह अर्थात् नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंको रूप आदि विषयों में आसक्त होने और मन को अनुचित विषय सुख में प्रवृत्त होने से रोकना।

(७) धी (विवेककी बुद्धि) अर्थात् विचार से सत् व असत् को जानना।

(८) विद्या अर्थात् विवेक द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त करना मिथ्या ज्ञान को निवृत्त करना।

(९) सत्य (सत्य बोलना सत्य को मानना) सत्य धर्मके सर्व लक्षणों में श्रेष्ठ है क्योंकि जितना अधर्म आचरण है उस सबका मूल असत्यहै अधम आचरण करनेवाला अपने कुयश व दण्ड होने के भय से अवश्य असत्य कहता है अधर्म को छिपाता है सत्य को धारण करने से कोई अधर्म आचरण नहीं कर सकता और न सत्यरूप परमात्मा को प्राप्त करने योग्य होता है बिना सत्यमत हुये सत्य नहीं मिल सकता इससे सत्य को धारण करना।

(१०) अक्रोध (क्रोध रहित होना) क्रोध से मन में अशान्ति होती है और अनेक प्रकार के अनर्थ होते हैं इससे क्रोध को त्याग करना।

यद्यपि दम में क्रोध न करना भी आजाता है तथापि क्रोध के शीघ्र प्रकट होने और विघ्न करने में प्रबल होने से इसको पृथक् वर्णन किया है।

इन धृति आदि को धर्म के लक्षण इस हेतु से कहा है कि बिना इन लक्षणों के प्राप्त हुये अधर्माचरण, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने और दुःख की निवृत्ति और परमार्थ का साधन, आत्मज्ञान व परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जो ये धर्म के लक्षण किसी मतवाले से पूंछे जाँयतौ सब के मत से यथार्थ व उत्तम होना पाये जाँयगे सब मतवाले स्वीकार करेंगे।

चोरी करना व्यभिचार करना छल कपट आदि दुराचरणों को सब मतके धार्मिक विद्वान अनुचित कहेंगे।

नास्तिक को छोड़कर परमेश्वर को भी सब मतवाले किसी नाम व भाव से मानते हैं और उसकी उपासना करते हैं जब एक परमेश्वर को सब मानते हैं और उत्तम गुण कर्मों को उत्तम और निकृष्ट को निकृष्ट सब मानते हैं तो तत्वरूपसे दो मत का होना निश्चित नहीं होता इससे सब को चाहिये कि सब के साथ चाहे वह किसी मत किसी वर्ण किसी देश का वासी हो उसके साथ सभ्यता से मित्र के समान व्यवहार करें यदि वह द्वेषकरे तौ उसके साथ द्वेष न करके उससे कुछ प्रयोजन न रक्खें यद्यपि उक्त प्रकार से वास्तविक अनेक मतका होना सिद्ध नहीं होता परन्तु अज्ञानता व बुद्धि भेद से अनेक मत हो गये हैं और परस्पर का विरोध हो गया है अधिकतर अनेक मतका होना परस्पर विरोध होना भिन्न २ इष्ट देवताओं के मानने और अपने २ इष्ट को श्रेष्ठ और अन्य के इष्ट देव को न्यून मानने से हुआ है यदि किसी नाम से व किसी द्वारा को अव-

जारी नहीं किया चार आश्रम जो ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक थे वे ईश्वरीय नियम के अनुकूल अवस्था अनुसार सब के लिये उपयोगी व युक्त महर्षियों से नियत किये गये थे और अब भी सब के लिये उत्तम फलदायक हैं। किसी एक के प्रचारित किये हुये पन्थ के लिये न थे और न अभी हैं इससे अनेक पन्थों का मानना अयुक्त और ऋषियों की सम्मति के विरुद्ध है मन्तव्य नहीं हैं।

योगदर्शन और उपनिषदों में जो उपासना की विधि वर्णित है उस प्रकार से उपासना करना चाहिये और जो कोई महात्मा उपनिषद् के आशय के अनुसार कोई उपासना की सरल विधि अपने अनुभव से उपदेश करे उसके अनुसार प्रवृत्त होना चाहिये नये नाम से नये पथ जारी करने की आवश्यकता नहीं है।

एक ही परमात्मा की उपासना में अवस्था भेद और योग्यता के अनुसार जो उपासना विधि में कुछ भेद भी हो तो वह एकही समझना चाहिये विचार से सब के लिये एक ही परमात्मा मुख्य उपास्य और एकही धर्म मार्ग पाया जाता है भेद केवल मनुष्यों की समझ और उनके आचरण का है वास्तविक नहीं है जैसा कि मनु जी के वर्णन किये हुये धर्म के लक्षण से निश्चित होता है मनुजी ने धर्म का यह लक्षण वर्णन किया है —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥

मनुस्मृति अध्याय १०। श्लोक ६२।

अर्थ—(१) धृति (धैर्य्य) विना धैर्य्य अर्थात् चित्त में दृढ़ता धारण करने के किसी साधन को थोड़े ही विघ्न होने में अथवा आलस्य वश हो त्याग देने में लौकिक वा पारलौकिक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता इससे धैर्य का धारण करना आवश्यक है अथवा धृति शब्द का अर्थ सतोष ग्रहण किया जाता है तृष्णा जो मन की चचलता का हेतु है चित्त को एकाग्रता और और उपासना में विघ्न करनेवाली है उसको त्यागकर सन्तोष को धारण करना।

(२) क्षमा-अर्थात् जो कोई अपनी हानि करे उसको सहना उसपर क्रोध न करना उसको दण्ड न देना।

(३) दम-अर्थात् मन की कुवृत्तिया जो अधर्म की अभिलाषा की होती हैं धर्म में बाधा करती हैं उनसे निवृत्त करके मन को शान्त करना क्योंकि मन में कुवृत्तियां उत्पन्न होने से मन चचल होता है अनेक अनर्थो की ओर दौड़ता है इससे मनको रोककर अपने वश करना।

(४) अस्तेय (चोरी न करना) जैसे कोई अपनी वस्तु ले लेता है तो अपने को दुःख होता है ऐसे ही दूसरे को होगा ऐसा विचार कर दूसरे की वस्तु को चुराकर उसकी हानि न करना।

(५) शौच (पवित्रता) स्नान आदि से मल को दूर कर शरीर को अनुचित मनकी वृत्तियों रूप मल को दूर कर मन को शुद्ध करना।

(६) इन्द्रियनिग्रह अर्थात् नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंको रूप आदि विषयों में आसक्त होने और मन को अनुचित विषय सुख में प्रवृत्त होने से रोकना।

(७) धी (विवेककी बुद्धि) अर्थात् विचार से सत् व असत् को जानना।

(८) विद्या अर्थात् विवेक द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त करना मिथ्या ज्ञान को निवृत्त करना।

(९) सत्य (सत्य बोलना सत्य को मानना) सत्य धर्मके सर्व लक्षणों में श्रेष्ठ है क्योंकि जितना अधर्म आचरण है उस सबका मूल असत्यहै अधम आचरण करनेवाला अपने कुयश व दण्ड होने के भय से अवश्य असत्य कहता है अधर्म को छिपाता है सत्य को धारण करने से कोई अधर्म आचरण नहीं कर सकता और न सत्यरूप परमात्मा को प्राप्त करने योग्य होता है बिना सत्यमस्त हुये सत्य नहीं मिल सकता इससे सत्य को धारण करना।

(१०) अक्रोध (क्रोध रहित होना) क्रोध से मन में अशान्ति होती है और अनेक प्रकार के अनर्थ होते है इससे क्रोध को त्याग करना।

यद्यपि दम में क्रोध न करना भी आजाता है तथापि क्रोध के शीघ्र प्रकट होने और विघ्न करने में प्रबल होने से इसको पृथक् वर्णन किया है।

इन धृति आदि को धर्म के लक्षण इस हेतु से कहा है कि बिना इन लक्षणों के प्राप्त हुये अधर्माचरण, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने और दुःख की निवृत्ति और परमार्थ का साधन, आत्मज्ञान व परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

जो ये धर्म के लक्षण किसी मतवाले से पूँछे जाँयतो सब के मत से यथार्थ व उत्तम होना पाये जाँयगे सब मतवाले स्वीकार करेंगे।

चोरी करना व्यभिचार करना छल कपट आदि दुराचरणों को सब मतके धार्मिक विद्वान अनुचित कहेंगे।

नास्तिक को छोड़कर परमेश्वर को भी सब मतवाले किसी नाम व भाव से मानते हैं और उसकी उपासना करते है जब एक परमेश्वर को सब मानते है और उत्तम गुण कर्मों को उत्तम और निकृष्ट को निकृष्ट सब मानते है तो तत्वरूपसे दो मत का होना निश्चित नहीं होता इससे सब को चाहिये कि सब के साथ चाहै वह किसी मत किसी वर्ण किसी देश का वासी हो उसके साथ सभ्यता से मित्र के समान व्यवहार करें यदि वह द्वेषकरे तो उसके साथ द्वेष न करके उससे कुछ प्रयोजन न रक्खें यद्यपि उक्त प्रकार से वास्तविक अनेक मतका होना सिद्ध नहीं होता परन्तु अज्ञानता व बुद्धि भेद से अनेक मत हो गये है और परस्पर का विरोध हो गया है अधिकतर अनेक मतका होना परस्पर विरोध होना भिन्न २ इष्ट देवताओं के मानने और अपने २ इष्ट को श्रेष्ठ और अन्य के इष्ट देव को न्यून मानने से हुआ है यदि किसी नाम से व किसी द्वारा को अव

ध्ययन करके कोई परमेश्वर की उपासना करता है तो यह समझकर कि उसका उपास्य देवता एक परमात्मा ही है परस्पर का विरोध और भेद, बुद्धिमान विद्वान् सत्पुरुष को त्याग करना चाहिये।

अब इस देशवासियों के विद्या व विचार रहित हो जाने के समय में जो स्वार्थसाधकों ने अपने कल्पित ग्रंथ बनाये हैं और इच्छा अनुसार अनेक विषयों में असत्य लेख करके और उसमें सद्ग्रन्थों को मिथ्या प्रमाण वर्णन करके और प्रमाण्य ग्रंथों में अपना लेख मिलाकर मिथ्या बातों को प्रचरित कर दिया है इस प्रकार से जो अनेक मत श्रुति स्मृति विरुद्ध संस्कार अयुक्त व्यवहार अनुचित आचार संयुक्त वर्तमान समय में प्रचरित हैं उनमें कौन कौन विषय अयुक्त और विमार्जनीय हैं और कौन सत्य हैं और कौन ग्रंथ व मत सर्वांश (सम्पूर्ण) सत्य और कौन सत्य असत्य संयुक्त है और जो मत सम्बन्धी अन्य विषय हैं उनमें से प्रत्येक विचरणीय विषय की पृथक पृथक समीक्षा की जाती है।

इतितत्वमार्तण्डेपण्डितप्रभुदयालुनिर्मितेग्रंथनिर्माण हेतुवर्णनेप्रथमोध्यायः ॥१॥

अथ अनेक मतों के साध्य ग्रंथों और उन से वर्णित मतों के तत्व निर्णय का विषय

वर्तमान समय में इस आर्य्यावर्त देश में मुसलमान अंगरेज पारसी आदि विदेशी जो भिन्न भिन्न मतवाले हैं तो वह देशान्तर के रहने वाले भाषान्तर के बोलनेवाले हैं इस देश वालों से कुछ सम्बन्ध नहीं था अब थोड़े काल से इस देश में आये हैं उनके मतभेद होने में कोई अयोग्यता नहीं है परन्तु शोक व आश्चर्य यह है कि इस आर्यावर्त के निवासी जो एक ही श्रुति व स्मृति व शास्त्र के मानने वाले हैं उनहीं में अविद्या व मतिभेद के कारण से अनेक पंथ और अनेक मत हो गये हैं कोई कोई मत वाले जैसा स्वार्थ साधक लोगों ने अपने स्वार्थ साधन के लिये असत्य बातों को वेद व शास्त्र के अनुसार होना प्रसिद्ध किया है उनको सत्य मान कर वेद शास्त्रों को बिना जाने हुये वेद शास्त्रों में मिथ्या दोषारोपण करते हैं और उनमें अपनी अश्रद्धा प्रकट करते हैं।

जैसे वैदिकधर्म के मानने वाले वेद को ईश्वर वाक्य कहते हैं ऐसेही मुसलमान अपने कुरान नामक ग्रंथ को अंगरेज अपने बायबिल वा इंजील नामक ग्रंथ को अपनी भाषा में ईश्वरवाक्य कहते हैं और आर्य्यादेश निवासी मतान्तरावलम्बी अपने मत प्रचारक गुरु के बनाये हुये ग्रंथ को व उनकी वाणी को वेद व शास्त्र का साराश और कोई कोई वेद व शास्त्र से श्रेष्ठ मानते हैं।

मुसलमान मुहम्मद साहिब जो उनके मतके प्रचारक हुये हैं उनके लिये यह कहते हैं कि परमेश्वर ने यह जान करके कि सब मनुष्य अज्ञान से सच्चे धर्म मार्ग से भ्रष्ट भटके हुये हैं अपने सुहृद मोहम्मद साहब को सत्य धर्म बताने के लिये संसार में भेजा उन्होंने संसार में आकर मनुष्यों को सच्चा धर्म बताया। परमेश्वर ने कुरान नामक धर्मोपदेश का ग्रन्थ मोहम्मद साहब के पास भेजा उसके अनुसार मोहम्मद साहब ने धर्म का उपदेश किया कुरान ईश्वर, वाणी है मोहम्मद साहेब के द्वारा प्राप्त हुआ है। जो मोहम्मद साहेब के मत को जो ईश्वर का बताया हुआ सत्य धर्म का मार्ग है ग्रहण करेगा वही स्वर्ग को प्राप्त होगा उस पर परमेश्वर प्रसन्न होगा और जो उनके मत को ग्रहण न करेगा उस पर परमेश्वर प्रसन्न न होगा वह नरक में पतित होगा। अंगरेज लोग हजरत ईसा को जो उनके मत के स्थापक व प्रचारक हुये हैं ईश्वर का पुत्र कहते हैं और अपने वायबिल वा इनजील नामक धर्म पुस्तक को ईश्वर वचन वा ईश्वर वाणी कहते हैं और यह कहते हैं कि जो हजरत ईसा को और उनके मत को न मानेगा वह नरक में पतित होगा बिना ईसा के मत के ग्रहण किये मनुष्य ईश्वर को प्राप्त नहीं हो सक्ता न स्वर्ग सुख का अधिकारी होसक्ता है क्योंकि सच्चा मत यही है। आर्य्यावर्त में अनेक मत प्रचरित हुये हैं प्रत्येक मतवाला अपने मत को उत्तम समझता है अपने मत प्रचारक आचार्य को ईश्वर का अवतार या ईश्वर रूप वर्णन करता है।

अभी वर्तमान समय में एक राधास्वामी मत प्रचरित हुआ है जिसको शिवदयाल सिंह जी खत्री व राय शालिगराम जी कायस्थ आगरा निवासी ने जारी किया है इसका संक्षेप वृत्तान्त यह है कि शिवदयाल सिंह जी जाति के खत्री नानकशाह साहब के पंथ के थे और इनके दो भाई और थे एक राय वृन्दावन और दूसरे प्रताप। सिंह, राय वृन्दावन जी से और हम से लखनऊ में सत्संग हुआ था कई बार धर्म व मत विषय में भी वार्ता हुई थी तब उनके मत व पंथ का वृत्तान्त ज्ञात हुआ था वृन्दावन जी ने भी अपना पंथ जारी किया था उसका प्रचार विशेष नहीं हुआ और एक ग्रंथ बहार वृन्दावन नामक बनाया है जिसमें बहुत उपदेश उत्तम लिखे हैं परन्तु जो शास्त्रों के मत के विषय में लिखा है उसमें इस कारण से कि वह आर्य शास्त्रों को नहीं जानते थे जैसा किसी भाषा ग्रंथ में लिखा देखा और किसी से पूछने व सुनने से ज्ञात हुआ है लिख दिया है इससे कोई कोई लेख असत्य भी है। शिवदयाल सिंह जी ने अनाहत* शब्द के ध्यान में जो एक योग का अंग है विशेष अभ्यास करके उसमें आनन्द प्राप्त करके उसके ध्यान का उपदेश अपने शिष्यों को किया उनके मुख्य श्रेष्ठ शिष्य राय शालिग राम कायस्थ आगरा निवासी थे उन्होंने इस मत को राधा स्वामी पंथ के नाम से जारी किया और अपने गुरू के नाम शिवदयाल सिंह के स्थान में राधास्वामी यह नाम स्थापन किया है और अपनी कल्पना से राधाशब्द से

---

* इस के शुद्ध शब्द का ज्ञान न होने से बहुत लोग आहद शब्द कहते हैं।

सुरति और स्वामी शब्द से शब्द का अर्थ समझाने का संकेत किया है अर्थात् राधास्वामी का अर्थ सुरति शब्द रक्खा है।

अनाहत शब्द में सुरति अर्थात् चित्त को एकाग्र करके शब्दका ध्यान करते हैं इससे राधास्वामी शब्द का ऐसा अर्थ समझाने का संकेत कर लिया है इस पन्थवाले भी अपने आदि सतगुरु उक्त राधास्वामी को मालिक कुल अर्थात परमेश्वर का रूप मानते हैं और यह कहते हैं कि ऐसा सच्चा व सीधा मुक्ति का रास्ता (मार्ग) किसी सिद्ध व महात्मा ने अब तक नहीं बतलाया जैसा राधा स्वामी सतगुरुदयाल ने बतलाया है।

जितने सिद्ध महात्मा और शिव, ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्ण आदि हुये हैं उस पद को नहीं पहुंचे जहाँ राधास्वामी हमारे सतगुरुदयाल पहुंचे हैं।

इस मत के ग्रन्थों में बहुत से शब्दों के नये अर्थ अपने संकेत से नियत कर लिया है और कहीं कहीं युक्ति व हेतु के विरुद्ध वर्णन है जिसको कोई बुद्धिमान व विचारवान स्वीकार नहीं कर सकता।

इस पन्थवाले अपने ग्रन्थों को दूसरे मतवालों को नहीं दिखाते।

यह भी सुना जाता है कि अब जो अयुक्त लेख ग्रन्थोंमें पाते हैं उसको दुरुस्त (ठीक) करते जाते हैं परन्तु इस सुने हुये को निश्चित नहीं कह सकते।

अब यह विचारणीय है कि जब अनेक मतवाले अपने मत के मूलग्रन्थ को ईश्वरवाक्य वा ईश्वरवाणी मानते हैं तब सब के ग्रन्थ ईश्वरवाक्य हैं अथवा उनमें से एकही ईश्वरवाक्य है और सब नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं और एकही मन्तव्य है तो क्यों मन्तव्य है इस विषय की समीक्षा इस प्रकार से की जाती है कि इस देश के ग्रन्थों से और अन्य देश के विद्वानों के लिखे हुये ग्रन्थों से यह निश्चित होता है और निश्चित है कि सब से पुरातन ग्रन्थ वेद हैं और सब से पुराना वैदिक धर्म वा मत है।

ईसाई मत १६१३ वर्ष से और मुसलमानों का मत १३३२ वर्ष से है।

वैदिक मत के सिवाय आर्य्यावर्त में जितने अन्य मत सम्प्रदाय व पाने प्रचरित हुये हैं वह सब तीन हजार वर्ष के इधरही हुये हैं यह ज्ञात होता है।

बुद्ध जी जिनसे बौद्ध मत चला है उनको हुये २५०० वर्ष हुये फिर अन्य अन्य अनेक मत हुये हैं कोई कोई मत बुद्धसे कुछ पहिले भी होना अनुमान किये जाते हैं इस प्रकारसे तीन हजार वर्ष से अनेक पन्थों वा मतों का जारी होना विदित होता है सृष्टि को हुये लाखों वर्ष व्यतीत होगये इस कल्प में जब से सृष्टि हुई तब से १२०५३३०१४ वर्ष व्यतीत हुये हैं क्योंकि १७२८००० सतयुग के १२९६००० त्रेता के ८६४००० द्वापर के ४३२००० कलियुग के जोडनेसे ४३२०००० वर्ष एक चतुर्युगी में व्यतीत होते हैं और २००० चतुर्युगियों का एक अहोरात्र होता है ऐसे ३० अहोरात्रों का एक मास ऐसे १२ मासों का एक वर्ष ऐसे सो वर्षों का परान्तकाल होता है तब महाप्रलय होता है इस कल्प में सृष्टि होने के समय से अब २८ वीं चतुर्युगी व्यतीत होरही है २८ वीं चतुर्युगी

में इस वर्तमान वर्ष १६३० विक्रमादित्य के सम्वत् में ४२६६८६ वर्ष कलियुग के व्यतीत होने को शेष हैं २८ चतुर्युगी में से इतने वर्ष निकाल देने से इस वर्तमान वर्ष तक १२०५३३०१४ वर्ष गत हुये हैं और इसी चतुर्युगी में जो गत हो रही है जिसमें अभी कलियुग के ५०१४ वर्ष गत हुये हैं कृतयुग की आदि से अब तक ३८६३०१४ वर्ष व्यतीत होगये हैं ऐसा आप्तनिर्मित ज्योतिष ग्रन्थों से सिद्ध होता है।

अब सत्यप्रिय पक्षपात रहित विद्वान् सज्जन विचार से यह निश्चय कर सके हैं कि जो कोई धार्मिक न्यायकारी राजा या महाराजा राज्याधिकार को प्राप्त होता है वह अपने राज्य में प्रजाओं के उत्तम प्रबन्ध व न्याय के लिये धर्म व राजनीति के नियम सम्बन्धी ग्रन्थ या ग्रंथों को निर्मित करता है। और उनके प्रचार होने और उनके अनुसार शिक्षा होने व प्रवृत्त होने की आज्ञा देता है। विश्वासस्पद योग्य धार्मिकों को न्यायाधीश नियत करता है अन्यथा सम्पूर्ण देश में अविद्या अधर्म की वृद्धि होने और दुराचारियों के निर्भय आचरण से व्यभिचार हत्या चोरी आदि अनेक दुष्टकर्मों की वृद्धिहोती है प्रजाओं को नाना प्रकार के क्लेश प्राप्त होते हैं इससे कोई देशाधिपति ऐसा नहीं कर सका कि सम्पूर्ण देश पर अधिकार लेकर बिना राजनीति व धर्म के नियम स्थापन किये अपने राज्य में अधर्म व अन्याय बहुत दीर्घ काल तक होने देवे उनके पीछे अपने नियमों को स्थापन करके उनका उपदेश करे और उत्तम मार्ग विज्ञापन के लिये किसी उपदेशक को नियत करे जब ऐसा कोई देशाधीश व नरेश नहीं कर सका तो यह कैसे सम्भव है कि सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् सर्वाधिपति सर्व न्यायकारी समदृष्टा परमात्मा ने लाखों वर्ष से अधिक काल व्यतीत होने तक अपने उत्पन्न किये हुये अपने अधीन अज्ञान जनों के लिये कोई धर्म का उपदेश नहीं किया, न उत्तम मार्ग बताया। अब बहुत दीर्घ काल व्यतीत होनेके पीछे तीन हजार वर्षसे भी जो न्यून (कम) होना अनुमित होता है उस समय से उत्तम उपदेश करने का विचार करके उपदेशक को भेज कर उपदेश करने का आरम्भ किया जैसा कि अगरेज व मुसलमान अपने मतके विषय में हजरत ईसा और मुहम्मद साहब के द्वारा ईश्वर का उपदेश करना वर्णन करते हैं।

ऐसा, विचार से विरुद्ध होने से असत्य होना प्रतीत होता है इससे मन्तव्य नहीं है। कोई कोई इतिहास लिखनेवाले अंगरेज चार ही पांच हजार वर्ष से सृष्टि व वेद आदि के होनेको वर्णन करते हैं यद्यपि यह कथन सर्वथा असत्य है परन्तु चार पांच ही हजार वर्ष से सृष्टि का होना मान लिया जाय तो भी हजरत ईसा और मोहम्मद साहब से तीन हजार या दो हजार से अधिक वर्ष पहिले उत्पन्न मनुष्यों को बिना सत्य धर्म के उपदेश व सत्य मार्ग बताये अज्ञानी रखने में भी उक्त दोषमें भेद नहीं होता अयुक्त व असत्यही होना सिद्ध होता है।

इसके सिवाय यह भी एक असत्य होने का हेतु है कि अगरेजऔर मुसल

मान हजरत ईसा और मोहम्मद साहब के समान इनसे पहिले और भी पैगम्बरों का (परमेश्वर के भेजे हुये उपदेशकों का) उत्पन्न होना मानते हैं उनमें से जैसे उक्त दो ग्रन्थों को परमेश्वर ने हजरत ईसा और मोहम्मद साहब के लिये भेजा है ऐसे ही जो इनसे पहिले दाऊद और मूसा नामक पैगम्बर हुये हैं उनके लिये भी परमेश्वर ने दो धर्म पुस्तकों को भेजा था हजरत दाऊद के लिये जबूर नामक ग्रन्थ और हजरत मूसा के लिये तौरेत।

इन ग्रन्थों के विषय में एक मुसलमान विद्वान् ने जो शेख सादी नाम से प्रसिद्ध हैं अपनी किताब (पुस्तक बोस्ता) में यह लिखा है कि जब मोहम्मद साहब ने परमेश्वर के भेजे हुये ग्रन्थ कुरान का उपदेश किया तब पहिले भेजे हुये ग्रन्थ तौरेत और इञ्जील को निरस्त (रद्द) कर दिया * केवल कुरान को सत्य रक्खा और मुसलमान यह भी कहते हैं कि अब मोहम्मद साहब से श्रेष्ठ किसी पैगम्बर को परमेश्वर उत्पन्न न करेगा यह अन्तिम (अन्त के) पैगम्बर हैं।

उक्त शेख सादी के लेख के विषय में मैंने एक समय में लखनऊ में एक सभ्य विद्वान् मुसलमान महाशयों की सभा में यह प्रश्न किया था कि शेख सादी साहेब आपके यहाँ के विद्वान् श्रेष्ठ कवि ने जो यह लिखा है कि तौरेत और इञ्जील ग्रन्थों को मोहम्मद साहब ने रद्द करदिया। इसमें दो प्रकार की शङ्का उत्पन्न होती है आशा है कि आप महाशय उनका समाधान करेंगे। एक तो यह कि त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ परमेश्वर को एकही निर्दोष सत्य उत्तम उपदेश का ग्रन्थ प्रकट करना चाहिये था अन्य अन्य पैगम्बर के लिये समय समय पर उपदेश के लिये ग्रन्थान्तर भेजने में परमेश्वर में प्रमाद व बुद्धि भ्रम होने का दोष प्राप्त होता है कि मनुष्यों के समान प्रमाद से अयुक्त लिख कर फिर अनुचित ज्ञात होने पर उस दोष को दूर करने के लिये दूसरा ग्रन्थ भेजा इस प्रकार से चार ग्रन्थों को भेजा है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे कोई सेवक या सम्बन्धी विशेष अधिकार को पाकर व कृपापात्र होने पर भी स्वामी की आज्ञा का पालन करनेवालाही हो सकता है उसकी आज्ञा को नष्ट (रद्द) करनेवाला व स्वामी से श्रेष्ठ नहीं हो सकता इसी प्रकार से जब तौरेत इञ्जील भी परमेश्वर के भेजे हुये ग्रन्थ थे तो जो उपदेश उनमें था मोहम्मद साहब उसके माननेवाले हो सकते थे उन ग्रन्थों के रद्द करनेवाले नहीं अर्थात् नष्ट या निर्मूल करदेने का अधिकार मोहम्मद साहब को नहीं था कैसे उनको रद्द करदिया।

इन दोनों प्रश्नों सभासदों में से किसी ने उत्तर नहीं दिया।

विचार कर दूसरे दिन उत्तर देने की प्रतिज्ञा की परन्तु मैं छ महीने तक रहा रहा कुछ उत्तर नहीं मिला।

---

* यह वाक्य जिसका यह अर्थ है फारसी वाणी में इस प्रकार से है कि तौरेत इञ्जील मनसूख करदे फारसी अक्षरों में भी लिखते हैं ڪرد منسوخ انجیل تورية ।

जो यह कहते हैं कि सच्चा मत वा धर्म बनाने के लिये मोहम्मद साहेब को परमेश्वर ने भेजा या हजरत ईसा को भेजा उन्होंने भटके हुओं को सत्य धर्म का उपदेश किया जो कोई उनके उपदेश वा मत को न मानेगा वह नरक में पतित होगा स्वर्ग को प्राप्त न होगा।

इसमें यह प्रश्न करने योग्य व विचार करने योग्य है कि उक्त प्रकार से लाखों वर्ष गत हुये तब परमेश्वर ने सत्य धर्म का उपदेश न किया, सब मनुष्यों को धर्म से विमुख रक्खा अब कुछ काल से मनुष्यों को सत्य धर्म बताने की इच्छा की है इसका क्या कारण है। बायबिल (इञ्जील) व कुरान भेजे जाने से पहिले कोटियों मनुष्य जो उत्पन्न हुये सत्य धर्म से रहित होने से परमेश्वर ने उन सब को नरक में पतित किया होगा तो इतने दीर्घ काल तक उन मनुष्यों पर परमेश्वर क्यों अप्रसन्न और निर्दय होकर उनको सत्य धर्म के ज्ञान से वञ्चित रखकर नरक को प्राप्त किया। और जिन पर प्रसन्न होकर उनको सत्य धर्म का उपदेश किया पहिले उनके किस आचरण से प्रसन्न हुआ यह निश्चित नहीं होता।

विना किसी हेतु विशेष के ऐसा मानना स्वीकार के योग्य नहीं हो सकता। और किसी विशेष देश वासियों व विशेष जाति व वर्ण को सत्य धर्म का उपदेश करने और अन्य को न करने से ईश्वर पर मनुष्यों के समान राग द्वेष व वैरस्य होने का महा अनुचित दोष प्राप्त होगा क्योंकि समद्रष्टा ईश्वर को समान दृष्टि से सब को उत्तम धर्म का उपदेश करना चाहिये।

और यह भी एक अयुक्त और हास्य के योग्य कथन है कि हजरत ईसा और मोहम्मद साहेब दोनों को परमेश्वर ने धर्म के उपदेश के लिये भेजा और दोनों के लिये ग्रंथ भी भेजा तब दोनों ग्रंथ परमेश्वर के एक ही समान मन्तव्य होना चाहिये। परन्तु ईसा के मतवाले यह मानते हैं कि जो हज़रत ईसा को न मानेगा उनके मत को ग्रहण न करेगा वह नरक में पतित होगा ऐसे ही मुसलमान कहते हैं कि जो मोहम्मद साहब को व उनके मत को न मानेगा वह नरक में पतित होगा इन दो में से एक का माननेवाला दूसरे के मत के अनुसार पापी व नरकगामी ठहरेगा नरक से किसी प्रकार से नहीं बच सकता। इससे दो में से एक को भी न मानना ही उत्तम सिद्ध होता है।

इस प्रकार से अयुक्त और असंभव कथन से उक्त मतों का किसी प्रकार से सत्य ईश्वरवाक्य और प्रमाण के योग्य होना सिद्ध नहीं होता।

आर्य्यावर्त निवासी भी जो अनेक मतान्तर के माननेवाले हैं उनमें से कोई यह कहते हैं कि हमारे सत् गुरु परमेश्वररूप हैं संसार के जीवों के उद्धार के लिये जगत् में आये हैं और जिस पद (दरजे) को वह पहुंचे हैं आज तक जितने सिद्ध योगी महात्मा हुये हैं कोई नहीं पहुंचे और ऐसा सरल मार्ग उपासना का जैसा उनको ज्ञात हुआ है और उन्होंने बताया है किसी को ज्ञात नहीं हुआ न किसी ने बताया।

कोई पथवाले अपने मत के ग्रन्थों को अन्य मतवाले को नहीं दिखाते और न सुनाते हैं न यह चाहते हैं कि उनके मत के ग्रथ कोई अन्य मतवाले देखें।

ऐसा कहनेवाले और ऐसे मतवालों से यह प्रश्न करने योग्य व विचारने योग्य है कि उनके आचार्य व सत्गुरु परमेश्वररूप हैं जीवों के उद्धार के लिये संसार में आये और जिसपद को वह पहुचे हैं उसको आज तक कोई योगी सिद्ध महात्मा नही पहुचे इसका निश्चय उनको कैसे हुआ—और इस प्रतिज्ञा (दावा) का प्रमाण (सबूत) क्या है।

परमेश्वर ने कोई लेख उनके पास उनके सत्गुरु रूप अपने होने का भेजा है या किसी ने परमेश्वर को उनके सत्गुरुरूप होते देखा है या किसी विश्वास योग्य जाननेवाले साक्षी से सुना है और वे अपने सत्गुरु और पूर्व में हुये सिद्ध महात्माओं के पदों के पहुचने की सीमा को जानकर और परीक्षा करके यह सिद्धान्त निश्चित हे किया कि सतगुरुके पद (दरजे) तक वे नहीं पहुँचे अथवा किसी अन्य हेतु से निश्चय किया है और जिस द्वारा से निश्चय किया हे वह क्या है विद्वान परीक्षकों के मानने योग्य हे या नहीं।

ऐसे प्रश्नके उत्तर में उक्त हेतुओं में से किसी एक को भी सिद्ध नहीं कर सकते।

यदि उनके सतगुरु ने आपही अपने लिये ऐसा कहा हो अथवा किसी ने उनके शिष्यों में से अपने सत्गुरुके लिये ऐसा कहा हो तो सत्य और मन्तव्य नहीं हो सकता क्योंकि अपनी बड़ाई व प्रशसा के लिये अपना कहना और अपने सत्गुरु की महिमा के लिये शिष्यों का कहना या लिखना अनुमान किया जाता है इनसे अन्य कोई द्वारा प्रमाण का विदित/नहीं होता इससे मन्तव्य नहीं हो सकता।

ग्रथों के छिपानेवालों के मतमें यह समझा जाता है कि उनके मतमें किसी अयुक्त और मिथ्या विषय का वर्णन है इससे छिपाते हैं कि जिससे वह दोष अन्य मतवालों को प्रकट न हो।

जैसे वाममार्गवाले भैरवी चक्र की पूजा को अनुचित दुराचरण युक्त होने से छिपाकर करते हैं अन्य मतवालो से गुप्त रखते हैं ऐसे ही कोई वस्तु छिपाई जावे तो उसमें कोई दोष का कारण होना अनुमान किया जाता है क्योंकि उत्तम निर्दोष पदार्थ को कोई नहीं छिपाता प्रत्युत उसको अवश्य प्रकट करता है सब को दिखाता हे जो सुवर्ण मुक्ता वा मुद्रा दोष युक्त होता है उसको कोई जौहरी व सराफ़ के पास जाच के लिये नहीं ले जाता गुप्त रखता हे चालाकी से उसका दोष न जाननेवाले अज्ञानी से उसकी प्रशसा करके और उसको देकर उसका मूल्य लेता है और उसका बहु मूल्य का बना देता है और जो निर्दोष सच्चा मुक्ता सुवर्ण व मुद्रा है उसको उसका रखनेवाला प्रसन्नता पूर्वक निर्भयता से देखता हैं कि जो चाहे वह देखे और जाँचे विना कोई दोष होने या द्वेष रखने के कि इस उत्तम वस्तु को इसको न बताऊ अन्य कोई हेतु छिपाने का नहीं हो सकता जो दूसरे की भलाई चाहता है वह उत्तम पदार्थ को दूसरे से नहीं छिपाता क्योंकि वह यह चाहता है कि अन्य भी उस उत्तम पदार्थ को

जानकर और प्राप्त करके उत्तम फलको प्राप्त करे इससे दोष युक्त होनसे अथवा उत्तम वस्तु का लाभ दूसरे को न हो ऐसी द्वेष बुद्धि जो धार्मिक सत्पुरुषोंको रखना अनुचित है धर्म विरुद्ध हे रखने से भिन्न कोई दूसरा हेतु सब अन्य मत वालों से छिपाने का विदित नहीं होता।

और विना कारण सब अन्य मतवाले विद्वान् सज्जनों से भी द्वेष होना सम्भव नहीं है उनसे भी छिपाने से केवल दोष ही के छिपाने के हेतु से ग्रंथों का छिपाना अनुमान किया जाता है इत्यादि उक्त दोषों से अर्थात् धर्म प्रचारक व धर्म सम्बन्धी ग्रथों के विषय में अयुक्तता हेत्वाभास राग द्वेष आदि दोष सिद्ध होनेसे कोई उक्त मतान्तर निर्दोष शुद्ध सिद्ध नहीं होते और युक्ति व हेतु विरुद्ध प्रमाण के योग्य न होनसे उक्त मतों के ग्रथोंका ईश्वरवाक्य होना निश्चित नहीं होता। सामान्यतः उक्त मतों के अयुक्त होने का वर्णन किया हे विशेषता से उक्त मतों के ग्रथों के अयुक्त वाक्यों में विस्तार पूर्वक दोष निर्दशन करके खण्डन नहीं किया विस्तार सहित उक्त मतों का खण्डन सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रथ में श्री स्वामी दयानन्द जी ने किया हे।

हमारा आशय द्वेष बुद्धि से वा पक्षपात से किसी मत के खण्डन करने का नहीं है केवल सत्य का निर्णय और सत्य का ग्रहण करना असत्य को त्याग करना इष्ट हे इससे इस लेख से हमारा यह आशय नहीं है कि अन्य मत सर्वथा असत्य और अयुक्त है।

परमात्मा का मानना उत्तम धर्म कर्ममें प्रवृत्त होना जिस जिस मत में स्वीकृत है वेसब इस अंश में भेद न होने से एक ही हे। भिन्न मानने का कारण केवल अज्ञान व द्वेष है उसका वर्णन पहिले ही किया गया है जिस जिस विषय में भेद हो उसको विचर से जो अयुक्त प्रमाण रहित हो उसको त्याग कर सत्य को ग्रहण करें तो यह भी भेद एक दूसरे का दूर हो जावे जेसे अभी अयुक्त व असत्य होने के हेतु वर्णन किये गये हे उनसे उक्तमतों में अयुक्त व असत्यके मेल होने का दोष पाया जाता है इससे सवांश में सत्य रूप मन्तव्य नहीं हे पूर्ण सत्य एक वैदिक धर्म ही निश्चित होता ह और वेद ही ईश्वर वाक्य वा ईश्वर उपदेश माना जासका है क्योंकि जो दोष उक्तमतान्तरों व उनके ग्रथों के विषय में वर्णन किये गये ह वह वेद और वेदिक मत में विदित नहीं होते आदि सृष्टि में सब उत्पन्न हुये मनुष्यों को धर्म अधर्म सब सांसारिक पदार्थ आत्मा व परमात्मा के ज्ञान प्राप्त होने के लिये व कर्म में प्रवृत्तहोनेके लिये परमात्मा ने आदि सृष्टि मे अग्नि वायु और रवि नामक तीन देवताओं वा सिद्ध पुरुष ऋषियों को उत्पन्न करके उनके हृदयों में ऋग्, यजु और सामवेदों के ज्ञान रूप प्रकाश को उदय किया उन्होंने तीन वेदों का ब्रह्मा जी से प्रकाशित किया अथवा ब्रह्मा जीने उनसे प्राप्त किया ब्रह्माजी ने उनसे प्राप्त करके अन्य ऋषि महर्षियों को उपदेश किया फिर अङ्गिरा ऋषि न चौथे अथर्ववेद को प्रकट किया इस प्रकार से चार वेद हुये चारों वेदों को प्राप्त करके उनका उपदेश सब के लिये ब्रह्मा जी ने

कियाहै मनु जी ने प्रथम अग्नि आदिसे ब्रह्मा जी ने तीन वेदों को प्राप्त किया इसको इस प्रकार से वर्णन किया है।

अग्नि वायुरविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम् दुदोह यज्ञसिद्धयर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम् ॥ मनु० अ० १ श्लो० २३ ॥

अर्थ—यज्ञ की सिद्धि के लिये ब्रह्मा जी ने अग्नि वायु और रवि से ऋग् यजु और साम तीन सनातन वेदों कोप्राप्त किया।

इन चार वेदों को परमेश्वर ने कुरान आदि चार पुस्तकों के समान कालान्तर व देशान्तर में उत्पन्न हुये किसी पुरुष देश व वर्ण विशेष के लिये नहीं भेजा ब्रह्मा जी और ऋषियों के द्वारा सब मनुष्य मात्र के लिये वेद का उपदेश किया है क्योंकि परमेश्वर के उत्पन्न किये हुये सब देश व सब वर्ण के मनुष्य उसकी दृष्टि (ज्ञान) में एकही समान हैं सम द्रष्टा परमात्मा में पक्षपात रागद्वेष होना सम्भव नहीं है वेद परमेश्वर का उपदेश रूप एकही है हेतु विशेष से चार भाग (हिस्सा) होने से चार नाम रक्खे गये हैं भिन्न भिन्न चार नाम होने का कारण यह है कि जो मन्त्र छन्द में है वे ऋचा (ऋग्) जो छन्दोबद्ध नहीं हैं गद्य हैं वह यजु और जो गाने योग्य हैं वे साम कहे जाते हैं।

ऋचाओं को एक भाग में रखकर उसको ऋग्वेद गद्य वाक्यों के भाग का यजुर्वेद गाने योग्य का सामवेद नाम रक्खा है।

अन्य हेतु भी भिन्न २ नाम होने के ये हैं कि ऋच शब्द का अर्थ स्तुति है प्रथम भाग में पदार्थ के गुणों का विशेष वर्णन है अर्थात् पदार्थों के गुणों की स्तुति व प्रशंसा है इससे उसका नाम ऋग रक्खा है।

यजु शब्द का अर्थ पूजन करना है पदार्थों के गुणों को जान कर पीछे मनुष्य उनको काम में लाता है अर्थात् सेवन करता है इससे पदार्थों के गुणों को जानकर यज्ञ करनेवाला यज्ञ योग्य पदार्थों से यज्ञ करता है। दूसरे भाग में यज्ञ द्वारा व यज्ञ रूप पूजन का विशेष वर्णन है इससे उसको यजुर्वेद कहते हैं साम शब्द षोन्तकर्मणि धातु से बनने से उसका अर्थ कर्म का अन्त अर्थात् कर्म फल का होता है तीसरे भाग में विशेषत: कर्म और उपासना के फल का वर्णन है इससे वह साम कहा जाता है।

थर्व शब्द का अर्थ वैदिक निघण्टु में संशय वर्णन किया है उसमें नञ (नहीं) अर्थ वाचक अकार लगाने से "न थर्वं संशयोऽथर्व" ऐसा अर्थ करने से अथर्व शब्द का अर्थ संशय रहित होता है उक्त तीन भागों में जो संशय होना सम्भव है उसका निवारण चौथे में वर्णन करके उसका नाम अथर्व रक्खा है इससे कुरान आदि चार ग्रन्थों के समान वेद के विषय में आक्षेप नहीं हो सकता।

यजुर्वेद के अध्याय २६ मन्त्र २ में स्पष्ट परमात्मा ने वेदवाणी के पढ़ने सुनने व कहने का अधिकार सब मनुष्यों के लिये वर्णन किया है मन्त्र यह है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यो ब्रह्मराजन्याभ्या ७ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

इत्यादि अर्थ—जैसे इस वाणी अर्थात् वेदवाणी कल्याणी (कल्याण करने वाली) अर्थात् संसार व मुक्ति के सुख की देने हारी को (जनेभ्य) सब मनुष्यों के लिये (आवदानि) मैं कहता हूं अर्थात् उपदेश करता हूं किन जनों अर्थात् मनुष्यों के लिये यह विशेषण के लिये आगे यह कहा है (ब्रह्मराजन्याभ्या) ब्राह्मण क्षत्री के लिये (शूद्राय) शूद्र के लिये (च आर्याय) और वैश्य के लिये (च स्वाय) और अपनों के लिये अर्थात् अपने भक्त मुमुक्षुओं के लिये (च अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिये वैसे ही हे विद्वानो'तुम सब के लिये ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और अपने सबन्धी भृत्य और स्त्री और अति शूद्र व नीच के लिये उपदेश करो। यथा शब्द के साथ तथा शब्द का सबन्ध होने से ऐसा अर्थ ग्रहण किया जाता है तथायूयमुपदिशतअर्थ वैसे ही तुम उपदेश करो।

इस मन्त्र में परमेश्वर ने किसी विशेष के लिये नहीं कहा न किसी से छिपाने को कहा है सब के लिये एक ही समान उपदेश करने की आज्ञा दी है।

जैसे परमेश्वर ने सूर्य चन्द्र पृथिवी आदि लोक सब के लिये उपयोगी एक ही एक बनाया है प्रत्येक देश व वर्ण के लिये भिन्न भिन्न नहीं बनाया इसी प्रकार से सम्पूर्ण मनुष्यों के लिये एक वेदवाणी का उपदेश सब के लिये कहा है।

ब्राह्मणों ने जो बीच में शूद्र स्त्री आदि के वेद पढने व सुनने का निषेध किया है यह स्वार्थ साधक ब्राह्मणों का पाखण्ड जाल है।

जहाँ झूठ अधर्म होता है वहाँ छिपाने का प्रयत्न किया ही जाता है जब अपने से कल्पित झूठ बातों को वेद में होना प्रकट किया तब अपनी असत्यता छिपाने के लिये शूद्र आदि को वेद व शास्त्र के पढने तथा उनको उनके पढाने व सुनानेका इस हेतु से निषेधकर दिया है कि जो पढेंगे तो हमारा जाल न चलेगा इस प्रकार से समदृष्टि से सब के हित के लिये आदि सृष्टि में उपदेश की गई वेदवाणी ही ईश्वरवाणी मन्तव्य है और वैदिक मत ही सर्वथा सत्य व निर्दोष अन्य मतों से श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य है।

यदि यह आशङ्का की जावे कि जो परमेश्वर ने पक्षपात रहित सब संसार के मनुष्यों के लिये वेद का उपदेश किया है तो संस्कृत ही वाणी में क्यों किया है संस्कृत सब मनुष्य नहीं जानते तो इसका उत्तर यह है कि संस्कृत वाणी में उपदेश करने के दो कारण विदित होते हैं एक यह कि सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का उपदेश सब से उत्तम वाणी में होना चाहिये दूसरा यह कि परमेश्वर का उपदेश पक्षपात रहित सब के लिये एक समान वाणी में होना चाहिये ये दोनों आशय संस्कृत ही में उपदेश करने में सिद्ध हो सकतेथे अन्य वाणी में नहीं इससे

परमात्मा ने संस्कृत में उपदेश किया है संस्कृतही में सिद्ध होनेके हेतु यह है कि अच्छे प्रसिद्ध विदेशी विद्वान् जिन्होने संस्कृत वाणी को अध्ययन किया है और संस्कृत में वर्णित लौकिक व पारलौकिक विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया है उन्होंन स्पष्टता से यह स्वीकार किया है कि संस्कृत के समान कोई वाणी दूसरी संसार(दुनिया) में नहींहै जो कोई इस लेख का विश्वास न करे तो वह चाहे किसी वाणी का विद्वान हो जो वह आप संस्कृत वाणी का अध्ययन करेगा तो उसका आत्मा स्वयं यह स्वीकार कर लेगा कि इसके समान उत्कृष्ट विचार पूर्वक नियत किये हुये वर्णोच्चार व व्याकरण नियमों से युक्त कोई अन्य वाणी नहीं है अन्य वाणी जितनी, अंगरेजी, फ़ारसी, अरबी, लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, रूसी आदि विदित हुई हैं उनके अक्षर ही विचार पूर्वक यथार्थ नियत किये हुये ज्ञान नहीं होते न उनका व्याकरण संस्कृत के समान उत्तम होना विदित होता है यह संस्कृत व अन्यवाणी का जाननेवाला ही निश्चय कर सकता है।

मैंने स्वयं अंगरेजी व फारसी का अध्ययन किया है अरबी के भी दो व्याकरण ग्रंथोंका अध्ययन किया है रूसी वाणी का भी एक ग्रंथ जो अंगरेजी अनुवाद सहित राज्य अजयगढ़ में मंगाया गया था उसको देखा है इन वाणियोंका अध्ययन कर और जान कर संस्कृत के साथ मिलान करके मैंने संस्कृत के विषय में लिखा है। यद्यपि संस्कृत के पुस्तकालय मुसलमानोंके राज्यमें नष्टकर दिये गये हैं? इसी से मुक्तिकोपनिषद् के लेखानुसार चारों वेदों की जो ११८० शाखायें थीं उनमेंसे कुछ मिलती हैं और सब नष्ट होने से लुप्त हैं अर्थात् ऋग्वेद की २१ शाखा यजुर्वेद की १०९ सामवेदकी १००० अथर्ववेद की ५० थीं इन सब का योग ११८० होता है पुराणों में कहीं २ यजुर्वेद की १०० या १०१ और अथर्ववेद की ९ शाखायें वर्णन की गई हैं इस संख्या भेदका कारण यह है कि जब कई एक शाखाओंको आशय विशेषसे किसीएक शाखाके अन्तर्गत मान लिया है तबग्रंथों संख्या न्यून होगई है इन वेदशाखाओं और अन्य ग्रंथोंके नष्ट होजाने से अनेक का अस्तित्व ही नहीं रहा परन्तु वाणी की उत्तमता को कोई नष्ट नहीं कर सका यह सनी है अनेक देशों के ग्रंथों से विद्याके संग्रह या उनके अनुवाद से संकलित होने से अंगरेजी वाणी में अनेक विद्याओं के ग्रंथ होगये हैं परन्तु वाणी को संस्कृत के समान किसी प्रयत्न से नहीं कर सकते संस्कृत के विद्या सम्बन्धी अनेक ग्रंथ और वेद की शाखाओं के लुप्त होजाने पर भी जो ग्रन्थ शेष हैं वह परमार्थ व आत्मज्ञान के विषय में अन्य देश के ग्रन्थों से उत्कृष्ट हैं।

श्रीमान् दारा शिकोह बादशाह को कुरान के कई स्थलों में संदेह उत्पन्न हुआ तब उसने अपने संदेह निवृत्त करने के लिये सत्यज्ञान की प्राप्ति के अन्वेषण में (तलाश में) सब धर्मों व विद्याओं के ग्रंथोंका सुना और अनुवाद कराना प्रारम्भ किया। अनेक धर्म के ग्रंथों से उक्त श्रीमान् को सन्तोष प्राप्त न हुआ अन्वेषण करते हुये जब आर्य्यावर्त्त में आकर संस्कृत के उपनिषद् ग्रंथों को जो

आत्मज्ञान मोक्ष व परमात्मा की प्राप्ति की विद्या के विषय में है उनको सुना उनका फारसी में अनुवाद (तरजुमा) किया और एकाग्र चित्त होकर उनको समझा उनका आशय समझने से हृदय का अविद्या रूप अन्धकार ज्ञानके प्रकाश से दूर होगया संशय निवृत्त होगया तब उक्त श्रीमान् ने अपने उपनिषदों के अनुवाद के उपोद्घात में (दीबाचा में) जहां तक हो सका है उपनिषदों की अत्यन्त प्रशंसा की है यह लिखा है कि संसार में सच्चे ज्ञान प्राप्त होनेका द्वारा केवल उपनिषद् ही विद्या है कुरान का भी जो अर्थ व आशय (मतलब) में, न समझता था उस को अब उपनिषद् के जानने से समझता हूं जो दुनिया और आकबत अर्थात् लोक और परलोक की भलाई चाहे तो उपनिषद् ही विद्या से प्राप्त हो सक्ती है इत्यादि इसी प्रकार से जरमन के प्रसिद्ध दार्शनिक (आलिम) शोपनहार ने भी उपनिषद् विद्या की जो वेद का अन्तिम और उत्कृष्ट भाग है प्रशंसा की है यह लिखा है कि किसी दूसरी विद्या का अध्ययन ऐसा लाभकारी और हृदयका उत्कृष्ट बनानेवाला नहीं है जैसा कि उपनिषद् का अध्ययन है इत्यादि ऐसे ही अन्य पचीसों विदेशी विद्वानों के लेख के प्रमाण हैं परन्तु बहुत लेख बढ़ाने की विशेष आवश्यकता न जानकर उक्त दो महाशयों की सम्मति को प्रमाण के लिये लिख दिया है मेरे इस लेख के निश्चय के लिये उक्त महाशयों से निर्मित ग्रंथ ही साक्षी हैं उनको देखकर निश्चय कर लेना चाहिये।

उक्त अन्य देश के दार्शनिक विद्वान् महाशयों की सम्मति का प्रमाण इसलिये लिखा है कि अपनों और अपने यहाँ के विद्वानों की सम्मति की अपेक्षा उनकी सम्मति विशेष विश्वास जनक होगी।

इससे संस्कृत वाणी जो सब वाणियों से श्रेष्ठ है उसमें परमात्मा ने वेद का उपदेश किया है और उत्तम व सत्य उपदेश का संस्कृत में होना उक्त दो महाशयों की सम्मति के उदाहरण से निश्चित है जो संस्कृत नहीं जानता वह भी दाराशिकोह के समान अन्वेषण करने से सत्य विद्या को संस्कृत से व उसके विद्वानों के सत्संग व उपदेश से प्राप्त कर सकता है।

- दूसरा हेतु यह है कि बहुत सी वाणी जो अब हैं आदि सृष्टि में न थीं इसके सिवाय जो किसी देश विशेष की वाणी में परमात्मा वेद विद्या का उपदेश करता तो परमात्मा में पक्षपात दोष प्राप्त होने का प्रसङ्ग होता क्योंकि उस देश वालों के लिये वेद व शास्त्र का अध्ययन सरल होता अन्य देशवालों के लिये न होता, संस्कृत वाणी किसी देश की भाषा नहीं है अपनी देश भाषा मात्र जानने से किसी देश वाला बिना संस्कृत के अध्ययन किये संस्कृत को नहीं जान सकता उसके अध्ययन की आवश्यकता सब देशवालों के लिये है संस्कृत में जो वेद का उपदेश किया है वह यथार्थ है, और वेद और वैदिक मत ही सब पुस्तकों और मतों में से श्रेष्ठ है यह सिद्धान्त है।

अब जैसे कुरान आदि देशान्तर वासियों के मत के ग्रंथों के अयुक्त होने के हेतु विशेष वर्णन किये गये हैं वैसे ही इस आर्य्यावर्त देश निवासी अनेक पथ

ये मतान्तरवाले स्वार्थ साधकोंने स्वार्थ साधन के लिये जो ग्रथ संस्कृत औ भाषा में बनाया है अथवा आर्ष ग्रथों में अपने मन कल्पित बातों को स्वा साधन के प्रमाण के लिये मिला दिया है वह उनके निर्मित ग्रथ और उनके अयुक्त मिथ्या वाक्य मन्तव्य नहीं है यह निश्चित होने के लिये वे ग्रथ उनके अयुक्त विषय व उनके मिथ्यात्व व अमन्तव्य होने के प्रमाण रूप हेतु विशेष वर्णन कि जाते हैं।

वर्तमान समय में मतान्तर विषयक संस्कृत में अठारहपुराण और उपपुराण विद्यमान हैं जिनमें ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, देवी, और रामकृष्ण, नृसिंह आदि अवतारों का वर्णन है विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, देवी भागवत, ब्रह्म वैवर्तक पुराण, नृसिंहपुराण आदि पुराण हैं और वाल्मीकि रामायण व महाभारत ये दो इतिहास ग्रथ हैं विष्णुपुराण, में विष्णु को सर्वोपरि सब क उत्पन्न करने वाला वर्णन किया है महादेवको विष्णु, का सेवक विष्णु के अधी होना वर्णन किया है।

शिवपुराणमें महादेव को सब से उत्कृष्ट और विष्णु आदि को उनसे न्यू उनके अधीन वर्णन किया है और यह लिखा है कि शिव जीने सृष्टि उत्पन्न कर की इच्छा से नारायण व जलाशय को उत्पन्न कर नारायण की नाभि में कमल उत्पन्न किया उस कमल से सृष्टि उत्पन्न करने के लिये ब्रह्मा को उत्पन्न किया ब्रह्मा ने सब जलमय देखकर अंजलि में जल को लेकर जलमें पटका उससे एक बुद बुदा व बुदबुदा से एक पुरुष उत्पन्नहो ब्रह्मा से कहा कि हे पुत्र सृष्टि उत्पन्न कर ब्रह्माने कहा कि मैं तेरा पुत्र नहीं हूं पुत्र क्यों कहता है तू मेरा पुत्र है दोनों इसपर लडने लगे तब महादेवने इस लडाई व झगडा मिटानेके लिये दोनों के बीच में एक तेजोमयलिङ्ग उत्पन्न किया वह सीधा आकाश में चला गया उसके अन्त लेने के लिये महादेव जी ने दोनों से यह कहा कि तुम दो में से जो कोई इसके आदि अन्त तक का पता लेकर शीघ्र आजावे वह पिता है और जो पीछे आवे वह पुत्र है विष्णु कूर्म का रूप रखकर नीचे पाताल को उसका अन्त लेने गये और ब्रह्मा ऊपर आकाश को, विष्णु ने अन्त को न पाया लौट कर यह सत्य कह दिया कि मैं पता नहीं पा सका। ब्रह्मा ने भी अन्त न पाया परन्तु केतकी वृक्ष और गाय को अपने झूठे साक्षी बनाकर आकर कहा कि मैं अन्त ले आया और उक्त वृक्ष और गाय ने साक्षी दिया कि यह अन्त ले आये है झूठ बोलने से शिव जी ने ब्रह्मा जी को यह शाप दिया कि तुम अपूज्य हो जाओ इसी से ब्रह्मा का पूजन कोई नहीं करता।

गाय को यह शाप दिया कि तू मुंह से झूठ बोली है इस से तू विष्टाहारी हो केतकी को यह शाप दिया कि तेरा पुष्प किसी देवता में न चढाया जाय।

विष्णु को वरदान दिया कि तुम सत्य बोले हो इस से तुम सब से पूज्य होगे।

इस कथा का मिथ्या वर्णन होना पूर्वापर बातों के विचारने ही से

निश्चित होता है कि शिवजी ने जब सृष्टि उत्पन्न करने के लिये ब्रह्मा विष्णु को उत्पन्न किया था सृष्टि न थी तो गाय और केतकी का वृक्ष कहां से आये' और ब्रह्मा थे यदि पहिले ही से थे तो शिवपुराण बनानेवाला उन्मत्त के समान था जो यह लिखा है कि सृष्टि रचना के लिये ब्रह्मा व विष्णु को उत्पन्न किया और ब्रह्मा का मिथ्यावादी होना आदि अयुक्त बातों को लिखा है।

देवी भागवत में देवी ही को ब्रह्मा विष्णु शिव आदि की उत्पन्न करनेवाली इस प्रकार से वर्णन किया है कि जब देवी को जगत् के रचने की इच्छा हुई तब उसने हाथ को घिसा हाथ में एक छाला पड़ा उससे ब्रह्मा को उत्पन्न किया और देवी ने कहा कि मुझे तू अपनी स्त्री बना तू मेरा पति हो उसने कहा कि तू मेरी माता है मैं तेरा पति नहीं हो सकता इस कहने पर देवी क्रोध कर उसको भस्म कर दिया फिर हाथ घिसकर दूसरे बार छाला से विष्णु को उत्पन्न किया उस से भी वैसा ही इच्छा प्रकट की उसने भी वैसा ही उत्तर दिया इससे उसको भी देवी ने भस्म कर दिया फिर पूर्व ही के समान महादेव को उत्पन्न करके अपनी इच्छा प्रकट की अर्थात् महादेव को अपने पति होने की आज्ञा दी महादेव ने कहा कि मैं तेरे इस माता रूप के साथ तेरी आज्ञा के अनुसार प्रवृत्त नहीं हो सकता तू अन्य स्त्री रूप को धारणकर तब देवी ने वैसा ही किया फिर महादेव ने भस्म पडी हुई देखकर पूछा यह क्या है देवी ने कहा यह तेरे दो भाई हैं पहिले मैंने दो लडके उत्पन्न किये थे उन्होंने मेरी आज्ञा न मानी इससे भस्म कर दिया है महादेव ने कहा इनको जिला दे मैं अकेला क्या करूंगा जब देवी ने जिला दिया तब महादेवजी ने कहा इनके लिये दो स्त्रियां और उत्पन्न कर तब देवी ने दो स्त्रियां और उत्पन्न कीं तब तीनों ने तीन स्त्रियां को ग्रहण किया।

इस वर्णन में देवी भागवत बनाने वाले की बुद्धि में उन्माद होना निश्चित होता है क्योंकि जब देवी ने अपने से उत्पन्न हुये पुत्रों को इस कारण से भस्म कर दिया कि उन्होंने माता को स्त्री बना कर उसके साथ भोग नहीं किया तो इस से सिद्ध है कि देवी ने माता के साथ भोग करना उचित और धर्म समझा है इसी से पुत्रों को आज्ञा दिया था जो अनुचित समझती तो ऐसी आज्ञा न देती और पुत्रों को आज्ञानुसार न करने को अनुचित न समझा तब उनको क्रोध से भस्म कर दिया इससे यह सिद्धान्त भी प्राप्त है कि देवी भागवत के मानने वालों को देवी की आज्ञा व आशय अनुसार माता को स्त्री बनाने में कुछ दोष नहीं हो सकता।

जब देवी ने तीन पुत्रों के वास्ते तीन स्त्रियों के रूप धारण किये अथवा तीन स्त्रियां उत्पन्न कीं तब भी जो तीनों स्त्रियां देवी ही के रूप मानी जायें तो माता ही से व्यभिचार करना सिद्ध होता है और जो देवी से उत्पन्न तीन कन्या समझी जायें तो बहिन और भाई से मैथुन कर्म होना सिद्ध होता है जो देवी भागवत का निर्माता स्वस्थ चित्त होता और ऐसे वर्णन को अर्थात् माता को

स्त्री बनाने को लोक में निन्द्य और सदाचार के विरुद्ध समझता तो कभी ऐसी कथा का वर्णन न करता।

देवी ने जैसी आज्ञा अपने पुत्रों को दी और जिस कारण से उनको भस्म किया उससे देवी का अधर्म आचरण की आज्ञा देनी वाली होना सिद्ध होता है इस से ऐसा अयुक्त अनुचित मिथ्या कथन मन्तव्य नहीं हो सकता।

भागवत में विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा से स्वयभू मनु राजा और सत्यरूपा राणी और रुद्र मरीचि आदि दश पुत्र उनसे दश प्रजापति उनकी तेरह दिति दनु आदि नामावली कन्याओं का विवाह कश्यप के साथ होना और उन कन्याओं में से दिति से दैत्य, दनु से दानव अदिति से आदित्य आदि देवते विनिता से पक्षी कद्रु से सर्प सम्मा से कुत्ते स्यार आदि ऐसे ही अन्य कन्याओं से हाथी घोडा ऊट घास फूस वनस्पति आदि उत्पन्न हुये ऐसा वर्णन है यह कैसा असभव कथन है कि मनुष्य जाति की स्त्रियों में से दैत्य दानव पक्षी सर्प घास वनस्पति हाथी घोडे आदि पशु हुये, इत्यादि अनेक एक दूसरे के विरुद्ध अयुक्त और असभव बातें लिखी हैं इस से यह निश्चित होता है कि पुराण विचार रहित अज्ञान मतवादियों के बनाये हुये हैं जैसा कि पौराणिक व्यास जी के बनाये हुये वर्णन करते हैं यह मन्तव्य नहीं हो सकता क्योंकि व्यास जी ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने उपनिषद् ग्रंथों के वाक्यों में उत्पन्न होने योग्य सशयों की निवृत्ति के लिये उपनिषद् वाक्यों पर समीक्षा करके वेदान्त दर्शन करके सूत्रों को लिखकर तत्व का निर्णय किया है वह ऐसा व्याघात दोषयुक्त (विरुद्ध वाक्यों का कथन रूपदोष) असत्य अयुक्त उन्मत्त के वाक्यों के समान वर्णन नहीं कर सकते ऐसा अनुमान से निश्चय किया जाता है कि जब एक मत वाले संस्कृत जानने वाले ने अपने उपास्य देवता की प्रशंसा में अन्य देवताओं को न्यून करके वर्णन किया तब दूसरे मतवाले ने अपने इष्ट उपास्य को श्रेष्ठ वर्णन करके अन्य देवताओं को न्यून करके वर्णन किया है और अपने नामसे ग्रंथों का मन्तव्य होना सभव न जानकर व्यास के बनाये हुये प्रसिद्ध किया है परन्तु जैसी उनकी बुद्धि थी वैसा विचार विरुद्ध अयुक्त वर्णन किया है जिसको कोई बुद्धिमान् स्वस्थचित्त स्वीकार नहीं कर सकता।

जब इन ग्रंथोंकी जो कुछ पढे हुओं के बनाये हुये अनुमान किये जाते हैं यह दशा है तो जो इन ग्रंथों के मानने वाले अथवा न मानने वाले अनेक पंथवालों ने अपनी बुद्धि अनुसार जैसा उनके समझ में आया अपनी देश भाषा में वेद व शास्त्रों के विरुद्ध वर्णन किया है वह किसी प्रकार से मन्तव्य नहीं हो सकते।

सब भाषा ग्रंथों के बनानेवालों में से अपनी भक्ति व भाव के अनुसार जो कुछ गोसाई, तुलसीदास, जीने श्री महाराज रामचन्द्र जी के यश वर्णन आदि में लिखा है वह उनका लेख अन्यभाषा ग्रंथों से अच्छा है यद्यपि उनका भी लेख कहीं कहीं पुराणों की मिथ्या कथाओं से मिश्रित वेद व शास्त्र विरुद्ध और अयुक्त है उतना अंश छोडकर और अच्छा है परन्तु जैसे स्वार्थ साधक मूर्ख

विचार रहित मनुष्यों ने अपनी इच्छा अनुसार अनेक मिथ्या बातें और कथाओं को बाल्मीकि रामायण और महाभारत में मिला दिया है ऐसे ही तुलसीदास जी की रामायण में जो अभी ३३८ ही वर्ष की बनी हुई है अयुक्त व मिथ्या कथाओं को लगभग एक तिहाई के मिला दिया है यह ग्रंथ थोड़े ही काल का होने से उसमें से जो प्रक्षिप्त लेख होता है विदित हो जाता है और आज कल जांच भी यन्त्रालयाध्यक्ष करके जो प्रक्षिप्त भाग होता है उसको ग्रंथ के मुद्रित करने में क्षेपक नामसे लिख देते हैं यह ज्ञात हो जाने का हेतु होता है।

उक्त संस्कृत इतिहास ग्रंथों में जिसने जो मिला दिया वही बाल्मीकि और व्यास का वचन मान लिया गया क्योंकि विचार और सत् असत् का ज्ञान तो विद्या और विद्वान् महात्मा ज्ञानवान सज्जनों के सत्संग से होता है विद्वानों के सत्य उपदेश व सतसंग विद्या रहित यजमानों को जो पौराणिक व पुरोहितों ने सुना दिया उसको उन्होंने सत्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव बाल्मीकि व्यास की वाणी मान लिया।

भाषा के ग्रंथकर्ताओं और अन्य पंथाइयों की अपेक्षा तुलसीदास जी में एक यह भी उत्तमता ज्ञात होती है कि जो वह भी अन्य पंथ प्रचारकों के समान अपना एक नया पंथ जारी किया चाहते तो कर सकते थे परन्तु अपनी प्रसिद्ध के लिये कोई नया पंथ जारी नहीं किया अन्य नये पंथ प्रचरित (जारी) करनेवालों ने जो भाषा में ग्रंथ बनाया है उनके बहुतों में तो पूर्वापर विरुद्ध कथन अयुक्त प्रमाण रहित बातें लिखी हैं।

कोई कोई पंथ जो अभी प्रचरित हुये हैं उनके मत के ग्रंथों की वाणी (जैसे राधास्वामी पंथ के ग्रंथों की वाणी) ऐसी निराली है कि देशभाषा में भी वैसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता और ऐसे अयुक्त अर्थ और व्याख्यानों से युक्त है कि कोई बुद्धिमान विचारवान् स्वीकार नहीं कर सक्ता परंतु विशेष वाक्यों की अशुद्धता व दोषनिदर्शन इस हेतु से नहीं करता कि जो कोई सज्जन विचारवान उस मत के वा अन्य मत के होंगे वह तो समझ कर आपही स्वीकार करेंगे नहीं निन्दा समझ कर अज्ञानता से द्वेष करेंगे इससे विस्तार से दोषों का वर्णन नहीं किया।

पुराण जो व्यास जी के बनाये हुये वर्णन किये जाते हैं वह पूर्वोक्त हेतुओं से मत वादियों के बनाये हुये हैं व्यास जी के बनाये नहीं है यह सिद्ध होता है।

बाल्मीकि रामायण बाल्मीकि जी की बनाई है और महाभारत व्यास जी की बनाई है परन्तु इनमें भी अपने कल्पित अर्थ के प्रमाण के लिये अनेक कथा और वाक्यों को स्वार्थ साधकों ने मिला दिया है यह बात सिद्ध करने के लिये विशेष विचार की भी आवश्यकता नहीं है बाल्मीकि रामायण में मिलाये जाने का निश्चय इसी से हो जाता है कि बाल्मीकि जी ने रामायण को छः काण्ड व पांच सौ सर्गों में बनाया है।

अब जो बाल्मीकि रामायणमें एक उत्तरकाण्ड है उस सहित सातकाण्ड हैं।

लङ्का काण्ड ही के अन्त तक पांच सौ से ३६ सर्ग अधिक अर्थात् ५३६ सर्ग होते हैं और ११० उत्तर काण्ड के मिलकर सब ६४६ सर्ग होते हैं पांच सौ से १४६ सर्ग अधिक होते हैं जो अधिक कथाएं मिलाई न जातीं तो पांच सौ सर्ग जैसा बालकाण्ड में लिखा है, उससे १४६ सर्ग अधिक न होते जब चतुर्थांश से अधिक प्रक्षिप्त सर्ग अधिक हो गये हैं तो प्रक्षिप्त श्लोकों की कितनी संख्या होगी यह निश्चित नहीं हो सकता सब श्लोकों की गणना करके प्रक्षिप्त अधिक श्लोकों की सङ्ख्या निकाली भी जाय तो वास्तविक वाल्मीकि जी के उक्त श्लोकों में कहाँ कहाँ, कौन कौन श्लोक प्रक्षिप्त हैं, यह समझ कर उनको पृथक करना केवल बुद्धिमान विवेकवान का काम है सामान्यत सब मनुष्यों का नहीं है परन्तु लङ्काकाण्ड ही तक पांच सौ से छत्तीस सर्ग अधिक होते हैं और उत्तर काण्ड के सर्गों सहित १४६ सर्ग अधिक होते हैं तब इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि प्रक्षिप्त कथाओं और श्लोकों से सर्गों और श्लोकोंकी सङ्ख्या अधिक हो गई है अन्यथा अधिक नहीं हो सकती थी।

- उत्तरकाण्ड सम्पूर्ण जो अयुक्त असंभव धर्म विरुद्ध मिथ्या गाथाओं से भरा है पीछे से विचार रहित स्वार्थ साधक मिथ्या वादी, ब्राह्मणों ने बना कर मिला दिया है वाल्मीकि जी का बनाया नहीं है उसके पीछे बनाकर मिलाये जाने व असत्य होने के हेतु यह हैं कि उसमें श्री महाराज रामचन्द्र जी के परलोकगमन सम्बन्धी, व सीता त्याग सम्बन्धी कथा के सिवाय और कोई राम के यश का वर्णन नहीं है राक्षसों की कथा, उनके दुराचरणों के व्याख्यान भरे हैं जिनके सुनने से चित्त में उत्तम वृत्ति की प्राप्ति नहीं होती किन्तु हानि अवश्य हो सकती है और उक्त व्याख्यानों के सुनने का समय व्यर्थ गत होता है एक रजक के कहे हुये वाक्य पर श्री महाराणी जानकी जी को श्री महाराज रामचन्द्र जी के त्यागने की कथा भी किसी मूर्ख विचार-शत्रु की बनाई हुई है जो अपनी बुद्धि के अनुसार श्री महाराज रामचन्द्र जी व जानकी जी के निर्दोष समझे जाने के लिये बनाया है यह नहीं समझा कि श्री जानकी जी का निर्दोष होना पहिले ही सिद्ध हो गया है फिर कोई संशय होने का कारण नहीं हो सकता श्री महाराज रामचन्द्र सत्य व्रत धर्म सिंधु जानकी जी को शुद्ध सती शिरोमणि जान कर अदण्ड्य को दण्ड कभी नहीं दे सकते हैं इससे वह जानकी जी का त्याग रूप महा अधर्म कर्म कभी नहीं कर सकते।

लङ्का में जब अग्नि और ब्रह्मा आदि देवताओं ने श्री जानकी जी की शुद्धता के विषय में साक्षी दी, और श्री महाराज रामचन्द्र ने भी देवताओं के कहने से स्वयं जानकी जी का शुद्ध पवित्र होना जानना स्वीकार करके पुनर्वार परीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा कर दिया था तब एक मूर्ख रजक के कहने पर निर्दोष जानते हुये भी अपने ज्ञान, और प्रतिज्ञा के विरुद्ध जानकी जी को कभी दण्ड नहीं दे सकते थे।

वाल्मीकि रामायण में वर्णन किये हुये के अनुसार उक्त महाराणी जी का

सम्पूर्ण वानरों, राक्षसों, व देवताओं, के समक्ष में अग्नि में प्रवेश करना देवताओं का शुद्धता विषय में साक्षी देना ऐसा कर्म नहीं है कि जो सुग्रीव आदि और विभीषण आदि के अयोध्यापुरी में आने पर और हनुमान जी के सदा बने रहने पर भी प्रसिद्ध न हो और अयोध्या के और देश के निवासियों को ज्ञात न हो इससे जानकी जी के त्याग की कथा सर्वथा मिथ्या है।

एक कथा उत्तर में यह भी है कि राम के राज्य में एक का लड़का मरगया उसने मृत पुत्र के शरीर को श्री महाराज रामचन्द्र जी के द्वार पर आकर रख दिया और कहा कि आपके राज्य में पिता के सामने पुत्र का देहान्त नहीं हुआ मेरा पुत्र क्यों मरगया रामचन्द्र जी ने विचारा कि कोई अधर्म मेरे राज्य में होता है जिससे इसका पुत्र मरगया है यह विचार कर रथ पर सवार हो कर सब देश व दिशाओं में गये कहीं कोई अधर्माचरण होता न देखा एक स्थान में एक शूद्र को तप करते हुये देखा तब रामचन्द्र जी ने यह विचार किया कि शूद्र तप करने का अधिकारी नहीं है यह तप करता है यह अधर्म है इसी से उसका पुत्र मरगया है यह विचार कर उसका शिर काट लिया जब उस शूद्र का शिर काट डाला तब उक्त मरा हुआ पुत्र जी उठा।

यह कथा किसी पक्षपातपरायण द्वेष बुद्धियुक्त ब्राह्मण की बनाई हुई है जिसका आशय इस कथा के बनाने से यह था कि विद्या तप से मनुष्य पूज्य व मान्य होता है जो शूद्र आदि विद्वान तपस्वी होंगे तो वह भी श्रेष्ठ समझे जायगें सिवाय ब्राह्मण के अन्य की और विशेषत शूद्र की श्रेष्ठता न हो इससे ऐसी कथा लिख दिया है जिससे मनुष्यों को निश्चय हो जावे कि जब महाराज रामचन्द्र जी ने स्वय शूद्र को धर्माचरण तप करते हुये मारडाला है तब अवश्य शूद्र को धर्माचरण व तप न करना चाहिये उसने यह नहीं समझा कि विचारवान् सत्पुरुष इस कथा को कभी सत्य न समझेगा और उदाहरणों से और आप्त वाक्यों से मेरी यह कथा मिथ्या सिद्ध हो जावेगी।

यदि शूद्र का तप करना अधर्म ही होता तो उसका अनिष्ट फल अधर्म करनेवाले अथवा राजा को होना सभव था जिसका पुत्र मरा व मरे हुये पुत्र से कुछ कर्म फल का सम्बन्ध नहीं हो सकता अन्य के कर्म का फल अन्य को नहीं होता इससे यह कथा मिथ्या है यदि रामचन्द्र शूद्र का धर्माचरण व तप करना अनुचित व अधर्म समझते तो शबरी पर प्रसन्न न होते न उसकी प्रशसा करते उसका भी शिर काट लेते परन्तु ऐसा नहीं किया और धर्मव्याधि आदि नीच वर्ण धर्म आचरण करनेवाले जो परमेश्वर के भक्त हुये हैं सब उत्तम समझे गये हैं और ऋषि महर्षियों ने कर्म ही से उत्तम व निकृष्ट होना वर्णन किया है माता व पिता से उत्पन्न होने मात्र से उत्कृष्टता व निकृष्टता नहीं होती महाभारत म अनुशासन पर्व अध्याय १४३ में महादेव व पार्वती के सम्वाद म महादेव जी ने पार्वती जी से ऐसा वर्णन किया है।

एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भव. शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः ४६ कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत्स्वयं ४८ स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति विशिष्टः सद्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः ४८ न योनिर्नापि संस्कारो नश्रुति र्नचसततिः कारणानिद्विजत्व स्य वृत्तमेवतु कारणम् ॥ ५० ॥

अर्थ-इन कर्म फलों से अर्थात् पूर्वोक्त (पहिले कहे हुये) कर्मों के फलों से हे देवि (पार्वति) न्यून जाति कुल में उत्पन्न हुआ वेद शास्त्र के ज्ञानसे युक्तशूद्र भी सस्कार को प्राप्त हुआ ब्राह्मण होता है ४६ हे देवि पवित्र कर्मों से शुद्धात्मा व इन्द्रियजित जो शूद्र भी हो तो वह ब्राह्मण के समान सेवा करने योग्य है ऐसा ब्रह्मा जी ने आप ही कहा है ॥ ४८ ॥

स्वभाव और कर्म जिस शूद्र में भी शुभ (पवित्र उत्तम) होते है तो वह द्विजाति से (ब्राह्मण से अथवा वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण से) श्रेष्ठ जानने योग्य है ऐसी मेरी सम्मति है ॥ ४६ ॥

योनि (ब्राह्मणों से उत्पन्न होना) सस्कार होना वेद पढ़ना ब्राह्मण के वश में उत्पन्न होना ये कोई भी ब्राह्मण होनेके कारण नहीं है ब्राह्मण होने में धर्माचरण ही कारण है अर्थात् योनि सस्कार आदि ब्राह्मण के होते हुये भी यदि ब्राह्मण होने के धर्माचरण नहीं है तो वह ब्राह्मण नहीं होता न हो सकता है।

महर्षियों ब्रह्मा व महादेव की ऐसी सम्मति होने का ज्ञान उस दुराग्रही उक्त कथा बनानेवाले को न थी नहीं तो श्री महाराज रामचन्द्रजी को उत्तम कर्म करनेवाले शूद्र का शिर काटनेवाला वर्णन करके श्री रामचन्द्रजी पर अनुचित कर्म करने का दोष प्राप्त न करता इस प्रकार से अयुक्त असंभव अन्याय कथाओं के वर्णन से उत्तर काण्ड किसी प्रकार से वाल्मीकि जी का बनाया नहीं हो सकता इससे वाल्मीकि जी का बनाया नहीं है न रामायण का अवयव है बालकाण्डके चौथे सर्ग दूसरे और तीसरे श्लोक में जो ऐसा लिखा है।

चतुर्विंशति सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः तथा सर्गशतान्पञ्चषट्काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥ कृत्वापितन्महाप्राज्ञः सभविष्यत्सहोत्तरम् ।

अर्थ-चौबीस हजार श्लोकों को ऋषिने कहा वैसे ही पाच सौ सर्ग छ काण्डों को वैसे ही उत्तर को ॥ २ ॥

महा बुद्धिमान् (वाल्मीकि) भविष्यत सहित उत्तर सहित उसको बनाकर भी इत्यादि ॥

इस वर्णन में यह विचारणीय है कि चौबीस हजार श्लोक वैसेही पांच सो सर्ग व छः काण्डों का वाल्मीकि जी का कहना तो स्पष्ट एक साथ वर्णन किया है फिर वैसेही उत्तर को ऐसा कहने की आवश्यकता न थी जैसे छ काण्ड लिखा था वैसेही सात काण्ड को कहा ऐसा लिखना यथार्थ था और फिर दूसरे श्लोक में भविष्यत सहित व उत्तर सहित लिखने की आवश्यकता न थी इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिसने भविष्यत वृत्त और उत्तरकाण्ड को मिलाया है उसने श्लोक में जो अन्य शब्द चतुर्थ चरण की पूर्ति में रहे उनके स्थान में तथोत्तरम् ये शब्द लिख दिया है यह अनुमानसे विदित होता है कि "तथासर्गशतान्पंचषट्काण्डान्युत्तमानिच" अथवा ऐसा अन्य शब्द अर्थ के साथ सगति रखते हुये श्लोकके अन्तमें होंगे उनके स्थान में उत्तर काण्ड के मिलानेवाले ने तथोत्तरम् लिख दिया है जो भविष्यतके विषय में वर्णन है उत्तर काण्ड सहित यह सब कल्पित और प्रक्षिप्त है भविष्यत के वर्णन के प्रक्षिप्त होने के हेतु वर्णन करने में अधिक विस्तार होगा इससे विशेष व्याख्यान नहीं किया सूक्ष्म विचार करनेवाले पूर्वापर वाक्यों व कथाओं का आशय समझ कर व युक्त व हेतु से निश्चय कर लेवेंगे।

अधिक कथाओं श्लोकों व उत्तर काण्ड के प्रक्षिप्त होने के हेतु व प्रमाण जैसे वर्णन किये गये हैं विचार कर निश्चय करना चाहिये।

प्राय आजकलके पण्डित ब्राह्मण भी यह जानते हैं कि उत्तर काण्ड मिलाया हुआ प्रक्षिप्त है क्योंकि जब पण्डितों से रामायण का पुरश्चरण कराया जाता है तब वे छ ही काण्ड का करते हैं उत्तर का नहीं करते यदि उत्तरकांड भी रामायण के अन्तर्गत मानते तो अवश्य उसको पुरश्चरण में ग्रहण करते न ग्रहण किये जाने से उसका रामायण से बाह्य होना निश्चित होता है।

श्री सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास जी-बम्बई निवासी के यहां वाल्मीकि रामायण का सम्पुटित पुरश्चरण होता था वहां लङ्का तक छ ही काण्ड का पाठ एक पण्डित जी पुरश्चरण में करते थे जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि सातवें काण्ड उत्तर का पाठ पुरश्चरण में आप क्यों नहीं करते उत्तर में कहा कि पुरश्चरण विधि में उत्तरकांड के पाठ को नहीं रक्खा, छ हो काड की विधि है अन्यत्र अन्य पण्डितों से पूछा गया तो उन्होंने भी ऐसा ही कहा इस से यह सिद्ध है कि वास्तविक वाल्मीकि रामायण में छही काण्ड हैं सातवां कल्पित प्रक्षिप्त है वह रामायण का भाग मन्तव्य नहीं है।

इस प्रकार से स्वार्थ साधकों ने अयुक्त असम्भव कथाओं व बातों को मिला कर उत्तम ग्रन्थों में व व्यास वाल्मीकि आदि ऋषियों को कलङ्कित किया है।

महाभारत में भी व्यास जी ने चौबीस हजार श्लोक बनाया है जैसा कि आदि पर्व के प्रथम अध्याय में श्लोक १०२ और १०३ में लिखा है

चतुर्विंशति साहस्त्रीं चक्रे भारत संहिताम् उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

अर्थ—चौबीस सहस्र स कथा युक्त उपाख्यानों से रहित सब भारत संहिता को किया था अर्थात् व्यास जी ने बनाया, ऐसा विद्वान जनों से कहा जाता है ॥

फिर उपाख्यानों सहित एक लक्ष श्लोक महाभारत में होना वर्णन किया है।

ये उपाख्यान पीछे से स्वार्थ साधक मिथ्यावादियों ने चौगुने से अधिक बढ़ाकर सौ हजार कर दिया है और व्यास जी का बनाया वर्णन किया है।

इससे भी अधिक और पीछे बढाई गई है- क्योंकि जो अठारह पर्व और प्रत्येक पर्व के अध्यायों का सूची पत्र आदि पर्व में प्रथम व्यास जी के नाम से लिखा है उसके अनुसार संख्या करने से यह ज्ञात होता है कि किसी किसी पर्व में दो एक अध्याय कम भी किये गये हैं परन्तु अधिक बहुत बढाये गये हैं इससे सब महाभारत में सूचीपत्र से नब्बे ६० अध्याय अधिक होते हैं जिससे स्पष्ट प्रक्षिप्त अध्यायों का होना सिद्ध होता है और अठारह पर्व से भी अधिक और पर्व बढाये गये हैं हरिवंश की कथा भी बढाई गई है जिसका अठारह पर्व से कुछ सम्बन्ध नहीं जिसमें मूल से चौगुणे से अधिक प्रक्षिप्त कथायें बढ़ा दी जायें और फिर भी अधिक बढाने का क्रम चला जाय उस ग्रंथ का वास्तविक अंश निकालना कठिन और अच्छे विचारवान विद्वान का काम है इस प्रकार से पाखण्डियों न आर्ष ग्रन्थों को दूषित कर दिया है इस से विचार कर जो प्रमाण विरुद्ध आप्तवाक्यों के विरुद्ध न हो वह मन्तव्य है और जो वक्ता ऋषियो के धर्म से रहित प्रमाण विरुद्ध हो उसको प्रक्षिप्त जान कर त्याग करना चाहिये क्योंकि युक्ति व हेतु से जो असत् ज्ञात होता है वह तो विचार का विषय है परन्तु जब अध्याय व श्लोकों की संख्या सैकडों और सहस्रों की अधिक पाई जाती है तो प्रक्षिप्त के सिद्ध होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है निश्चित ही है और उक्त प्रकार से अयुक्त असम्भव असत्य गाथाओं का होना सिद्ध ही है इससे काई उक्त ग्रन्थ पूर्ण मन्तव्य नहीं हो सकते।

आजकल के ब्राह्मण जो पण्डित और साधु जो वैरागी कहे जाते हैं वे प्राय विचार रहित मूर्खता से सत्यता के शत्रु हो रहे हैं जो सत्य बात कहे तो यथार्थ उत्तर देने को समर्थ न होकर दुर्वाक्य कहकर लडने को उद्यत होते हैं विद्वानो व साधु जनों का यह धर्म नहीं है उनको शान्तचित्त होकर सत् व असत् का विवेक करना व सत्य को ग्रहण करना चाहिये।

यदि प्रश्नकर्ता का प्रश्न युक्त नहीं है वादी का पक्ष असत् है तो प्रमाण से उसको निरस्त करके अपने सत् पक्ष को स्थापन करना चाहिये लडना व दुर्वाक्य कहना विद्वान सज्जन का लक्षण नहीं है।

कुछ काल गत हुआ श्री स्वामी दयानन्द जी विद्वान विचारवान् पुरुष इस आर्य्यावर्त्त देश में उत्पन्न हो ५६ वा ६० वर्ष के आयु में सम्वत् विक्रमीय १६४० में शरीर को त्याग कर परलोक गामी हुये ह वह इस देश में अविद्या अंधकार

छाया हुआ देखकर विद्या रूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये प्रमाण से सम्यक् प्रति पादन वेद शास्त्र आदि सद्ग्रंथों के पठनपाठन का उपदेश किया और जो स्वार्थ साधकों ने स्वार्थ साधन के लिये उक्त प्रकार से दम्भ व कपट से मिथ्या अयुक्त असंभव विषयों व गाथाओं को अपने कल्पित ग्रंथ व वाक्यों में वर्णन किया है उनका निराकरण (खण्डन) करके उनको अमन्तव्य वर्णन किया है।

इस प्रकार से उनके पुराण आदि ग्रंथों पन्थों व मतों में दोष विज्ञापन करने से पौराणिक और सब मतान्तरावलम्बी और अनेक पन्थवाले विना सत्य व असत्य के विचार केवल पक्षपात व द्वेष बुद्धि से उनके लिये अनेक अनुचित शब्दों का प्रयोग और असत्य दोषारोपण करने लगे और अब भी करते हैं।

उनके इस असभ्य व्यवहार से उक्त स्वामी जी के प्रशंसनीय देश उपकार में दोषापत्ति व हानि नहीं होती है न उनके ग्रंथों व मत की उत्तमता व उनकी सज्जनता व विद्वत्ता सिद्ध होती है प्रत्युत इसके विपरीत दोष का निवारण न कर सकना और उनकी असभ्यता ज्ञात होती है। विद्वान बुद्धिमान् सत्पुरुष का धर्म यह है कि जो उक्त स्वामी जी का कथन युक्त व प्रमाण योग्य प्रतीत हो उसको सत्यार्थी पक्षपात रहित हो स्वीकार करें और जिसको अपने मतानुकूल सत्प्रमाण व युक्ति व हेतु से स्वामी जी के पक्ष से विरुद्ध यथार्थ होना सिद्ध कर सकें उसमें स्वामी जी के पक्ष को स्वीकार न करें।

स्वामी जी का अर्थ व व्याख्यान सर्वज्ञ ब्रह्म का वाक्य नहीं है यह संभव है कि किसी अर्थ को स्वामी जी ने भी स्वस्थचित्त न होने या किसी अन्य हेतु से अयुक्त वर्णन कर दिया हो तो उसको न मानें परन्तु स्वामी जी का ऐसा वर्णन किसी दो एक विषयों में किसी आशय से प्रतीत होवे तो उनके मन्तव्य न होने से स्वामी जी के अनेक विषयों का वर्णन जो वेद शास्त्र सत्यों के प्रमाण व युक्ति व हेतु संयुक्त है वह किसी प्रकार से अमन्तव्य नहीं हो सकता उसको द्वेष त्याग कर स्वीकार करना ही उचित है यदि पौराणिक व आधुनिक प्रचलित पन्थवाले धर्मात्मा सत्यप्रिय पक्षपात रहित हो विचारें तो यह निश्चित होगा कि जो स्वामी जी के वेद व आर्ष ग्रंथों के वाक्यों के अर्थ व व्याख्यान में कहीं किसी विषय में अयुक्त होने का दोष किसी आशय से प्राप्त होगा तो पुराणों में मिथ्या असंभव और अयुक्त कथाओं के वृन्द हैं।

और मतवादियों के ग्रंथों में जो प्रमाण रहित और शास्त्र विरुद्ध वर्णन है वह अवश्य ही अमन्तव्य स्वीकार करना चाहिये।

पक्षपात रहित सत्य धर्म पालन करने में अपने व पर के मत में समान दृष्टि से सारांश ग्रहण करना उचित है सत्य के ग्रहण में द्वेष भाव की स्थिति नहीं हो सकती।

वर्तमान समय में जो पौराणिक और दयानन्द स्वामी के मतवाले जो आर्य समाज के नाम से प्रसिद्ध हैं उनमें परस्पर मत विरोध देखने में आता है कारण यह है कि अन्य पन्थ जो अनेक प्रचरित हुये हैं जिनके गुरु पन्थ के प्रचारक ने

अपनी देश भाषा में ग्रंथ बनाया है जो संस्कृत के ज्ञाता न थे और उनके अनुयायी पन्थवाले भाषा भी यथार्थ न जाननेवाले वेद व शास्त्र के नाममात्र सुनने वाले हैं वह कुछ वेद व शास्त्र के विषय में आर्य्य-समाज के वेद व शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों से कुछ विचार कर ही नहीं सकते। पौराणिक पण्डित संस्कृत के ज्ञाता होने से शास्त्र विषय को भी कोई कोई जानते हैं इससे आर्य्य समाज के विद्वानों से पक्ष प्रति पक्ष ग्रहण करने और अपने पक्ष के स्थापन और उनके पक्ष के निराकरण में यथार्थ वा अयथार्थ वाद से प्रवृत्त होते हैं।

इन दोनों पक्षवालों को उचित है कि परस्पर द्वेष बुद्धि को त्यागकर एक मत होकर देश के हित के लिये धर्म और विद्या की उन्नति करने में प्रवृत्त होवें।

आर्य्यसमाजियों को भी चाहिये कि यद्यपि स्वामी जी ने न कहा हो परन्तु जिन ग्रंथों को स्वामी जी ने मन्तव्य माना है यदि कोई विषय उनमें स्पष्ट वर्णित होने से अथवा आशय से व युक्ति व हेतु से सिद्ध हो उनको आग्रह को त्याग करके स्वीकार करें जिससे परस्पर का द्वेष निवृत्त हो जावे क्योंकि जब तक तुम परस्पर एक मत होकर मित्रभाव से प्रवृत्त न होगे आपस ही में विरोध रक्खोगे तब तक तुम देशान्तर वासियों को धर्म की शिक्षा करके उन पर अपने उपदेश का प्रभाव प्राप्त नहीं कर सकते न उनके साथ सुहृद भाव प्राप्त कर सकते हो।

इससे उक्त पक्षवालों में से जो कोई सत्पुरुष धार्मिक पक्षपात रहित हो उनको उचित है कि अपने व अन्य के मत में निर्णय से जो यथार्थ निश्चित हो उसको स्वीकार करें और जो असत् सिद्ध हो उसको परित्याग करें।

स्वामी दयानन्द जी ने जिनके मत को पौराणिक और प्रायः अन्य पन्थवाले विरुद्ध समझते हैं कोई नयामत स्थापन नहीं किया कोई नया पन्थ नहीं चलाया वेद शास्त्र व ऋषि वाक्यों के प्रमाण से कर्म ज्ञान और उपासना में प्रवृत्त होने का उपदेश किया है और मूर्तिपूजा परमात्मा के अवतार अवतारी अथवा परमात्मा से पृथक अन्य देवताओं की उपासना गंगा आदि जलमय तीर्थों के स्नान से पाप रहित होना आदि मानने को अवैदिक (वेद विहित न होना) मानकर निषेध किया है।

प्रसिद्ध पुराण ग्रंथों को उनमें अयुक्त असंभव विरुद्ध कथाओं के वर्णन से व्यासकृत न मानकर मतवादियों से निर्मित व अप्रमाण माना है तथा अन्य मतान्तरों व उनके ग्रंथों को अयुक्त व अप्रमाण होना सिद्ध किया है।

आर्य्यावर्त निवासियों के लिये हिन्दू शब्द का प्रयोग जो यवन भाषा का निकृष्ट अर्थ वाचक शब्द है अनुचित ठहरा कर उनको आर्य्य शब्द से वाच्य कहा है।

इस देश के निवासियों को स्वामी जी आर्य्य कहते थे इससे यहां के ज्ञान-

न लोगों ने अज्ञान से इस पुराने नाम को एक नया नाम समझ कर उक्त स्वामी जी के अनुयायियों को आर्य्य समाजी कहने लगे।

और मूर्ति अवतारों व पुराण आदि के खण्डन करने से इस हेतु से कि पौराणिक आदि पुराण और अवतारों के मानने वाले अवतारों व देवताओं की उपासना करनेवाले मूर्तियों की पूजा करनेवाले थे उक्त स्वामी जी व उनके अवलम्बी आर्य समाजियों के विरुद्ध हो गये और उनमें दोषारोपण और उनके विरुद्ध पक्ष स्थापन करने लगे और अब करते हैं और अपने धर्म को जिसमें मूर्तिपूजा अवतारों की उपासना पुराणों को सत्य और धर्मपुस्तक होना आदि मानने हैं सनातनधर्म नाम से प्रसिद्ध करके अपने को सनातनधर्मी कहते हैं।

अब दोनों पक्षावलम्बियों में से पक्षपात ग्रहण करने की बुद्धि से किसी पक्ष में न होकर केवल तत्व निर्णय के प्रयोजन से विचार व प्रमाण के अनुसार दोनों के मत विषय में समीक्षा करके सत्य का निर्णय किया जाता है विद्वान् महाशयों से यह प्रार्थना है कि मेरी समीक्षा को विचार कर और अपने पक्षपात रहित धार्मिक सत्यार्थ ग्रहण करने की बुद्धि से तत्व का निश्चय करें और आग्रह को त्यागकर सत्य को धारण करके परस्पर के द्वेष से रहित हो एक सम्मति हो सुहृद् भाव से व्यवहार करें।

मेरे विचार में वैदिक धर्म के माननेवाले आर्य समाजी पौराणिक और अन्य अन्य वैष्णव शैव आदि अन्य पन्थवाले भी हैं और जो वेद व शास्त्र के अनुसार मत वा धर्म है वही सनातन वाच्य हो सकता है।

पुराण जो आधुनिक ग्रंथ मतवादियों के बनाये हुये प्रतीत होते हैं तथा भाषा के आधुनिक ग्रंथ और उनमें वर्णित मत वा विषय किसी प्रकार सनातन नहीं हो सकते यदि ऐसा भी मान लिया जाय कि पुराण व्यास जी के बनाये हैं उनमें से जो अयुक्त असम्भव कथायें व व्याख्यान है वह क्षिप्त है तो भी पुराण आदि व उनमें वर्णित मत सनातन नहीं हो सकते क्योंकि व्यास से पूर्वकाल में उनका अभाव था।

अवतारों की उपासना भी सनातन नहीं हो सकती क्योंकि श्री महाराज रामचन्द्र जी के जन्म से पहिले इक्ष्वाकु से लेकर रघु अज दशरथ पर्यन्त कोई रामचन्द्र को न जानते थे फिर उपासना कैसे हो सकती थी ऐसे ही अन्य अवतारों के विषय में समझने से किसी अवतार के उपासना की सनातन से होने की सिद्धि नहीं हो सकती इससे अधिक उनकी मूर्तियों के पूजन विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है।

सनातन केवल वेद विहित धर्म व परमात्मा ब्रह्म की उपासना निश्चित होती है यद्यपि विष्णु, शिव, राम और कृष्ण में ब्रह्म दृष्टि से उपासना करना युक्त होना भी स्वीकार किया जाय तो भी मुक्तात्मा सिद्ध पुरुष व अवतारों की

उपासना का सनातन होना सिद्ध नहीं होता इससे पुराण व पुराणोक्त मत का सनातन होना निश्चित नहीं होता।

अब जिन जिन विषयों में पौराणिक आदि मतान्तरावलम्बियों और आर्य समाजियों से मत विरोध है उनमें से प्रत्येक की समीक्षा की जाती है॥

इतितत्त्वमार्तण्डे पण्डित प्रभुदयालु निर्मिते मतान्तर ग्रन्थानामार्ष ग्रथानां तद्वर्णित विषयानाञ्च सत्यासत्यांश निर्णय विषये द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ मूर्तिपूजा व मूर्तिपूजकादि पन्थायियों के आचरण विषयक समीक्षा।

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने मूर्त्ति पूजा को वेद विहित न होना प्रतिपादन किया है इससे निषेध किया है।

पौराणिक और अन्य मूर्त्ति पूजा करनेवाले उक्त स्वामी जी और उनके मतवालों से विरोध रखते हैं और मूर्ति पूजा को मन्तव्य और कर्तव्य समझते हैं अब इस विषय में समीक्षा करने से यह विदित होता है कि वेद और उपनिषद ग्रंथों में और छ शास्त्रों में से किसी शास्त्र में अर्थात् छ दर्शनों में से किसी दर्शन (शास्त्र) के किसी सूत्र में मूर्ति पूजा की विधि पाई नहीं जाती और पुराण ग्रन्थों में भी मूर्ति पूजा की विधि को निकृष्ट श्रेणी में अज्ञानियों के लिये वर्णन किया है और यथार्थ में निषेध किया है यथा भागवत में भी जो हेमाद्रि ग्रन्थ के देखने से निश्चित होता है कि यद्यपि भागवत व्यास निर्मित प्रसिद्ध की गई है और प्रसिद्ध है परन्तु वास्तव में पण्डित वोपदेव की बनाई हुई है वोपदेव कृत होने पर भी सामान्यतः देशवासियों में सर्व पुराणों में अधिक प्रचरित और मान्य है मूर्ति पूजा के विषय में ऐसा लिखा है।

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे* त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः
भागवत स्कंध १० अ० ८४ श्लो० १३ ॥

---

* कुणप शब्द निर्जीवशरीरस्यवाचकेस्त

इस तीन धातु वाले अर्थात् कफ पित्त व वात से युक्त शरीर में जिसकी आत्म बुद्धि है अर्थात् जो शरीर ही को आत्मा मानता है अज्ञानता से शरीर से पृथक आत्मा को नहीं जानता और स्त्री पुत्र आदि को (जो अल्प काल के लिये सहवास मात्र के सम्बन्धी है) अपने समझता है भूमि के विकार रूप मट्टी पत्थर और धातुओं से बनी हुई मूर्तियों को पूजने योग्य जानता है और जो सलिल में (जल में) तीर्थ बुद्धि है अर्थात् जल को तीर्थ (तारने वाला) जानता है ऐसी बुद्धि (पूज्य व तीर्थ बुद्धि) ज्ञानवान सत्पुरुषों में नहीं रखता वही पशुओं में गदहा के समान है तथा अन्य श्लोक यह है :-

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ते पुनन्त्युरु कालेनदर्शनादेव साधव ॥१॥ भ० स्कं० १० अ० ८४ श्लो० ८८

अर्थ-जल मय तीर्थ नहीं है न मिट्टी व पत्थर मय अर्थात मिट्टी व पत्थर के बने हुये देवता है वे बहुत काल में पवित्र करते है साधु जन दर्शन ही से पवित्र करते हैं।

इस श्लोक में यह आक्षेप हो सकता है कि जब जलमय तीर्थ नहीं है और मट्टी व पत्थर की बनी हुई मूर्त्तियां देवता नहीं तब बहुत काल में क्या वे कभी पवित्र नहीं कर सकते परन्तु वक्ता के कथन में दोष दिखाने का आशय छोड़कर इस श्लोक में जलमय तीर्थ और मिट्टी व पत्थर अर्थात् मिट्टी व पत्थर आदिके बने हुये देवताओं का निषेध किया है यह सूचित करने का प्रयोजन है।

जब भागवत ही में भागवत के निर्माताने ऐसा लिखा है फिर पौराणिकों को उक्त स्वामी जी और आर्य्य समाजियों से विरोध करने वा रखने का कोई कारण नहीं है।

उनको चाहिये कि मूर्ति पूजा को वेद व शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध करे यही विद्वान् पुरुषों का काम है यदि मूर्ति पूजा वेद शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो विरोध करना उचित नहीं है सत्य वस्तु को स्वीकार करना चाहिये। किसी अन्य हेतु से चाहे मूर्ति पूजा का उपयोगी होना अपनी बुद्धि अनुसार वर्णन करें यह दूसरी बात है परन्तु स्वामी जी के प्रतिषेध करने में द्वेष करना विद्वत्ता धर्म से पृथक् है।

यद्यपि उक्त दोनों श्लोकों का साधारण व यथार्थ शब्दों का अर्थ ऐसा ही है जैसा वर्णन किया गया है परन्तु प्राय पौराणिक कैमुतन्याय वा प्रति प्रसंग से मृत्तिका व शिलामय देवताओं का भी पूज्य होना व जलमय तीर्थ होने का अर्थ लगाते है यदि वह अपना अर्थ भी स्वीकार करें तो भी चेतन अभिज्ञ जनों व साधुओं का उत्कृष्ट होना पूज्य व तीर्थ मानना उत्तम व मूर्तियों व तीर्थों का उनकी अपेक्षा निकृष्ट सिद्ध होना निश्चित होता है।

मूर्ति पूजा विधायक ग्रंथों के देखने से यह विदित होता है कि अज्ञानियों के लिये यह निकृष्ट पूजा विधि प्रचरित की गई है।

यह अनुमान किया जाता है कि किसी प्रतिष्ठित बुद्धिमान लोकहितपी पुरुषने अपनी बुद्धिसे यह विचार कर कि जो विद्वान् बुद्धिमान है वह तो यथार्थ ईश्वर के गुण व कर्मों का विचार और शास्त्र विधिसे योगाभ्यास ध्यान व उपासना करने के अधिकारी होते हैं परन्तु बालक अज्ञान अवस्था में अथवा मूर्ख अज्ञानी जो बालक के समान अज्ञान व विचार रहित है उनके लिये जैसे लडते गाली देते कुमार्ग में प्रवृत्त होते हुये किसी लघु बालक को देखकर उसका पिता अथवा अन्य हितैषी यह विचार कर कि यद्यपि यह अभी यथार्थ विद्या पढने योग्य नहीं है तथापि जो यह किसी उत्तम पुरुष व शिक्षकके पास बैठाकरे इधर उधर अन्याय आचरण करनेवाले बालकों के साथ न फिरे तो उत्तम है। परन्तु बिना किसी उपाय या प्रयत्न के यह अपनी इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक ऐसा नहीं करेगा उस बालक से यह कहता है कि जो तुझे खेलना हो तो बुरे लडकों के पास जाकर व्यर्थ इधर उधर न फिरा कर यहां इस महाशय के समीप बैठा कर इसी स्थान में खेला भी कर और जो कुछ यह कहैं वह सुनाकर और जैसा सिखावैं वैसा कर जो हमारे कहने के अनुसार करेगा तो हम तेरे लिये अच्छी अच्छी वस्तुयें खेलोना मिठाई और मेवा फल लावेंगे और अभी यह टोपी और खिलोना देते हैं ऐसा कहने से पहिले वह खेलने के खेलौना और टोपी मिठाई मिलने आदिकी आशा से शिक्षा के अनुसार प्रवृत्त होता है फिर जब उसको ज्ञान प्राप्त होता है तब पिता आदि हितैषियों को खेलौना आदि देकर प्रवृत्त करने की आवश्यकता नहीं रहती वह क्रीडा आदि तुच्छ व्यापार को त्याग कर शिक्षा व सत्संग द्वारा प्राप्त हुये ज्ञान से विद्या अध्ययन और उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है वैसे ही ये अज्ञान विचार रहित मूर्ख जो अभी वर्तमान अवस्था में या बाल अवस्था में अदृश्य निराकार सर्व व्यापक भावसे परमात्मा में चित्तस्थिर करने के योग्य नहीं है इनका चित किसी दृश्य पदार्थ में साधारण रीति से लग सकता है इससे किसी दृश्य साकार के पूजनीय होने का उपदेश ऐसे मनुष्यों के लिये किया जायगा तो इनको यदि विशेष लाभ न होगा तो इतना तो अवश्य होगा कि जो इष्टदेवता को कल्याण कारक समझ कर मन्दिर में आवेंगे और वहां श्रद्धा से उसके दर्शन करेंगे स्तुति करेंगे उससे प्रार्थना करेंगे भक्ति ज्ञान सम्बन्धी अथवा अन्य उत्तम चरित्र सम्बन्धी कथाओं को सुनेंगे या पढ़ेंगे तो उतना समय असत् कर्म असत् वार्ता करने अथवा व्यर्थ व्यतीत करने की अपेक्षा अच्छा होगा फिर जब उसको ज्ञान प्राप्त होगा तब आप ही इसको त्याग कर उत्कृष्ट अवस्था के अनुसार उपासना में प्रवृत्त होगा मूर्ति पूजा को स्थापित व प्रचरित किया है।

परन्तु सहस्रों में किसी एक को भी यथार्थ लाभ होना प्रत्यक्ष नहीं होता हानि बहुत अधिक होती है।

प्राय पुजारी लोग विद्या व विचार रहित आपही असत्कर्म करनेवाले इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने हे उनसे दूसरे को उत्तम उपदेश व ज्ञान की वृद्धि क्या हो सकती है जो वैरागी कहे जाते हैं वे महारागी विषयासक्त गाजा, चरस, भङ्ग पीना और ठाकुर जी के द्वारा भोग लगाकर अच्छे भोजन करना और सेवक और शिष्यों से धन लेना यही उनका भजन योगाभ्यास व साधुपन है जो आचरण चित्रकूट अयोध्या आदि स्थान विशेष के महन्तों और साधुओं के हैं इनके व्याख्यान करने की आवश्यकता नही है वर्तमान समय में प्राय लोक जनों को ज्ञात हे और अन्वेषण करने से ज्ञात हो सकते हैं इससे जो मन्दिरों को बनवाकर और उनमें देवताओं की मूर्तियों को स्थापन करके राजा महाराजा व धनवान महाशयों ने उनके व्यय के लिये बहुत धन समर्पण किया है और ग्राम आदि लगा दिया है परन्तु जिस पुण्य व धर्म होने के लक्ष्य से ऐसा किया है उसके विरुद्ध होता है उस धन से मूर्ख दुराचारी पुजारियों व महन्तों के दुराचरणों से असत् व्यय होता है जिससे अधर्म आचरण होता है धर्म की हानि होती है यदि उस धन से पाठशाला बनवाकर उसमें उत्तम धर्मवान् विद्वान् अध्यापक नियत किये जाते और ब्रह्मचर्य धर्म में प्रवृत्त ब्रह्मचारी बालक वेद शास्त्र आदि विद्याओं का अध्ययन करते तो आर्यावर्त्त अर्थ धर्म काम और मोक्ष के अधिकारी उत्तम विद्वानों व महात्माओं से शोभित होता अविद्या और अधर्म युक्त जनों से अधर्म आचरण की वृद्धि को प्राप्त हो ऐसी अवनति को और दुर्दशा को प्राप्त न होता जैसा कि वर्तमान समय में होरहा है।

इससे राजा महाराजाओं को देशाधिपतियों को उचित है कि जो वेद व शास्त्र विरुद्ध पद्धति हे उसके रोकने व विचार व निर्णय से वेद व शास्त्र के अनुकूल विधि की प्रवृत्ति होने का प्रयत्न करें जिससे आर्यावर्त्त फिर पूर्व के समान उत्तम अवस्था को प्राप्त होवे।

वैष्णव आदि क जो अनेक सम्प्रदाय व पन्थ प्रचरित हुये हैं वह यद्यपि मन कल्पित उनके प्रचार करनेवाला न प्रचरित किया है तथापि जो विद्या प्राप्त करना व विचार करना अपना मुख्य कर्तव्य व धर्म नियत करते तो स्वयं उत्तम व सत्य को निश्चय करके हानिकारक व अनुचित आचरण में प्रवृत्त न होते और अन्य को भी अधर्म और अनुचित आचरण में प्रवृत्त करके उत्तम मार्ग से विमुख करके महाघोर अनर्थ रूप वन में भटका कर अपने शिष्यों के दुर्गति व दुःख के कारण न होते विचारशील सज्जन विद्वान् महाशय सम्प्रदायियों व पन्थायियों के इस दुराचरण पर ध्यान देवें कि अज्ञान बालकों को उनके निर्धन माता पिताओं से धन देकर अथवा अन्य हेतु से बालकों को प्राप्त करके उनको शिष्य कर लेते हैं और वैरागी बनाते हैं क्या आश्चर्य व शोक का स्थल है कि आपने तो अपनी आयु इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होकर व्यतीत करदिया वृथा वैरागी नाम से प्रसिद्ध रहे फिर वे अपने शिष्य को क्या वैराग का उपदेश करेंगे और वैरागी बनावेंगे वैराग तो क्रम से ब्रह्मचर्य

आश्रम में विद्या अध्ययन करके जो गृहस्थ आश्रम में धर्माचरण में विचारपूर्वक प्रवृत्त होता है फिर सत्सङ्ग व विचार से संसार के अनित्य सुख व सम्बन्ध से जो उदासीनता होती है उसको विराग कहते हैं जब विराग होने से वह वानप्रस्थ हो फिर सन्यास धारण करता है वह विरागी (विरागयुक्त अर्थात् संसार के विषयों के राग अर्थात् स्नेह से रहित) होता है।

और कोई कोई पूर्व जन्म के उत्तम संस्कार से ब्रह्मचर्य आश्रम ही से विद्या सत्संग व विचार से सांसारिक सुख व विषयों को अनित्य व तुच्छ समझकर विरक्त हो (विराग को प्राप्त हो) सन्यास को धारण करते हैं वही सन्यासी अथवा अन्य जो सांसारिक सुख व इन्द्रियों के विषयों को अनित्य व तुच्छ जानकर उनसे उदासीन हो उनकी कामना को त्यागकर परमात्मा के ध्यान व उपासन में रत होते हैं वैरागी शब्द से वाच्य हो सकते हैं।

जो विराग विचारवान् विद्वान् इन्द्रियों के विषयों को भोग किये हुये उनके दु ख व सुख को अनुभव किये हुये को भी किसी किसी को प्राप्त होता है वह अज्ञान बालक जिनको नाममात्र के वैरागी पन्थाई ने शिष्य करलिया है व कर लेते हैं फिर विद्या सत्सङ्ग को भी कभी प्राप्त नहीं करते व प्राप्त नहीं होते कैसे हो सक्ता है वे जब युवा अवस्था को प्राप्त होते हैं तब प्रबल इन्द्रियोंके वश हो विषय सुखही में आसक्त होते हैं फल यह होता है कि गृहस्थ आश्रम व वैरागीपन या जिस पन्थ व सम्प्रदामें शिष्य होते हैं उनसे दोनों से भ्रष्ट हो । ई घर में रहते तो माता व पिता की सेवा करते माता व पिता को उनसे सुख प्राप्त होता माता व पिता उनको विद्या अध्ययन कराते गुणवान करते तो उनसे और लोक जनों का व कुल का उपकार होता यदि ऐसा न होता तो भी विवाह करने से स्त्री व पुरुष को जो परस्पर सुख प्राप्त होता है वह प्राप्त होता सन्तान की उत्पत्ति होती उससे वंश की वृद्धि होती इन सब के नाश करनेवाले अज्ञान बालकों को शिष्य करके उनका गृह सम्बन्ध वंश सम्बन्ध से पृथक् करने वाले (अलग करने वाले) आधुनिक पन्थवाले साधु वैरागी व महन्त हैं।

वर्तमान समय में कोई कोई गोसाई व सन्यासी भी ऐसे अधर्माचरण करते हैं ऐसा करना आश्रम धर्म विरुद्ध और अनुचित ही है यह कितना बड़ा अनर्थ व दुष्टाचरण है कि अज्ञान बालक जो विद्या प्राप्त करके यथोचित आश्रमों में प्रवृत्त होते तो लोक व परलोक दोनों में उत्तम फल प्राप्त करते यदि परलोक के सुख का साधन न कर सकते तो सांसारिक ही कार्य को करते वे दोनों से भ्रष्ट करदिये जावें।

जो ऐसे अनुचित कर्म के करनेवाले हैं वे अपने हृदय में विचारें तो उनको अपनी ही बुद्धि से निश्चित होजावगा कि यह अति अनुचित कर्म है।

ऐसे शिष्य करनेवालों ने सहस्रों बालकों को भ्रष्ट करदिया और सहस्रों कुल की वृद्धि व सन्तान को नाश करदिया है इससे यह महा पाप रूप आचरण है। साधुओं व महन्तों को यह उचित है कि जब कोई आपके [illegible]

की वृत्ति व समझ से विरक्त होकर गृह को त्यागकर आवे और उनसे उपदेश किये जाने व शिष्य होने की प्रार्थना करे तब अपनी योग्यता और उसकी योग्यता को विचार कर उसको उपदेश करें और शिष्य करें या यथोचित सत्य निर्देश वा शिक्षा करें यही सत्य धर्म व कल्याण कारक है सारांश यह है कि जो वेद शास्त्र और आप्त महर्षियों के उपदेश के अनुसार विधि है वही सत्य मन्तव्य व कर्त्तव्य है और जो उसके विरुद्ध हो वह यथार्थ व मन्तव्य नहीं है क्योंकि उसमें उक्त प्रकार से अवश्य दोष प्राप्त होता है उसका सर्वथा निर्दोष होना सिद्ध नहीं होता ॥

इतिश्रीतत्वमार्तण्डे*श्रीस्वामीप्रभूतानन्दनिर्मितेमूर्ति पूजनमूर्तिपूजकादिवर्णनविषयेतृतीयोऽध्यायः ॥

अथ विष्णु शिव तथा राम आदि अवतारों की उपासना की समीक्षा का विषय ।

आर्यसमाजियों से और पौराणिक तथा अन्य मतान्तरावलम्बी जो विष्णु शिव और अवतारों के मानने वाले व उनकी उपासना करने वाले हैं उनसे परस्पर विरोध होने का कारण यह है कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के मतानुसार आर्यसमाजी परमात्मा का अवतार लेना और परमात्मा से अन्य विष्णु आदि देवताओं और अवतारों को उपास्य होना नहीं मानते ।

उस विषय में सिद्धान्त निर्णय करने की समीक्षा की जाती है ।

उक्त स्वामी जी ने जैसे वेदों में अवतार का वर्णन न होना और अपने निश्चय और भाव के अनुसार ब्रह्म से भिन्न का उपास्य न होना लिखा है वह यथार्थ है परमात्मा का अवतार होना वेदों से(मन्त्र संहिताओं से) सिद्ध नहीं होता और उपनिषद् ग्रन्थों में भी कहीं विष्णु आदि अथवा अवतारों का उपासना का वर्णन नहीं है अर्थात् जो मुख्य वेद सम्बन्धी विशेष वाजसनेय आदि दस व बारह उपनिषद् ग्रन्थ हैं उनमें नहीं है जो पुराणों के समान आधुनिक कल्पित रामपूर्वतापनीय रामोत्तरतापनीय नृसिंह पूर्वतापनीय नृसिंहोत्तर तापनीय

---

* ग्रंथ बनाने के समय में मेरा नाम प्रभुदयाल था ग्रंथ छपने से पहिले संन्यास धारण करने से अब मेरा नाम प्रभूतानन्द होगया है ग्रंथ में पूर्व नाम लिखा रहने से दो अध्याय में प्रभुदयालनिर्मिते ऐसा छप गया है परन्तु अब वर्तमान नाम का लिखना उचित समझकर इस अध्याय में स्वामी प्रभूतानन्द निर्मित लिखा गया है अब आगे ऐसाही लिखा जायगा ।

आदि उपनिषद् हैं यत प्रमाण रूप से मन्तव्य नहीं है यद्यपि वेदों में कर्मविधान आदि अनेक विषयों के वर्णन करने के साथ ब्रह्मज्ञान का उपदेश रूप उपनिषद् विद्या भी है तथापि वेदों में से सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान व उपासना मात्र के उपदेश के अंश को ग्रहण करके और अपने तप व योग साधन से प्राप्त हुये ज्ञान से महर्षियों ने उपनिषद् ग्रंथों में ब्रह्मज्ञान व ब्रह्म के प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया है।

इससे मुख्य ब्रह्म की उपासना व प्राप्ति की विद्या उपनिषद् है जिसको सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म प्राप्ति का द्वारा होने के अंश में वेदों से भी श्रेष्ठ होना मुण्डक उपनिषद् खण्ड १ मन्त्र ५ में इस प्रकार वर्णन किया है।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

अर्थ—तिन में अर्थात् परा व अपरा दो प्रकार की विद्याओं में ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये सब अपरा विद्या हैं और परा (सब से उत्कृष्ट) वह है जिस से वह अविनाशी परमात्मा प्राप्त होता है (अर्थात उपनिषद् विद्या है) इस उपनिषद् विद्या में और सांख्य योग दर्शनों में यद्यपि विष्णु और रामकृष्ण आदि द्वारा उपासना का वर्णन नहीं है परन्तु भाव विशेष से उपनिषद् व योगदर्शन के आशय से इनकी उपासना की विधि सिद्ध होती है और युक्ति व हेतु से भी निश्चित व प्रमाण युक्त होने से मन्तव्य व कर्त्तव्य है।

स्वामी जी ने अपने ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में स्पष्ट यह लिखा है कि जो पक्षपात से अन्यथा खण्डन वा मण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायगा हाँ जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्य असत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।

जब स्वामी जी की ऐसी प्रतिज्ञा थी यदि कोई विद्वान् सत्प्रमाण व हेतुओं से उक्त उपासनाओं का युक्त होना सिद्ध करता और स्वामी जी ने जो उक्त प्रकार की उपासनाओं पर आक्षेप किया था उनका यथार्थ उत्तर देता तो स्वामी जी अवश्य उसके मत को स्वीकृत करते क्योंकि स्वामी जी सत्यार्थी थे पक्षपात करने वाले नहीं थे परन्तु वेदशास्त्रों का पठन व विचार की न्यूनता होजाने के कारण से किसी ने यथार्थ प्रमाण से सिद्ध नहीं किया और स्वामी का पक्ष स्पष्ट रूप से सत्य ही था इससे स्वामीजी ने उक्त प्रकार की उपासना को नहीं माना न स्वामी जी की अवस्था के लिये उक्त प्रकार की उपासना के मानने की आवश्यकता थी।

मुझे इस हेतु से निश्चय है कि जो कोई युक्ति हेतु व प्रमाण से उक्त प्रकार की उपासना को पक्षपात रहित हो भाव विशेष से युक्त होना सिद्ध करना तो

स्वामी जी उसके मत में संगृहीत करते यह पक्षपाती नहीं थे क्योंकि एक तो स्वामी जी स्वय सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में जैसा वर्णन किया गया है कि जो मनुष्य मात्र का हितैषी होकर जनावेगा उसको सत्य समझने पर उसका मत सगृहीत होगा दूसरे मुझे उक्त स्वामी जी के सत्य के स्वीकार करने व अपने पक्ष में आग्रह न करने की परीक्षा प्राप्त हो चुकी है सम्वत् १९३२ में लखनऊ में एक विषय पर वार्ता होने में मेरे आक्षेप को अपने पक्ष के उदाहरण के विरुद्ध सत्य जानकर स्वामी जी ने स्वीकार कर लिया है अपने पक्ष का पालन नहीं किया उसका विशेष व्याख्यान यह है कि उक्त सम्वत् में मैं लखनऊ में था स्वामी जी का नाम प्रसिद्ध सुनकर उनके दर्शन और सत्सग की अभिलाषा थी दैव सयोग से एक दिन यह विदित हुआ कि आज स्वामी जी यहाँ आये है मुहल्ला हुसेनाबाद में स्थित है सन्ध्या समय में मै गया तो वहा कई एक महाशय और गगाधर शास्त्री के कई एक शिष्य उपस्थित थे उनसे और स्वामी जी से वार्ता हो रही थी जब समाप्त हुई तब मैंने स्वामी जी से कहा कि मैं भी कुछ प्रश्न किया चाहता हू मेरे यह कहते ही जो पण्डित गगाधर शास्त्री के शिष्य थे उन्होंने स्वामी जी से कहा कि स्वामी जी इनसे आप वार्ता न करें ये नास्तिक बौद्ध हैं उनके यह कहने का कारण यह था कि उनके गुरू गगाधर शास्त्री जी से ब्रह्म के निर्गुण होने के विषय में मैंने प्रश्न किया था और उनके उत्तर देने में जो प्रतिषेध किया था उसका यथार्थ उत्तर उक्त शास्त्री जी ने नहीं दिया था और मैंने यह भी कहा था कि जब तक युक्ति प्रमाण से कोई पक्ष सिद्ध न हो तो केवल किसी ग्रथ में लेख होने से यथार्थ होना स्वीकार नहीं करता इस से उक्त शास्त्री जी और उनके शिष्य जो वहाँ उपस्थित थे मुझ से द्वेष रखते थे। स्वामी जी ने उक्त पण्डितों से बौद्ध होना सुनकर मुझ से यह प्रश्न किया कि क्या तुम जो युक्ति व हेतु से सिद्ध हो उसी को मानते हो मैंने कहा हा ग्रथ के ऐसे लेखको नहीं मानता जो प्रमाण से विरुद्ध हो जो बात विचार से प्रमाण द्वारा निश्चित हो उसी को मानता हू स्वामी जी ने कहा कि तो तुम बौद्ध हो हम तुम्हारे पक्ष का अच्छे प्रकार से खण्डन कर देंगे क्योंकि हम से बहुत बौद्धों से वार्ता हुई है यद्यपि मैं बौद्ध नहीं था तथापि मैंने यह नहीं कहा कि बौद्ध नहीं हू मैंने यह कहा कि मुझे यह विदित होता है कि मैं और आप दोनों बौद्ध हैं स्वामी जी ने कहा कि हम बौद्ध क्यों हैं ? मैंने कहा कि आप किस हेतु से वेदों मात्र को तथा अन्य जो वेदानुकूल हो उनको सत्य और अन्य पुराण आदि ग्रथों को असत्य मानते है स्वामी जी ने कहा कि पुराण आदि अन्य ग्रथों में बहुत अयुक्त और असभव कथाओं और विषयों का वर्णन है इस से मानने योग्य नहीं है मैंने कहा यदि वेद में भी किसी मत्र में कोई लेख प्रमाण व युक्ति के विरुद्ध हो तो वह भी मन्तव्य न होगा स्वामीजी ने कहा कि हम वेदों के एक एक मन्त्र को अच्छे प्रकार से विचार कर जाच लिया है वेद में कोई लेख ऐसा नहीं है जो अयुक्त और प्रमाण के विरुद्ध हो इससे

हम इस प्रकार से वेद मन्त्रों के दोष रहित होने में निस्सन्देह हैं जैसे कोई सर्राफ जो रुपयों को जांचकर निर्दोष होना निश्चय करके एक थैली में रख लेता है उसको यह सन्देह नहीं रहता कि मेरी थैली में कोई रुपया खोटा है और कोई उसके रुपयों को दूषित कर सकेगा मैंने कहा कि आपके इस वाक्य ही से आपका बौद्ध होना सिद्ध हो गया (प्रश्न स्वामी जी) कैसे (उत्तर) सर्राफ का रुपयों के परखने में यही आशय होता है कि जो रुपया खोटा (दूषित) ज्ञात हो वह निकाल कर पृथक कर दिया जावे फिर जांच में जो निर्दोष उत्तम होते हैं उनको रखता है खोटे रुपयों को पृथक कर देता है यदि कोई भी रुपया किसी थैली का जिसकी जान्च करे खोटा न निकले घटना से ऐसा हो जाना यह दूसरी बात है परन्तु आशय जो खोटे के स्वीकार न करने का है उसमें भेद होना सिद्ध नहीं होता वैसे ही यद्यपि कोई मन्त्र वेद में आपको प्रमाण विरुद्ध व अयुक्त प्रतीत नहीं हुआ परन्तु जब आपने जांचा अर्थात् परीक्षा की तो इसका आशय यह निश्चित होता है कि यदि कोई मन्त्र आपको विचार से दोष युक्त विदित होता तो आप न मानते और जब आपने जांच किया तो यह भी सिद्ध हुआ कि आपने वेद से पर बुद्धि को माना है बुद्धि से पर वेद को नहीं माना इससे आपका बौद्ध होना सिद्ध है।

यह सुन कर कहा कि आपका कहना यथार्थ है हमारे मुखसे ऐसा वाक्य निकल गया कि जिससे आपके आक्षेप का उत्तर नहीं हो सकता हम साधारण सब के समान जान कर कह दिया है तुम्हारे साथ विशेष विचार के साथ वार्ता नहीं की। हमको अब ज्ञात हुआ कि तुम विचारवान पुरुष हो।

फिर आठ दिन तक आपने सामने अनेक विषयों में पक्ष प्रतिपक्ष के साथ वार्ता होती रही उसके पश्चात् भी एक महीना पांच दिन तक नित्य मेरा और स्वामी जी का सत्सङ्ग होता रहा उस समय में स्वामी जी ने कहा था कि ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश छप गया है ऋग्वेद भाष्य भूमिका को स्वामी जी ने लिखना आरंभ किया था फिर द्वितीयवार स्वामी जी से भेंट नहीं हुई।

दूसरा वर्णन स्वामी जी के सत्य के स्वीकार करने के प्रमाण में यह है कि स्वामी जी ने विद्यार्थियों को संस्कृत बोलना सीखने के लिये एक लघु ग्रंथ संस्कृत वाक्य प्रबोध बनाकर छपवाया था उसमें कई एक पद व्याकरण विरुद्ध अशुद्ध पाकर काशी के कई एक पंडितों ने बडे हास्य के साथ स्वामी जी के लेख की अशुद्धियों को छपाया था उस पर स्वामी जी के कोई शिष्य विशेष ने उन अशुद्ध पदों के शुद्ध ठहराने का पक्ष ग्रहण करने और वाद प्रतिवाद करने की इच्छा की थी परन्तु स्वामी जी ने अशुद्धियों को सत्य मान कर कहा कि असत् पक्ष का ग्रहण करना धर्मवान् का काम नहीं है इसके उत्तर में अशुद्धियों को स्वीकार करना चाहिये ग्रंथ को शुद्ध करके फिर छपाना चाहिये स्वामी जी की आज्ञा की अनुसार अशुद्ध पदों को शुद्ध करके फिर उक्त पुस्तक छपाया गया और अशुद्धियों के विषय में किसी स्वामी जी के शिष्य ने यह लिखा है या

कि संस्कृत वाक्य प्रबोध में अशुद्ध पदों के छप जाने का कारण यह है कि जब वह छपा है स्वामी जी का शरीर स्वस्थ नहीं था इससे स्वामी जी विचार के साथ देख नहीं सके और कोई सुबोध पण्डित स्वामी जी के पास उस समय में उपस्थित न था अब उसको शुद्ध करके फिर छपा दिया है।

इन दो उक्त उदाहरणों से यह निश्चय किया जाता है कि जो सत्प्रमाण व हेतु से कोई पक्ष सिद्ध किया जाता तो स्वामीजी उसको स्वीकार करते थे वर्तमान समय के आर्य्य समाजियों के समान आग्रही न थे अब किस प्रमाण व हेतु से विष्णु आदि की उपासना का युक्त होना सिद्ध होता है इसको इस प्रकार से कि जो जो स्वामी जी ने इस विषय में आक्षेप या शङ्काओं को किया है। और अन्य आक्षेप व शङ्का जो प्रतिपक्ष में कर्तव्य हैं उनके स्थान में प्रश्न शब्द और समाधान के स्थान में उत्तर शब्द कोष्ठ में रख कर प्रश्न और उत्तर के साथ समीक्षा की जाती है॥

यह सत्य है कि मुख्य उपास्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा ब्रह्म ही है परन्तु जो उत्तम अधिकारी नहीं हैं और निराकार सर्वव्यापक परमात्मा के ध्यान व उपासना में चित्त स्थिर नहीं कर सकते उनके चित्त की प्रथम एकाग्रता प्राप्त होने के लिये विष्णु शिवराम कृष्ण में ब्रह्म दृष्टि व ब्रह्मभाव करके ब्रह्म की उपासना करना उपयोगी युक्त और उपनिषद् व वेदान्त दर्शन शिक्षा के आशय के अनुकूल है और जो उपनिषद् व उपासना के रहस्य के जानने वाले हैं वह विष्णु व राम आदि की व्यक्तियों में ब्रह्म दृष्टि व ब्रह्मभाव धारण करके सर्वोत्कृष्ट सर्वव्यापक ब्रह्म ही की उपासना करते हैं विष्णु शिव और राम कृष्ण व्यक्तियों को अपने चित्त वृत्ति के अधिकार के अनुसार ब्रह्म की उपासना का द्वारा मानते हैं (प्रश्न) उपनिषद् वेदान्त और अन्य दर्शन ग्रंथों में विष्णु शिव और राम आदि अवतारों की उपासना का कहीं वर्णन नहीं है फिर उपनिषद् वेदान्त व अन्य शास्त्र के अनुकूल कहना कैसे सत्य व मन्तव्य हो सकता है (उत्तर) यद्यपि विष्णु आदि के नाम के साथ विष्णु आदि की उपासना का वर्णन शास्त्रों में नहीं है परन्तु विचार करने से उपासना विधायक वाक्यों के आशय से उनके उपासना की विधि साङ्ख्य योग वेदान्त दर्शन के सूत्रों व उपनिषद् वाक्यों से सिद्ध होती है इस विषय को इस प्रकार से व्याख्यान से निश्चय करना चाहिये कि महर्षि कपिलाचार्य जी ने साङ्ख्य दर्शन में प्रत्यक्ष का ऐसा लक्षण वर्णन करके।

यत्सम्बद्धं सत्तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् ॥

सा० अ० १ सू० ८९

अर्थ—जो सत् अर्थात् भ्रान्ति विकार दोष रहित सम्बद्ध (सम्बन्ध को प्राप्त) अर्थात् इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध को प्राप्त वस्तु है उसका यथार्थ आकाररूप जो विज्ञान (बुद्धि वृत्ति) है वह प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष प्रमाण) है॥

फिर बुद्धि में यह तर्क और समाधान धारण करके कि योगियों को जो भूत भविष्यत और व्यवहित अर्थात् पृथिवी आदि में गडी हुई वा कहीं आड में प्राप्त वा ढकी हुई वस्तु का जिसके साथ नेत्र आदि इन्द्रिय का सन्निकर्ष (साक्षात सम्बन्ध) नहीं होता उसका ज्ञान होता है उसमें यह प्रत्यक्ष का लक्षण घटित नहीं हो सकता ऐसा न होने से लक्षण में अव्याप्ति दोष की प्राप्ति की शङ्का हो सकती है परन्तु यह लक्षण लौकिक जनों के इन्द्रियों के सामर्थ्य के लिये वर्णन किया गया है योगियो के इन्द्रिय जन्य ज्ञान में दोष की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् योगियों को जिनको योग के प्रभाव से विलक्षण ज्ञान होता है वे लौकिक मनुष्यों की कोटि से पृथक है उनमें विशेष सामर्थ्य प्राप्त होने से उनकी गणना इनमें नहीं हो सकती इससे उनके प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याप्ति न होने से दोष नहीं है। यह वर्णन किया है।

योगिनामबाह्य प्रत्यक्षत्वान्न दोषः ॥ सा अ० १ सू० ९०

अर्थ—योगियों को बाह्य (जो बाहर इन्द्रियों के पहुंच में नहीं है उसका) प्रत्यक्ष होने से दोष नहीं है ॥ ९० ॥

व्याख्यान इसका पहिले हो कर दिया गया है इस प्रकार से लक्षण का निर्दोष होना कहकर फिर यह विचार कर कि यद्यपि योग सिद्ध होने की अवस्था में योगियों का प्रत्यक्ष सत्य है परन्तु लौकिक जनों की बुद्धि अनुसार योगज (योग से हुआ) प्रत्यक्ष लौकिक जनों के प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जब प्रत्यक्ष का अभाव हुआ अर्थात् योगियों के योग से उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष में उक्त प्रत्यक्ष के लक्षण की व्याप्ति वा प्राप्ति न होने से प्रत्यक्ष का अभाव हुआ तब अनुमान आदि जो प्रत्यक्ष पूर्व कहीं होते हैं उनका भी अभाव हो गया जब लौकिक जनों के प्रत्यक्ष से विलक्षण योगियों के प्रत्यक्ष की सिद्धि किसी प्रमाण से बुद्धि के द्वारा लौकिक मनुष्य नहीं कर सकते न हो सकती है तब ईश्वर की सिद्धि भी प्रत्यक्ष के अभाव से तर्क द्वारा प्रत्यक्ष व अनुमान आदि से नहीं हो सकी इसी आशय से ईश्वर के प्रतिषेध करने में प्रथम यह वर्णन किया है **ईश्वरा सिद्धेः** सा० अ० १ सू० ९२ ॥

अर्थ—ईश्वर की सिद्ध न होने से ॥९२॥

परन्तु इतना ही कहने से वाक्य की पूर्णता नहीं होती इससे पूर्व सूत्र में जो दोष नहीं है यह कहा है उसकी अनुवृत्ति इस सूत्र में आती है अनुवृत्ति से न दोष शब्द इस सूत्रों में मिलाने से सूत्र का पूरा अर्थ यह होता है कि ईश्वर की सिद्ध न होने से दोष नहीं है।

इसका आशय यह प्राप्त है कि जैसे योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष में लक्षण, की व्याप्ति न होने से प्रत्यक्ष के लक्षणमें दोष नहीं है और प्रत्यक्ष असत्य नहीं है वह सत्य ही है इससे जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध न होने से योगियों के प्रत्यक्ष में असत्य होने का दोष नहीं है ऐसे ही प्रत्यक्ष आदि से ईश्वर की सिद्ध

न होने से दोष नहीं है अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में दोष नहीं है योगज प्रत्यक्ष के समान उसका (ईश्वर का) यथार्थ ज्ञान योगज ज्ञान ही से होता है तर्क और प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से नहीं होता।

इस आशय के साथ आगे प्रकृति ही पुरुष की सन्निधिमात्र से चुम्बक की सन्निधि-मात्र से लोहे में गतिप्राप्त होने के समान चेतनता गुण को धारण करके जगत् को उत्पन्न करती है प्रकृति ही को जगत् की उत्पन्न करने वाली व उपादान कारण होना वर्णन करने के तात्पर्य से ईश्वर का प्रत्यक्ष व अनुमान आदि से जगत् के कर्ता होने का इस प्रकार से प्रतिषेध किया है कि ईश्वर चेतन आत्मा मुक्त अथवा बद्ध दो ही प्रकार का हो सका है मुक्त होने में सृष्टि में प्रवृत्त करने वाले अभिमान, प्रयोजन राग आदि हेतु न होने से ईश्वर सृष्टि को नहीं कर सका और बद्ध होने में मूढ़ होने से ऐसे विचित्र नियमों से युक्त सृष्टि महा कार्य्य को नहीं कर सका।

इस प्रकार से ईश्वर का प्रतिषेध करने पर इस तर्क के उत्तर के लिये कि जो ईश्वर के सृष्टि कर्ता होने की व उसकी सिद्धि न मानी जावेगी तो जिन श्रुतियों में ईश्वर के गुणों की प्रशंसा और उपासना का वर्णन है वे अमन्तव्य व मिथ्या हो जावेंगी यह वर्णन किया है।

मुक्तात्मन'प्रशंसा उपासा सिद्धस्यवा ॥ सा० अ० १ सू० ९५॥

अर्थ— मुक्तात्मा की प्रशंसा अथवा सिद्ध की उपासना है ॥ ९५ ॥

अर्थात् ईश्वर प्रतिपादक श्रुतियों में मुक्तात्मा की अर्थात् नित्य मुक्त व्यापक चेतन आत्मा की (आत्म सामान्य रूप चेतन पुरुष की) अथवा विशेष ज्ञान, तप और योग से प्रकृति के बन्धन से मुक्त हुए आत्मा की प्रशंसा अथवा सिद्ध पुरुष की अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु शिव ऐसे भौतिक कार्य पदार्थों की सृष्टि आदि में विशेष सामर्थ्य वाले उत्पन्न हुए सिद्ध पुरुष की उपासना का वर्णन है इस कपिलाचार्य के वाक्य से सिद्ध पुरुष का भी उपास्य होना और ईश्वर शब्द से वाच्य होना सिद्ध होता है तथा महर्षि पतञ्जलि जी ने योग दर्शन में ईश्वर का ऐसा लक्षण वर्णन किया है

क्लेश कर्म विपाका शयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वरः ॥

योगदर्शन पाद १ सू० २४॥

अर्थ—जो क्लेश कर्मफल और कर्मफलों के आशयों से रहित पुरुष विशेष है वह ईश्वर है।

इसमें फिर इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कि जो मुक्तात्मा राग द्वेष मोह रहित तप व योग विशेष से कर्म बंधन से रहित हो क्लेश कर्म विपाकों से रहित परमात्मा के समान आनन्द को प्राप्त उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् हुये हैं वे भी इस लक्षण के अनुसार ईश्वर शब्द से वाच्य हो सक्ते हैं क्या वे ही ईश्वर हैं यह वर्णन किया है

पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात् यो० पा० १ सू० २६

पूर्ववालों का भी गुरु है अर्थात् पूर्ववालों से भी श्रेष्ठ है काल भेद की मर्यादा रहित होने से ॥ २६ ॥

इस सूत्र वाक्य में पूर्व में हुये मुक्तों व सिद्ध पुरुषों से इस हेतु से ईश्वर का उत्कृष्ट होना वर्णन किया है कि पूर्व में अर्थात् सृष्टि की आदि में हुये मुक्त व. सिद्ध पुरुष काल भेद की मर्यादा के अन्तर्गत वा काल परिमाण भेद से युक्त हैं ईश्वर काल भेद से रहित नित्य कर्माशयों व क्लेशों से रहित मुक्त है इस वर्णन का आशय दो प्रकार से ग्राह्य हो सकता है एक यह कि पूर्व में हुये मुक्त पुरुष कर्म बंधन में रहकर उत्कृष्ट तप व योग से प्रकृति के बंधन से रहित हो मुक्त व सिद्धरूप विशेष सामर्थ्यवान हुये हैं ईश्वर के क्लेश कर्म विपाक आशयों से रहित होने में काल की सीमा का भेद नहीं है दूसरा व्याख्यान यह हो सका है कि कर्म बंधन के होने वा न होने का सम्बन्ध पूर्व से कुछ नहीं है न सूत्र वाक्य में कोई शब्द कर्म बंधन के अध्याहार करने की विशेषता सूचक है सूत्र में केवल "काल भेद रहित होने से" यह हेतु वर्णन किया है इससे इसका आशय यह ग्राह्य है और यही आशय विष्णु, आदि के उपासक सत् पुरुष ग्रहण करते हैं कि नित्य मुक्त परमात्मा ही सत्व रज तम गुण रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति का एक गुण विशिष्ट ब्रह्मा, विष्णु शिव नामक तीन व्यक्तियों को सृष्टि करने आदि प्रयोजन विशेष से उत्पन्न कर अपने विशेष सत्ता सामर्थ्य से उनमें प्राप्त होता है परन्तु शरीर नित्य नहीं रहता इससे प्रलय में उनके शरीर नष्ट होकर प्रकृति में लीन हो जाते हैं उत्पन्न शरीर के आदि व अन्त होने से उक्त मुक्त व सिद्ध पुरुषों में काल की मर्य्यादा का भेद है शरीर रहित ईश्वर में काल भेद नहीं है इससे वह उनसे विशेष व उत्कृष्ट है।

अब ऐसा मानने में जो प्रतिपक्षवादी आक्षेप वा प्रश्न करते हैं और विष्णु आदि साकार रूप के उपासक अपने पक्ष के साधन में उत्तर दे सक्ते हैं उनका प्रश्न करने में प्रश्न शब्द अथवा पूर्व पक्ष और उत्तर देने में उत्तर शब्द कोष्ट में रखकर क्रम से प्रश्न और उत्तर को वर्णन करते हैं (प्रश्न) ईश्वर जन्म मरण रहित धर्म अधर्म कर्म संस्कार रहित है इससे उसका शरीर धारण करना सम्भव नहीं है न गर्भाशय में जो निकृष्ट व दुःख स्थान है उसमें प्राप्त होना मन्तव्य है इससे विष्णु, आदि व्यक्तियों को ईश्वर का तथा राम आदि व्यक्तियों को ईश्वर का अवतार मानना युक्ति हेतु व प्रमाण विरुद्ध है इससे मन्तव्य नहीं है (उत्तर) शरीर धारण करने में ईश्वर में जन्म मरण होने का दोष प्राप्त होने की बुद्धि तत्व ज्ञान न होने से केवल मिथ्या ज्ञान है क्योंकि जीवात्मा ही का जन्म मरण नहीं होता जन्म मरण शरीर मात्रका होता है जन्म मरण रहित जीवात्मा का जन्म मरण धर्म युक्त शरीर के साथ संयोग वियोग

होता है यह संयोग व वियोग ही उपचार से जीवात्मा का जन्म मरण कहा जाता है जब जीवात्मा ही का जन्म मरण नहीं होता तब ईश्वर में जिसका कर्मफल भोगके लिये शरीर के साथ संयोग व वियोग नहीं होता जन्म मरण प्राप्त होनेका कोई हेतु नहीं होसकता परन्तु जन्म मरण व क्लेश कर्म विपाकाशयों से रहित होने हुये भी सब शरीरों में जीवात्मा के साथ ईश्वर परमात्मा का भी रहना श्रुति वर्णन करती है इसके प्रमाण में यह ऋग्वेद का मंत्र है।

"द्वासुपर्णा सयुजासखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।

अर्थ-दो पक्षी जीवात्मा व परमात्मा मित्र भावसे मिले हुये एक वृक्ष में अर्थात् शरीर रूप वृक्ष में अच्छे प्रकार से एक साथ रहते हैं उनमें से एक अर्थात् जीव कर्म फलको खाता उसके स्वादु का अनुभव करता है अर्थात् दुःख सुख भोग करता है दूसरा परमात्मा ईश्वर फल को न खाता हुआ साक्षी रूप से देखता है तथा कठवल्ली उपनिषद् में तृतीय वल्ली में यह मन्त्र है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहाम्प्रविष्टौ परमेपरार्ध्ये छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति इत्यादि

अर्थ-ऋतको अर्थात् सत्य अवश्य होनेवाले कर्मफल को पान करते हुये अर्थात् अनुभव करते हुये साध्य लोकमें गुहारूप हृदयमें परम उत्कृष्ट स्थान में प्रविष्ट दो छाया व प्रकाशके समान अर्थात् अज्ञान व ज्ञानरूप जीव व परमात्मा ईश्वरको ब्रह्म के जानने वाले कहते हैं इत्यादि इन दोनों श्रुतियों वा मंत्र वाक्यों में शरीर व हृदय देश में जीव और ईश्वर दोनोंका रहना वर्णन किया है पूर्व मंत्र में व इसमें सामान्यतः वर्णन होने से विशेषता ग्रहण करने का कोई हेतु विशेष उपलब्ध न होने से उत्कृष्ट योनियों के समान निकृष्ट शूकर श्वान आदि योनियों के शरीरों में भी जीवात्मा के साथ ईश्वर का रहना सिद्ध होताहै परन्तु सब योनियों के शरीरों में रहते हुये भी योनि विशेष के कर्म और उससे प्राप्त सुख दुःख का भोग जीव ही करता है ईश्वर नहीं, परन्तु ईश्वर का सब शरीरों में रहना श्रुति प्रमाण से निश्चित है इससे यही सिद्ध होता है कि कर्म फल भोगके निमित्त शरीर धारण करना व शरीर में ईश्वर का होना अयुक्त है अन्यथा श्रुति प्रमाण से सब शरीरों में ईश्वर का जीव सहित विद्यमान होना सिद्ध होने से मुख्य अर्थ से जीव का और गौण अर्थ से ईश्वर का शरीरवान होना सिद्ध ही है अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिवी आदि भूतों से लेकर आत्मा पर्य्यन्त सब को परमात्मा का शरीर होना वर्णन किया है। यथा

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोय, पृथिवी न वेद यस्य

पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येषत आत्मान्तर्यामयमृतः ।

अर्थ—जो पृथिवी में रहते हुए पृथिवी से बाहर (अलग) है जिस को पृथिवी नहीं जानती जिसका पृथिवी शरीर है जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ पृथिवी को नियम में रखता है यह तेरा अर्थात् तुझ जीवात्मा का आत्मा (परमात्मा) अन्तर्यामी अमृत (मृत्यु रहित) है इसी प्रकार से सब भूतों घुलोक सूर्यचन्द्र आदि सब प्राणियों व इन्द्रियों को परमात्मा का शरीर होना वर्णन किया है परन्तु सब में सब शरीरों में रहने में भी जीव और ईश्वर में कर्म फल भोग करने और न करने आदि की विलक्षणता है जब जीव के कर्म फल भोग निमित्त जीव के लिये शरीर को उत्पन्न करके उनमें ईश्वर भी साक्षी रूप से स्थिर रहता है तब प्रयोजन वा हेतु विशेष से जीव के संग से रहित ईश्वर के शरीरवान होने वा शरीर में रहने में कोई दोष नहीं हो सक्ता (प्रश्न) सिवाय कर्म फल भोग के शरीर धारण करने का अन्य कोई हेतु शास्त्र में नहीं कहा अन्य हेतु क्या हो सकता है ईश्वर क्लेश व कर्माशयों से रहित है इससे उनका शरीर धारण करना मन्तव्य नहीं है (उत्तर) कर्म फल के सिवाय शरीर धारण करने का अन्य निमित्त क्लेश कर्माशयों से युक्त परतन्त्र जीवों के लिये नहीं हो सक्ता ईश्वर के लिये यह प्रतिषेध युक्त नहीं है क्योंकि कर्म भोग से भिन्न अन्य हेतु ईश्वर के सब शरीरों में विद्यमान होने का साक्षी होने अन्तर्यामी होने व्यापक होने का उक्तमन्त्रों और अन्य श्रुति में वर्णित है उक्त हेतुओं से पृथक विशेष हेतु विशेष शरीर धारण करने का लौकिक जनों पर परम दयालुता धारण करना अपने उत्तम उपदेश से तथा सामान्य शरीर धारियों मनुष्यों से असम्भव आश्चर्य जनक चरित्रों और गुणों को प्रकट करके लौकिक जनों के लिये श्रद्धा व प्रेम पूर्वक उपासना करने का सरल उपाय वा द्वारा प्राप्त करना वा प्रकट करना है क्योंकि जो उत्तम अधिकारी नहीं है सूक्ष्म विचार करने व निराकार में चित्त स्थिर करने की योग्यता नहीं रखते वे साकार रूपवान ईश्वर को सर्वोत्कृष्ट मान कर उसी में परमात्मा ब्रह्म, की दृष्टि वा भावना से उपासना करके सांसारिक क्लेशों से मुक्त होते हैं (पूर्व पक्ष) ऐसा मानना युक्त नहीं है ईश्वर विना कर्माशय के क्यों मल मूत्र युक्त गर्भ में प्राप्त होगा और शरीर को धारण करेगा और शरीर में सुख दुःख का अनुभव करेगा (उत्तर) विष्णु आदि के शरीर जो अयोनिज और दिव्य शरीर हे उनमें यह दोष प्राप्त ही नहीं हो सके अवतारों के विषय में उत्तर यह हे कि हम यह सिद्ध ही कर चुके है कि उत्कृष्ट व निकृष्ट शूकर आदि शरीरों में ब्रह्म, वा ईश्वर का होना श्रुति प्रमाण से सिद्ध होने पर सुख दुःख का भोग जीव ही का माना जाता है ईश्वर का नहीं इसके सिवाय जो तुम ईश्वर को अजन्मा शरीर रहित ही मानते हो तो भी मल मूत्र आदि के संयोग और उससे जन्य क्लेशों वा दोषों से रहित

ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि पृथिवी में मल मूत्र युक्त और ऐसे निकृष्ट सहस्रों स्थान हैं जिनमें जो किसी उत्तम मनुष्य को एक मुहूर्त बिना नासिका बन्द किये रहना पड़े तो व्याकुल हो जाय नरक दुःख भोग समझे उन निकृष्ट दुर्गन्ध युक्त वस्तुओं और उनके स्थानों में सदा ईश्वर उपस्थित वा विद्यमान रहता है क्योंकि जो ऐसे वस्तुओं और स्थानों में ईश्वर का न रहना माना जावे तो श्रुति प्रमाण से सिद्ध ईश्वर का विभु सर्वगत सर्वव्यापक होना मिथ्या होता है

यथा मुण्डक उपनिषद् में कहा है नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् इत्यादि

अर्थ-परमात्मा ब्रह्म नित्य व्यापक सब में प्राप्त अति सूक्ष्म है इत्यादि व्यापक सर्वगत होने के प्रमाण में अनेक श्रुति वाक्य हैं श्रुति प्रमाण के सत्य मानने में ईश्वर का ऐसे वस्तुओं व स्थानों में जगत् में सदा रहने में बिना पापाचरण के ईश्वर को पाप फल भोग करना सिद्ध होता है ईश्वर आकाश के समान व्यापक व जड़ नहीं है सर्वज्ञ है इससे दुर्गन्ध सुगन्ध का ज्ञान न होना मन्तव्य नहीं हो सक्ता जिससे ईश्वर में दुर्गन्धजन्य दुःख व दुर्गन्ध का बोध न माना जाय इसका उत्तर सिवाय इसके कि दुःख सुख जीव को होता है ईश्वर को नहीं उसका सामर्थ्य विलक्षण व तर्क से बाहर है तर्क के अनुकूल किसी हेतु व प्रमाण से यथार्थ उत्तर विदित नहीं होता ऐसे ही शरीर धारण करने के दोषों के विषय में जो तर्क हैं सब निर्बल समझना चाहिये पूर्व उक्त प्रमाण व युक्तियों से ईश्वर का शरीरवान होना मन्तव्य है लौकिक जन अपने तर्क मात्र से सब विषयों का निश्चय व सिद्धान्त नहीं कर सक्ते विशेष विषय में आप्त वाक्य व विशेषज्ञ सत्पुरुष गुरुजनों का उपदेश मन्तव्य है सर्व व्यापक ईश्वर का शरीर में वा गर्भ में आना वा जाना मन्तव्य नहीं हो सक्ता। किसी व्यक्ति में ईश्वर का अपने विशेष सत्ता व सामर्थ्य का व विशेष गुणों का प्राप्त वा प्रकट करना व्यक्ति विशेष का धारण करना वा अवतार होना माना जाता है।

उपासकों को चाहिये कि जिस व्यक्ति में उपासना करें उसमें श्रद्धा भावसे ब्रह्म ही की दृष्टि करके उपासना करें उपास्य की व्यक्ति में शरीर के धर्मों को तात्विक न समझें उपासना का द्वारा वा अधिष्ठान मात्र मान कर उपासना करें ऐसी उपासना वक्ष्यमाण हेतुओं और व्याख्यान से युक्त व प्रमाण सिद्ध है यदि ऐसा आशय ग्रहण न करके जो यही अर्थ ग्रहण करते हैं अथवा किया जाय कि पूर्व में हुये मुक्तों व सिद्ध पुरुषों ने इस हेतु से ईश्वर का उत्कृष्ट होना वर्णन किया है कि वे मुक्त पूर्व में कर्म बन्धन में रह कर उससे मुक्त हुये हैं ईश्वर नित्य बन्ध रहित परम सामर्थ्यवान् है उसके क्लेश कर्म विपाकाशयों से रहित होने में काल की सीमा का भेद नहीं है इससे उनसे पृथक् पुरुष विशेष

है तो भी ऐसा वर्णन करने से योग सूत्र के निर्माता पतञ्जलि ऋषि की सम्मति से मुक्त व सिद्ध पुरुषों का ईश्वर शब्द से वाच्य होने के योग्य होना सिद्ध होता है क्योंकि समान धर्मों की उपपत्ति में संशय प्राप्त होने में विशेष धर्म को जान कर या जनाकर विशेष का निश्चय किया या कराया जाता है।

इसी से मुक्तात्माओं में ईश्वर के लक्षण से ईश्वर होने का संशय प्राप्त होने पर काल भेद की मर्यादा रहित त्रिकाल में नित्य बंध रहित सर्वज्ञ आदि गुणों से ईश्वर का विशेष होना सूचित किया है।

यदि उक्त साङ्ख्य व योग सूत्रों का अन्य प्रकार का आशय ग्रहण किया जावे साध्य के साधन के लिये स्पष्ट और पर्याप्त न समझे जावें तो वक्ष्यमाण उपनिषद् वाक्य साधन के हेतु व प्रमाण रूप मन्तव्य है जिनसे यह सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा परमात्मा ब्रह्म व ईश्वर की उपासना विशेष से ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वर के समान आनन्द को प्राप्त विशेष सामर्थ्यवाले होते हैं इससे उपचार से ईश्वर नाम से वाच्य व उपास्य मानने योग्य है जैसे कोई महाराजा वा सम्राट विशेष अनुग्रह से अपने प्रधान वा महामात्र को विशेष अधिकार देता है वह अंश विशेष में सम्राट के अधिकार से न्यून रह कर अन्य अधिकारों में सम्राट के समान प्रवृत्त होता है ऐसे ही मुक्तात्मा के विषय में वेदान्त दर्शन में व्यास जी ने श्रुति के आशय के अनुसार ऐसा वर्णन किया है।

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

वेदान्त अ० ४ पा० ४ सू० १७॥

अर्थ—जगत् व्यापार को छोड़ कर (अर्थात् जगत् व्यापार के सिवाय) प्रकरण से व सन्निहित न होने से॥ १७॥

आशय इसका यह है कि मुक्तात्मा के भोग व ऐश्वर्य के विषय में ऐसा उपनिषद् में वर्णन किया है।

तस्य सर्वेषु लोकेषु काम चारो भवति ॥

अर्थ—उसका (मुक्त आत्मा का) सब लोकों में कामचार होता है अर्थात् जिस लोक को वह सङ्कल्प करता है वह उसको प्राप्त होता है।

सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सहब्रह्मणा विपश्चित: ॥

अर्थ—वह परम ज्ञानवान् मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ सब कामों को भोग करता है अर्थात् जो इच्छा करता है उसको अपने सङ्कल्प से प्राप्त करता है॥

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य मुपैति ॥

अर्थ—तब अर्थात् जब पूर्वपाद में वर्णन किये हुये के अनुसार ब्रह्म ज्ञानी परम तेज स्वरूप परमात्मा को जानता व प्राप्त होता है तब मुक्त

अवस्था को प्राप्त पुण्य व पाप से रहित हो अविद्या से रहित परमात्मा की परम समता को प्राप्त होता है इन वाक्यों से यह संशय होता है कि परम समता को प्राप्त होना सब लोकों में संकल्प मात्र से काम चार होना कहने से क्या मुक्तात्मा परमात्मा के समान आनन्द व सामर्थ्य वाला होजाता है इस संशय की निवृत्ति व भेद विज्ञापन के लिये व्यास जी ने यह सिद्धान्त सूत्र में सूचित किया है कि जगत व्यापार के सिवाय मुक्त को अन्य सामर्थ्य व ब्रह्म के समान आनन्द प्राप्त होता है अर्थात् अव्यक्त से महत्तत्व और आकाश आदि भूतों को उत्पन्न करके सृष्टि की उत्पत्तिकरने व प्रलय करने का सामर्थ्य परमात्मा ही को है क्योंकि अव्यक्त से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन ब्रह्म ही से उपनिषद् में और स्मृति वाक्यों में पाया जाता है।

मुक्त आत्मा के विषय में ऐसा वर्णन नहीं है भौतिक (आकाश आदि पंच भूतों से बनी हुई) सृष्टि करने का सामर्थ्य मुक्त आत्मा को प्राप्त होता है यह कैसे निश्चित होता है कि सिवाय परमात्मा ब्रह्म के महत्तत्वादि व आकाश आदि भूतों की सृष्टि मुक्त आत्मा नहीं कर सकते यह विज्ञापन के लिये दो हेतु उक्त सूत्र में वर्णन किया है प्रकरण से व सन्निहित न होने से अर्थात् सृष्टि वर्णन के प्रकरण से ब्रह्म ही का सृष्टि कर्ता होना निश्चित होने से।

क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वर्णन में ब्रह्म ही से उत्पन्न होना वर्णन किया है और मुक्त आत्मा के सन्निहित न होने से अर्थात् मुक्त का सन्निधान (योग या समीपता) न होने से मुक्त जगत् व्यापार को नहीं कर सकता यह सिद्धान्त है सृष्टि प्रकरण में ब्रह्म के उत्पन्न करने में यह वाक्य है यथा :—

स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमांल्लोकानसृजत ॥

अर्थ—उसने ईक्षा की कि लोकों को उत्पन्न करूं लोकों को उत्पन्न किया इत्यादि वाक्य है।

ऐसे मुक्त आत्मा जब ईश्वर नाम से वाच्य व उपास्य माने जाते हैं तब नित्य परम ऐश्वर्य को प्राप्त क्लेश कर्म फलों व कर्म फल आशयों से रहित ईश्वर परमेश्वर नाम से कहा जाता है अब यह संशय हो सकता है कि अनादि काल से प्रवाह रूप से सृष्टि व प्रलय क्रम होने में इसी कल्प की आदि सृष्टि से बहुत मुक्त आत्मा व सिद्ध उत्कृष्ट पद को प्राप्त पूर्व काल में होगये होंगे सब कैसे उपास्य हो सकते हैं तो इसका उत्तर यह है कि जिनके गुण कर्म व रूप के वर्णन का पता नहीं है उनका ध्यान व उपासन असंभव है परन्तु ब्रह्मा विष्णु और शिव इन तीनों के नाम गुण कर्म व रूप का वर्णन पाया जाता है ये प्रसिद्ध हैं और इनमें से विष्णु के अवतार राम और कृष्ण वर्णन किये जाते हैं इससे भाव वा रुचि विशेष से चित्त की अवस्था के अनुकूल इनकी उपासना इस हेतु से मन्तव्य व कर्तव्य है कि योग दर्शन और उपनिषदों में इस प्रकार से ध्यान करने व उपासना के विषय में

वर्णन किया है कि प्रथम मन की स्थिति के लिये किसी उत्तम विषय में मनको एकाग्र करके ध्यान करे और जब उपासक धारणा ध्यान करते हुये समाधि को प्राप्त होता है अर्थात् मैं ध्यान करने वाला ध्यान करता हूं इस भेद बुद्धि रहित हो केवल ध्येय वस्तु मात्र को जानता है तब ध्येय रूप हो ध्येय के गुण व सामर्थ्य को प्राप्त होता है। योग दर्शन में धारणा ध्यान व समाधि तीनों के लिये एक संयम शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् संयम शब्द से धारणा ध्यान व समाधि तीनों के समझने का संकेत किया है ध्येय में समाधि प्राप्त होने में ध्याता ध्येय के समान धर्म वाला होने में यह उदाहरण है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् । यो० पा० ३-सू० २५ ।

अर्थ—सूर्य में संयम से अर्थात् धारणा ध्यान व समाधि प्राप्त होने से भुवनों का ज्ञान होता है अर्थात् जो भुवन सूर्य से प्रकाशित होते हैं उनका ज्ञान संयम करनेवाले को होता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ यो० पा० ३-सू० २६ ।

अर्थ—चन्द्र में अर्थात् चन्द्र में संयम करने से ताराओं के समूह का अर्थात् सब तारा मण्डल का ज्ञान होता है इत्यादि वर्णन से सूर्य आदि की उपासनाओं और उपासनाओं के फलों का वर्णन होना सिद्ध होता है। उपनिषद् में प्राण, आकाश, सूर्य, मन आदि अनेक कार्य पदार्थों में ब्रह्म का अध्यास करके अर्थात् ब्रह्म दृष्टि करके ब्रह्म की उपासना करने का वर्णन है छान्दोग्य उपनिषद् में आकाश सूर्य मन आदि में ब्रह्म दृष्टि से उपासना करने को वर्णन किया है यथा

मनोब्रह्मेत्युपासीत् । प्रपा० ३ खण्ड १८ ।

अर्थ—मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करे तथा—

आकाशोब्रह्म । प्रपा० ३ खण्ड १८ । **आदित्योब्रह्म** । प्रपा० ३ खण्ड १६।

अर्थ—आकाश ब्रह्म है सूर्य ब्रह्म है इस प्रकार से मन आकाश सूर्य आदि में ब्रह्म का अध्यास करके उपासना करने का वर्णन है अब इस उपासना विधि में इस संशय निवृत्तिके लिये कि ब्रह्म, मन, आकाश, आदित्य आदि रूप है इस दृष्टि (भाव) से उपासना करना चाहिये अथवा मन आकाश आदित्य आदि ब्रह्म है इस दृष्टि से उपासना कर्तव्य है सिद्धान्त में यह वर्णन किया है।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ वेदान्त अ० ४—पा० १-सू० ५

अर्थ—ब्रह्मदृष्टि करना युक्त है वा कर्तव्य है श्रेष्ठतासे ॥

इसका व्याख्यान यह है कि मन, आकाश आदित्य आदि में ब्रह्म दृष्टि करके अर्थात् यह भाव धारण करके कि मन आकाश आदि ब्रह्म रूप है उपासना करना चाहिये अर्थात् इनमें ब्रह्म के गुणों की सम्भावना करके इनको ब्रह्म रूप

मानकर इनकी उपासना करना चाहिये ब्रह्म दृष्टि करने से ब्रह्म ही की उपासना होगी व ब्रह्मकी उपासना का फल प्राप्त होगा अन्यथा नहीं ब्रह्म दृष्टि करने के लिये ' श्रेष्ठतासे " यह हेतु वर्णन किया है आशय यह है कि ब्रह्म की श्रेष्ठता से श्रेष्ठ ब्रह्म की दृष्टि करने ही से श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है इससे ब्रह्म दृष्टि करना चाहिये क्योंकि ब्रह्मकी अपेक्षा निकृष्ट मन आदिमें उत्कृष्ट ब्रह्म की दृष्टि (भावना) करने से उत्कृष्ट फल प्राप्त होगा उत्कृष्ट ब्रह्ममें निकृष्ट आकाश सूर्य मन आदि की दृष्टि करने से निकृष्ट फल होगा निकृष्ट की दृष्टि उत्तमता की हानिकारी होती है जैसे उत्कृष्ट राजामें प्रधान सेवक वा राज्य कर्मचारीकी दृष्टि करना ऐश्वर्य हानि निकृष्टता रूप है और प्रधान में राजा की दृष्टि करना श्रेष्ठता और ऐश्वर्य के लिये है और भाव ही के अनुसार फल की प्राप्ति होती है इससे ब्रह्म दृष्टिसे उपासना कर्तव्य है मन आकाश आदित्य आदि को मन आकाश आदित्य रूप ही मान कर उपासना कर्तव्य नहीं है मन आदि को अधिष्ठान वा उपासना का द्वारा मानकर ब्रह्म रूपसे उनकी उपासना करना चाहिये इस प्रकार से मुक्त आत्मा व सिद्धों की उपासना की विधि के प्रमाण से और आकाश सूर्य मन आदि कार्य पदार्थों में ब्रह्म दृष्टि करके उपासना की विधि को जो उत्तम अधिकारी नहीं है उनके लिये उपयोगी जानकर सूर्य, आकाश मन आदि में ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करने की अपेक्षा विष्णु शिव राम आदि में उनके उत्तम गुण कर्म व सामर्थ्य के ज्ञान से अधिक श्रद्धा होना विचार कर उनमे ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करनेका उपदेश श्रेष्ठ सत्पुरुषों से किया गया है यह निश्चय किया जाता है।

और उक्त प्रकार शास्त्र व उपनिषद् वाक्यों के आशय के अनुकूल होनेसे युक्त व प्रमाण सिद्ध है यह सिद्धान्त है परन्तु जो मूर्ख अविद्या ग्रस्त पुरुषों ने अपनी बुद्धि अनुसार उक्त सिद्ध महात्माओं और देवताओं के गुण कर्मों में अनुचित व मिथ्या गाथाओं को मिलाया है उनको सर्वथा मिथ्या और अमन्तव्य ही समझना चाहिये (प्रश्न) विष्णु आदि की उपासना में एक देशीय व्यक्ति में सर्व व्यापक ब्रह्म की दृष्टि कैसे हो सकती है (उत्तर) ऐसी शङ्का विष्णु आदि की उपासना में इस हेतु से करना युक्त नहीं है कि विष्णु आदि की उपासना से भिन्न जो उपासना साकार निराकार स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों द्वारा, ब्रह्म के निरूपण, उपासन और ब्रह्म की प्राप्ति की विद्या पर विद्या नाम से वाच्य उपनिषद् विद्या है उसमें वर्णन की गई है यह प्रथम एक देश हो व एक देशीय पदार्थ ही में चित्त एकाग्र करने के आशय से वर्णन की गई है क्योंकि प्रथम किसी एक देशीय पदार्थ व एक देश में संयम करने की आवश्यकता है एक अणु अर्थात् सूक्ष्म परिमाण वाला मन अनन्त देश में स्थिर नहीं हो सकता अर्थात् अनन्त देश में व्यापकभाव से कहीं मनको उपासक स्थिर नहीं कर सकता अनन्त व्याप्य पदार्थों में ब्रह्म की व्यापकता पृथक् पृथक् बुद्धिगत करने के क्रम में सम्पूर्ण आयु के अन्त तक मन के निश्चिन्त

होने का अवकाश न मिलेगा इसी हेतु से हृदय देश में कहीं ज्योति रूप कहीं आकाश रूप पदार्थ में ब्रह्म के गुणों को अध्यास करके ज्योति व आकाश रूप से ब्रह्म का ध्यान करने के लिये उपनिषद् में उपदेश किया है फिर उसी हृदय देश में दृष्ट प्रकाश तथा आकाश रूप ब्रह्म को सर्व देश में विद्यमान होने की भावना करने का उपदेश किया है ऐसे ही विष्णु राम आदि में भी ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करने की विधि समझना चाहिये।

और सर्व व्यापक को एक देश में भी जानने व देखने से उसकी सर्व व्यापकता में अथवा फिर उसको सर्व व्यापक रूप से चिन्तन करने में हानि वा दोष की प्राप्ति नहीं होती उपनिषद् में हृदय देश में ज्योति रूप से आकाश रूप से अथवा आकाश में अन्तर्यामी रूप से ध्यान करने के लिये ऐसा वर्णन किया है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्य स उश्व एतद्वैतत्॥१३॥ कठोपनिषद् अध्याय २ वल्ली ४ मन्त्र १३

अर्थ-(अंगुष्ट मात्र हृदय स्थान में प्राप्त पुरुष) शरीरस्थ * हृदय में व्याप्त परमात्मा (अधूमकः ज्योति इव) धूम रहित निर्मल ज्योति के समान (ईशान भूत भव्यस्य) भूत भविष्यत का स्वामी विद्यमान है (स एव अद्य) वही आज है अर्थात् आज वर्तमान में सब का स्वामी है (स उश्व) वही कलह आगे भविष्यत में रहेगा (एतत वैतत्) यह वही ब्रह्म है जो सर्वव्यापक है जिसको तुमने पूछा है।

और छान्दोग्य उपनिषद् में यह श्रुति है।

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरेदहर पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा काशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्

छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ८ मन्त्र १

अर्थ—(अथ) इस से अनन्तर (यत इद) जो यह (दहर) सूक्ष्म (पुण्डरीक) कमल अर्थात् कमल के सदृश कमलाकार (वेश्म) स्थान (अस्मिन् ब्रह्मपुरे) इस ब्रह्मपुर में अर्थात् हृदय देश में है (अस्मिन्) इस में अर्थात् इस कमल के आकार स्थान में (दहर) सूक्ष्म (अन्तर आकाश) मध्य में आकाश है (तस्मिन्) उसमें अर्थात् हृदय कमलस्थान में (यत् अन्त) जो भीतर विद्यमान् है (तत्) वह (अन्वेष्टव्य) खोज करने के योग्य है (तत् वाव विजिज्ञासितव्य) वही जानने की इच्छा करने योग्य है।

---

*शरीरस्थ (शरीर में प्राप्त) शरीर शब्द अर्थ में पूर्व वाक्य से ग्रहण किया जाता है अंगुष्ठ मात्र परिमाण हृदय शरीर में होने से उस परिमाण से ज्योति रूप परमात्मा का ध्यान करने के लिये अंगुष्ठ मात्र कहा है इस अर्थ का सम्बन्ध पूर्व वाक्य से है।

इस वाक्य में आकाश शब्द से ब्रह्म को उपास्य वर्णन किया है इसमें आकाश को खोजने योग्य जानने योग्य कहा है ब्रह्म का नाम नहीं है इससे व्यास जी ने वेदान्त दर्शन में यह शङ्का करके कि इसमें आकाश शब्द से भूत आकाश को कहा या परमात्मा को सिद्धान्त में आकाश शब्द वाच्य आकाशवत् व्यापक ब्रह्म को उपास्य वर्णन करना निश्चित किया है क्योंकि जब शरीर को ब्रह्मपुर कहा तो उसके भीतर रहने वाला ब्रह्म ही आकाश शब्द से वाच्य है अन्य हेतु ब्रह्म के होने के यह है कि आगे यह वर्णन किया है कि जितना यह महान आकाश है उतना ही यह हृदय में आकाश है इसी में द्युलोक पृथिवी, अग्नि, वायू, सूर्य और चन्द्रमा स्थित है इस प्रकार से सर्वव्यापक ब्रह्म को हृदय कमल सूक्ष्म देश में उपास्य वर्णन किया है और शरीर को ब्रह्मपुर हृदय को ब्रह्म का वेश्म (घर) वर्णन किया है और ब्रह्म के वर्णन करने का हेतु यह भी है कि जड आकाश के खोज करने व जिज्ञासा करने से कोई लाभ नहीं है इस प्रकार से व्यापक ब्रह्म को सूक्ष्म हृदय देश में आकाश रूप से उपास्य वर्णन किया है और शरीर को सर्वव्यापक का पुर व हृदय को सर्वव्यापक का घर वर्णन किया है।

इस मन्त्र को स्वामी जी ने भी उपासना के विषय में ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में वर्णन किया है।

इस मन्त्र वाक्य में

दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्त ॥

इसका एक अर्थ ब्रह्म विषय में ऐसा हो सकता है कि सूक्ष्म इसमें (हृदय कमल स्थान में) भीतर का आकाश (कमल के भीतर का आकाश) है उसमें जो भीतर है अर्थात् अन्तर्यामी ब्राह्मण में वर्णन किये हुये अनुसार आकाश से भी सूक्ष्म आकाश शरीरवान् आकाश का अन्तर्यामी आत्मा परमात्मा है (तदन्वेष्टव्य) वह खोज करने योग्य है दूसरा अर्थ यह ग्रहण करना उत्तम है कि उसमें अर्थात् ब्रह्म में जो भीतर विद्यमान ब्रह्म के पाप रहित होना आदि गुण हैं जो प्रथम वर्णन किये गये हैं वह खोज करने व जिज्ञासा करने योग्य है अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्म में प्राप्त ब्रह्म के उक्त विशेष गुण खोजने योग्य व जिज्ञासा करने योग्य हैं अर्थात् ध्यान करने व विचारने योग्य हैं।

जैसे सर्वव्यापक का ज्योति व आकाश रूप से हृदय देश विशेष में उपासना करने का उपदेश है ऐसा ही विष्णु आदि कि उपासना में अर्थात् विष्णु आदि रूप से उपासना करने में समझना चाहिये (प्रश्न) आकाश निराकार में निराकार परमात्मा का अध्यास करके उपासना करना यथार्थ हो सकता है परन्तु निराकार का साकार सावयव व स्थूल में अध्यास करने की क्या आवश्यकता है और निराकार व साकार में वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म होना) होने से निराकार का साकार में अध्यास करना अयुक्त भी विदित होता है (उत्तर) आकाश मात्र में ब्रह्म दृष्टि करना निराकार होने में साधर्म्य है परन्तु हृदय एक देश में सर्व

व्यापक की उपासना करने के विषय में आकाश में भी अध्यास करके उपासना करने में अयुक्त होने की शङ्का की प्राप्ति में भेद नहीं है और ज्योति आदि साकार स्वरूप आदि की उपासना का भी वर्णन है इससे साकार व एक देश में ब्रह्म की उपासना करना शास्त्र व उपनिषद् के अनुसार यथार्थ होना सिद्ध है।

अब इस प्रश्न का कि निराकार को साकार में अध्यास करने की क्या आवश्यकता है और निराकार का साकार में अध्यास करना युक्त नहीं है उत्तर यह है कि यदि आवश्यकता न होती तो उपनिषद् में ज्योति व सूर्य मण्डलस्थ पुरुष रूप से ब्रह्म की उपासना का उपदेश न होता उपनिषद् व योगदर्शन में सूर्य आदि अन्य साकार की उपासना के वर्णन होनेही से उसका यथार्थ होना सिद्ध है और युक्ति से भी इस हेतु से यथार्थ होना मन्तव्य है कि निराकार अदृश्य परमात्मा में प्रेम और उसके स्वरूप का ज्ञान अति निर्मल चित्त व सूक्ष्म विचारवान् को हो सकता है साधारण लौकिक जनों को नहीं हो सकता उपनिषद् ही में स्पष्ट ऐसा वर्णन है—

एषु सर्वेषुभूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठोपनिषद् अ० १ वल्ली ३ मंत्र १२ ॥

अर्थ—यह सब प्राणियों में (गूढ आत्मा) छिपा सब में प्राप्त परमात्मा प्रकाशित नहीं होता अर्थात् खोज में लगे रहने में इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष अत्यन्त सूक्ष्म होने से जाना नहीं जाता यद्यपि वह सूर्यवत् सर्वत्र प्रकाशवान है परन्तु इन्द्रियों को विषयों के आसक्त लौकिक जनों के ज्ञान में अविद्यारूप आवरण (परदा) प्राप्त होने से विषयासक्त मनुष्यों को ज्ञात नहीं होता केवल कुश के नोक के समान सूक्ष्म विषय में प्रवेश करनेवाली सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शी विद्वानों से देखा जाता है।

सूक्ष्मदर्शी सब नहीं होते बहुत विद्या प्राप्त करने व विचारसाधन से सूक्ष्मदर्शी होना सम्भव है इससे जैसे निशाना लगाने में अभ्यास करनेवाला पहिले एक बड़े स्थूल घट आदि पदार्थ में निशाना लगाता है फिर क्रम से सूक्ष्म सूक्ष्म वस्तु में अभ्यास करता है जब दृष्टि और हाथ दोनों अच्छे अभ्यास व साधन से सध जाते हैं तब एक तिल के समान सूक्ष्म बिन्दुरूप लक्ष्य को बींधता है अर्थात् निशाना लगाता है ऐसेही प्रथम स्थूल बुद्धिवाले साधारण जन स्थूल साकार के ध्यान में चित्त स्थिर करने का अभ्यास करके फिर सूक्ष्म सूक्ष्म में चित्त स्थिर करके निराकार व्यापक में मन स्थिर करने के योग्य होते हैं प्रथम ही से स्थूल में अश्रद्धा कराने से जो सूक्ष्म ज्ञान से रहित निराकार में बुद्धि स्थिर नहीं कर सकते वे स्थूल द्वारा भी उपासन व भजन छोड़ देते हैं और सूक्ष्म विचार व साधन के योग्य न होने से दोनों से रहित होते हैं इससे जो विशेष अधिकारी नहीं हैं उनके लिये साकार में ब्रह्मदृष्टि करके उपासना करना

उपयोगी हे शास्त्र और उपनिषद् के आशय के अनुकूल है श्रीकृष्ण जी ने लौकिक जनों के विषय में गीता में वैसा वर्णन किया है —

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजन.। स यत्प्रमाणं कुरुतेलोक स्तदनुवर्तते ॥ गीता अ० ३ श्लो० २१ ।

अर्थ—जो जो आचरण श्रेष्ठ करता हे वही इतर करता है जिसको वह श्रेष्ठ प्रमाण करता हे लोक उसके पीछे चलता है अर्थात् लौकिकजन उसी के अनुसार वर्तते हैं।

नमे पार्थाऽस्तिकर्तव्यं त्रिषुलोकेषु । किञ्चन नानवाप्तम वाप्तव्य वर्तत् एवच कर्मणि ॥ गीता अ० ३ श्लो० २२ ।

अर्थ—हे अर्जुन मेरे लिये तीनों लोकों में कुछ कर्तव्य नहीं है न कोई वस्तु है जो प्राप्त नहीं है न कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य है कर्म में प्रवृत्त ही होता हू आशय यह है कि किसी प्रयोजन किसी अर्थ की प्राप्ति के लिये कर्म किया जाता हे सो मेरे लिये काई पदार्थ प्राप्त करने योग्य नहीं है क्योंकि कोई वस्तु नहीं हे जो प्राप्त न हो इससे कुछ कर्तव्य नही है तो भी मैं कर्म करता हू।

जब कर्तव्य नहीं है तो क्यों करता हू यह आगे के श्लोक में वर्णन किया है।

यदिह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रित.। ममवर्त्मानुवर्तेयुर्म नुष्या. पार्थ सर्वश ॥

अर्थ—जो किसी कर्म में मैं सावधानहोकर प्रवृत्त न होऊ तो हे अर्जुन मेरे मार्ग में सब मनुष्य वर्तने लगें अर्थात् अपने लिये कर्तव्य न समझ कर केवल मेरे न करने से यह समझकर कि जब वह नहीं करते तो यह कर्तव्य नहीं है आप त्याग देवेंगे क्योंकि अवस्था अनुसार कर्तव्य अकर्तव्य का भेद न जानकर इतनाही जानते हैं कि जो श्रेष्ठ करे वह कर्तव्य है अन्य नहीं।

इसका फल क्या होगा यह आगे वर्णन करते हे।

उत्सीदेयुरिमेलोकानकुर्यां कर्मचेदहम्। सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजा.॥ २४ ॥

अर्थ—जो में कर्म को न करू तो ये लोक अर्थात् लौकिक जन नष्ट हो जावें अर्थात् कर्म त्यागकर भ्रष्ट होजावें और मैं वर्ण शङ्कर का करनेवाला होऊ और इन प्रजाओं को नाश करू अर्थात् नाश करनेवाला होऊ ॥ २४ ॥

प्रकृतेर्गुण सम्मूढाः सज्जन्ते गुण कर्मसु। तानकृत्स्नविदोमान्दा-न्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

गीता अ० ३ श्लोक २६ ॥

अर्थ—प्रकृत (माया) के गुणों से मोह को प्राप्त रजोगुण तमोगुण व सत्व गुण में और जो अविद्या में आसक्त विचार रहित तत्व को नहीं जानते उन अल्पज्ञ मन्द बुद्धियों के लिये विद्वान् पूर्णज्ञानवान् तत्वज्ञ को चाहिये कि उनको जो कर्म वे किसी आशय से व किसी अंश में उत्तम कर रहे हों उसमें न हटावें अर्थात् उस कर्म को न छोड़ावें।

इससे उक्त प्रमाण व हेतुओं से विष्णु आदि की उपासना मन्तव्य है उसका प्रतिषेध करना युक्त नहीं है जो कर्म मिथ्या पाखण्डजाल से प्रचरित किया गया है अधर्मरूप व हानिकारक है वह तो अवश्य त्याग करने व कराने योग्य है और जो किसी अंश में प्रमाण मूलक और उपयोगी है उनका प्रतिषेध करना यथार्थ नहीं है जो कुछ उसमें असत् का मेल हो वह विज्ञापित करना चाहिये (प्रश्न) निराकार नीरूप के ज्ञान व उसकी प्राप्ति का द्वारा साकार व रूपवान् कैसे हो सकता है और निराकार के स्थान में निराकार के विरुद्ध साकार पदार्थ कैसे मन्तव्य हो सकता है (उत्तर) सामान्यतः विचार करने में ऐसा संशय होता है परन्तु विशेष विचार करने से यह निश्चय होता है और हो सकता है कि साकार का निराकार और निराकार का साकार होना तो असंभव है परन्तु साकार व रूपवान् का निराकार व नीरूप के ज्ञान का द्वारा होना और निराकार व नीरूप के स्थान में साकार व रूपवान् का मन्तव्य होना व लाभकारी होना अवश्य स्वीकार करने के योग्य है और ईश्वर नियम और प्रमाण से सिद्ध है इस प्रतिज्ञा के साधन के लिये शब्दों और उनके लिये संकेत से नियम किये वर्णों का (अक्षरों का) उदाहरण पर्य्याप्त है अर्थात् यह प्रत्यक्ष से विदित व सिद्ध है कि विशेष प्रयत्न व स्थान से मुख से उच्चारण के योग्य श्रुतिमात्र गोचर (जो कान मात्र से सुने जाते हैं ऐसे) अनेक नीरूप निराकार शब्दों का ज्ञान संकेत मात्र से पृथक पृथक विशेष आकार से नियत किये गये साकार व रूपवान् नेत्र से प्रत्यक्ष हुये अक्षरों से होता है और साकार व रूपवान् वर्णों (अक्षरों) के द्वारा नीरूप (रूप रहित) व निराकार उच्चारण किये गये शब्द रूप अक्षरों और उनके योग से बने हुये पदों के साथ सांकेतिक अर्थों के सम्बन्ध से प्राप्त हुये अर्थों के ज्ञान ही से सम्पूर्ण वेद वेदाङ्ग विद्याओं और उनसे आत्मा परमात्मा जगत् रचना और अनेक पदार्थों और पदार्थों के गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है यदि साकार व रूपवान् अक्षरों में नीरूप व निराकार शब्द रूप वर्णों का तथा पदों का वाच्य अर्थों के साथ संकेत से संबन्ध न माना जाता तो वेद के शब्दों के अर्थ से वेद में वर्णित पदार्थ व विषयों का ज्ञान न हो सकता कोई आत्मा परमात्मा व अन्य किसी पदार्थ को न जानता और अपने ज्ञात पदार्थ व आशय का वचन पुस्तक वा पत्र के लेख द्वारा किसी को उपदेश व विज्ञापन न कर सकता।

और धातु आदि के बने हुये अक्षर स्पर्श से भी ज्ञात होते हैं।

जैसे कोई विद्वान् आकार रूप व स्पर्श रहित, शब्द रूपवर्ण व पदों को कह कर उपदेश करता है उससे ज्ञान प्राप्त होता है वैसेही आकार रूप युक्त लिखित सांकेतिक अक्षरों द्वारा उपदेश ज्ञान प्राप्त होता है तथा पत्र पुस्तक के लेख से लिखने वाले के आशय व पदार्थो का ज्ञान होने से यह सिद्धान्त निश्चित होता हैकि उक्त प्रकार के कल्पित वर्ण व सांकेतिक पद, शब्द रूप ही शब्द स्थानी स्वीकार किये शब्द के समान अर्थ के बोधक व फल के देने वाले होते हैं।

इससे यह निश्चित होता है कि जब ईश्वर ही निराकार नीरूप शब्द रूप वर्ण व पदों और उनके अर्थो के ज्ञान के हेतु सङ्केत मात्र से नियत किये गये विशेष आकृतिमान् व रूपवान् अक्षरों ही को वेदवाणी के ज्ञान व विद्याओं के ज्ञान का द्वारा रक्खा है और अभी तक अन्य कोई द्वारा विदित नहीं हुआ न होने की आशा की जाती है, तो निराकार व नीरूप का ज्ञान साकार व रूपवान् के द्वारा होना ईश्वर के आशय के अनुकूल ही है।

किसी निराकार नीरूप शब्द रूप वर्ण के स्थान में आकार विशिष्ट चिन्ह को नियत कर लेना कि इस चिन्ह से अमुक शब्द रूप वर्ण तथा अमुक पद विशेष से अमुक अर्थ विशेष ग्रहण किया जायगा सकेत है दृष्टि भावना अथवा अध्यास भी एक प्रकार का सकेत ही है क्योंकि व्यक्ति विशेष में अन्य उत्कृष्ट विशेष गुणों युक्त पदार्थ के होने की जो बुद्धि धारण की जाती है वही दृष्टि करना वा भावना है।

निराकार व नीरूप शब्दों की दृष्टि वा उनका अध्यास साकार व रूपवान अक्षरोंमें करने के समान निराकार ब्रह्मकी दृष्टि विष्णु आदि व्यक्तियों में करना और उनको ब्रह्मके स्थान में मानना यथार्थ और मनोरथ सिद्धि का हेतु समझना चाहिये (प्रश्न) भिन्न भिन्न प्रयत्न व स्थान से अनेक अवर्ण आदि उच्चारित वर्णो की पृथक् पृथक् व्यक्तियों का होना प्रत्येक वर्ण की एक प्रकार की रूप रहित शब्द की आकृति को सिद्ध करता है इससे निराकार ब्रह्मके समान उच्चारण किये हुये वर्ण व पदों के दृष्टान्त का साधर्म्य (समानधर्म होना) कैसे हो सक्ता है (उत्तर) उच्चारण भेद से उत्पन्न व्यक्तिभेद होने के हेतु से (कारणसे) शब्द व वर्ण भेद रूप आकृति स्वीकार करनेके समान निराकार आकाश व ब्रह्मकी भी आकृतियाँ उपाधि भेदसे स्वीकार के योग्य होने व सिद्ध होने से शब्द के दृष्टान्त के साथ साधर्म्य होने में कुछ भी भेद नहीं है अर्थात् शब्द के समान व्यापक निराकार आकाश, घट आदि उपाधि से घट कमण्डलु गृहद्वार छिद्र में घट आदि की आकृति से भासित होता है तथा अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु द्युलोक आदित्य, दिशा, चन्द्र, आकाश, तम, तेज, और सब भूतों के अधिभूत रूपके वर्णन में और प्राणसे लेकर आत्मा पर्य्यन्त अध्यात्म में सबको ब्रह्म का शरीर होना और ब्रह्मको उक्त सब पदार्थों का अन्तर्यामी रूपसे आत्मा होना वर्णन किया है यथा यह वर्णन किया है–

यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरः यंपृथिवी न वेद यस्य पृ-

थिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एषत आत्माऽन्तर्या-
म्यमृतः ॥

अर्थ–जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी के भीतर है जिसको पृथिवी नहीं जानती जिसका पृथिवी शरीर है जो पृथिवी के भीतर रहकर नियम में रखता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ॥

इसी प्रकार से जल अग्नि आदि सबके विषयमें वर्णन किया है इस प्रकार से पृथिवी आदि को ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को पृथिवी आदि का अन्तर्यामी आत्मा वर्णन करनेसे पृथिवी आदिमें प्रत्येक की व्यक्ति परिमाण व्यापकता भेद से पृथिवी आदि आकृतियों रूपसे भी ब्रह्म मन्तव्य होने से प्रयत्न व स्थान विशेष से उच्चार्यमान शब्दों के आकार मानने के समान ब्रह्म के भी आकार मन्तव्य होंगे इससे निराकार ब्रह्म का दृष्टान्त निराकार शब्द के साथ साध्य अंश में यथार्थ है इससे दोनों में साधर्म्य है वैधर्म्य नहीं है और रूपवान अक्षरों के आकारों में नीरूप शब्द रूप वर्णों का संकेत करने अथवा शब्दों की दृष्टि वा अध्यास करने के समान नीरूप ब्रह्म की विष्णु आदि की व्यक्तियों में दृष्टि करने में यथार्थ साधर्म्य (समान धर्मता) है (प्रश्न) क्या साकार एक देशीय विष्णु राम आदि व्यक्तियों में निराकार व्यापक परमेश्वर की भावना करने से परमेश्वर साकार व एक देशीय हो जायगा और व्यापक ब्रह्म की एक देशीय वस्तु में भावना करना एक चक्रवर्ती महाराज को एक छोटे स्थान का स्वामी समझना है यह यथार्थ नहीं है अन्य में अन्य का भाव करने व अन्य की दृष्टि करने से क्या कोई पदार्थ पदार्थान्तर (अन्य पदार्थ) हो जाता है यदि ऐसा हो तो हम जल में घृत का भाव करके घृत को और धूलि में शक्कर का भाव करके शक्कर प्राप्त कर लेवें परन्तु ऐसा नहीं होता इस से विष्णु आदि में निराकार सर्वव्यापक परमात्मा की भावना वा दृष्टि करना यथार्थ नहीं है (उत्तर) ऐसी शङ्का प्रथम यथार्थ विचार न करने से होती है तत्वतः यह प्रमाण युक्ति और हेतु से सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वव्यापक होने से जिस द्वारा व जिस भाव से श्रद्धा व प्रेम युक्त उसकी उपासना की जाती है वह प्राप्त होता है इस साध्य पक्ष के साधन में प्रथम स्पष्ट प्रमाण तो यह है कि यदि एक देश व व्यक्ति विशेष में ब्रह्म की उपासना युक्त व फलदायक न होती तो उपनिषद् में इस प्रकार की उपासना की विधि न होती। परन्तु एक देशीय सूर्य मण्डलस्थ पुरुष रूप व्यक्ति में उपास्य ब्रह्म का वर्णन है अर्थात् सूर्य पुरुष में ब्रह्म भाव से उपासना करने की विधि है ऐसे ही विष्णु आदि में भी मन्तव्य है सूर्य मण्डल स्थ पुरुष की उपासना के लिये छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा वर्णन है।

अथय एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हि
रण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यास पुण्डरीकमेवमक्षिणी, तस्योदितिनाम, स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदित उदेति ह वै सर्वेभ्य. पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७॥ प्रपाठक १ खं० ८ मं० ६ व ७

अर्थ—(अथ) अब जो अर्थात् जो पूर्व ही कहागया है वह (एष) यह अर्थात् प्रत्यक्ष (अन्तरादित्ये) सूर्य के मध्य में (हिरण्मय) ज्योति वा प्रकाशमय (पुरुष) पुरुष (दृश्यते) देखा जाता है (हिरण्यश्मश्रु) जिस की ज्योति ही डाढी है (हिरण्यकेश) ज्योतिरूप ही जिसके केश (बार) हैं (आप्रणखात) नख पर्य्यन्त (सर्व एव सुवर्ण) सब सुवर्ण अर्थात् प्रकाश-रूप है ॥ ६ ॥

(यथा) जैसे* (कप्यास) जल को पीता हुआ अपनी नाल में स्थिति प्रफुल्लित तेज को प्राप्त (पुण्डरीक) कमल हो (एव) ऐसे (तस्य) उसके (अक्षिणी) दोनों नेत्र हैं अथवा यह अर्थ है कि किरणों से जल खींचने से जल का पीने वाला कपि जो सूर्य है उससे विकासित प्रफुल्लित जो पुण्डरीक(कमल) है उसके समान उस पुरुष के नेत्र हैं (तस्य) उसका (उत) ऊपर वा पर (इति-नाम) यह नाम है (स एव) वह यह (सर्वेभ्य पाप्मभ्य) सब पापोंसे (उदित) भिन्न वा रहित है (य एव वेद) जो ऐसा जानता है अर्थात् उस सूर्य मण्डलस्थ पुरुष रूप ब्रह्म को सब पापों से रहित जानता है (स) वह ऐसा जानने वाला उपासक (सर्वेभ्य पाप्मभ्य) सब पापों से (ह वै) निश्चय करके (उदिति) रहित होता है ॥

इसी प्रकार की उपासना विष्णु आदि की होना स्वीकार करने योग्य है।

अब जो यह तर्क है कि सर्व व्यापक ब्रह्म की किसी एक मूर्तिमान् वा एक वस्तु में भावना करना एक चक्रवर्ती सम्राट को अल्पस्थान का अधिकारी समझना है इससे यथार्थ नहीं है और विष्णु व राम आदि में ब्रह्म की भावना करने से क्या निराकार व्यापक ब्रह्म साकार एक देशीय या मूर्तिमान हो जायगा इसका उत्तर यह है कि जैसे किसी चक्रवर्ती सम्राट के राज्य के अन्तर्गत किसी ग्राम वा पत्तन में स्थित होने के समय में यह जानने अथवा किसी के कहने में कि यहाँ का वा इसका स्वामी वा अधिपति अमुक सम्राट है यह अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता कि राज्य के अन्य ग्रामों पत्तनों और देशान्तरों का स्वामी नहीं है तथा घटाकाश गृहकाश के प्रत्यक्ष करने में व्यापक आकाश के ज्ञान का अभाव सिद्ध नहीं होता कि ज्ञाता को महान आकाश का ज्ञान नहीं रहा और घटाकाश

*कप्यास शब्द का जो प्रकार का जो अर्थ लिखा गया है वे दोनों अर्थ इस प्रकार से होते हैं कंजलं पीयते इति कपी नपुंसकत्वात् ह्रस्वत्वे कपि आस्ते इत्यास कपि च तदास च कप्यास यथा पपुण्डरीक स्वमृलनालाभ्या कजल पीयतेक्रोऽर्थ जलमाकर्षति गृह्णाति वा जलमाकृष्याद्र्स्व प्रफुल्लनश्च मासमस्तितरेवास्ते इति कप्यास नस्टटवाद्रि नमनाद्र निस्तेजोरूप पुण्दरीकभित्यर्थ यद्वा कंपिबतीति कपिरादित्य तनास्यते विप्यते विकास्यते इति कप्यासमिति।

व गृहकाश को महान आकाश ही समझना उस से पृथक् न समझना भी यथार्थ ही है इससे यह कहना कि एक वस्तु वा व्यक्ति में ब्रह्म को जानना वा ब्रह्म की भावना करना चक्रवर्ती सम्राट को अल्पस्थान में रहने वाला और अल्पस्थानका अधिकारी मानना है, अयुक्त है ऐसा तब कहा जा सकता है कि जब उपासक ज्ञाता यह कहे कि ध्यान की सुगमता व चित्त की एकाग्रता के लिये जिस देशमें और जिसकी उपासना करता हूँ उतने ही में ब्रह्म को मानता हूँ अन्यत्र नहीं मानता हूँ पूर्वही ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् इस वेदान्त सूत्र के व्याख्यान में वर्णन किया गया है कि ब्रह्म की दृष्टि करके उपासना करने में जिसमें ब्रह्म की दृष्टि (भावना) की जाती है उसके गुणों का ब्रह्म में आरोपण नहीं कियाजाता किन्तु उसमें ब्रह्म के गुणों का अध्यास करके ब्रह्म रूप से उसकी उपासना की जाती है तभी ब्रह्मके उपासन का फल प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मा ब्रह्म के सर्व व्यापकत्व निराकारत्व सर्वशक्तिमत्व आदि गुणोंसे न्यून जो विष्णु आदि के लोक विशेष का स्वामी होना आदि अधिकार व गुण हैं उनकी ब्रह्म में दृष्टि करने को ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् इस वेदान्त सूत्रमें प्रतिषेध किया है ब्रह्म से न्यून गुण व सामर्थ्यवान विष्णु आदि में ब्रह्म के गुण कर्म व सामर्थ्य की दृष्टि करके ब्रह्म रूप मानकर उनकी उपासना की जाती है ॥

जब विष्णु आदि की व्यक्तियों को ब्रह्म की उपासना का अधिष्ठान या द्वारा मानकर इस भाव से उपासना की जाती है कि जैसे जो आकाश घट तथा गृहमें घटाकाश व गृहकाश रूपसे भासित होता है वह वही है जो महान सर्वव्यापक आकाश है ऐसेही विष्णु आदिमें से किसी उपास्यदेव की व्यक्ति में प्राप्त ब्रह्मही सर्व व्यापक सर्वाधीश सर्वशक्तिमान है ।

ऐसे ही उत्कृष्ट गुण कर्म सामर्थ्यवान् श्रीरामचन्द्र आदि की व्यक्तियों में ब्रह्म के गुणों की भावना करके ब्रह्मरूप से उपासना की जाती है अर्थात् राम की उपासना करने में राम के शरीरवान होने धनुष तोडने रावण आदि के मारने आदि गुण कर्मों के ध्यानके साथ उपासन नहीं की जाती। उपनिषद् के आशयके अनुसार ब्रह्मके गुणों का अध्यास करके ब्रह्मरूप से राम की उपासना की जाती है ।

जब विष्णु व राम आदि की व्यक्तियों में ब्रह्म से न्यून गुणकर्मों का ध्यान उपासना विषय में नहीं किया जाता केवल ब्रह्म ही के गुणों की भावना या दृष्टि की जाती है तब ब्रह्म के एक देशीय व साकार होने की शङ्का करने का अवकाश ही नहीं हो सकता ।

ब्रह्मरूप से राम को उपास्य जानने व राम को ब्रह्मरूप वर्णन करने में अध्यात्म रामायण के वक्ष्यमाण श्लोक प्रमाण हैं यद्यपि वक्ष्यमाण श्लोक पुराण से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु उपासना विषय में उपयोगी व स्वीकार के योग्य हैं ।

श्री जानकी जी ने हनुमान जी को राम के तत्त्वरूप जानने के लिये ऐसा उपदेश किया है ।

—

एवमादीनि कर्माणि मयैव चरितान्यपि ।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि ॥
रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोचत्याकाङ्क्षते,
त्यजति नो न करोति किञ्चित् आनन्द मूर्तिरचल ।
परिणामहीनो मायागुणानुगतो हि तथा विभाति ॥

अ० २ श्लोक ४२ व ४३

अर्थ—प्रथम जानकी जी ने, रामचन्द्र जी ने जो धनुष का तोड़ना राक्षसों का मारना आदि कर्म किया है उनमें से कुछ वर्णन करके अन्य सब कर्मों के कर्तृत्व और रामचन्द्र जी के तत्वरूप के विज्ञापन के लिये जैसा इन श्लोकों में वर्णित है वर्णन किया है एवमादीनि इत्यादि इन श्लोकों का अर्थ यह है—

इस प्रकार से उक्त कर्म आदि अन्य सब कर्म मुझमेंही किये जाने पर भी इस राम सब के आत्मारूप निर्विकार में आरोपण करते हैं राम न चलता है न स्थित होता है न शोच करता है न किसी वस्तु को चाहता है न किसी वस्तु को त्याग करता है कुछ नहीं करता है आनन्दमूर्ति है अचल है रूपान्तर होने से रहित है।

इस वर्णन में जानकी जी ने अपने को प्रकृतिरूप और राम को निर्विकार सब का अन्तर्यामी रूप आत्मा ब्रह्म सूचित करने के लिये ऐसा वर्णन किया है।

जितने कार्यरूप मन, इन्द्रिय व इन्द्रियों के विषय और शरीर आदि स्थूल पदार्थ हैं तथा सत्व रज व तम ये तीन गुण जिनको प्राप्त होकर जीवात्मा उत्तम मध्यम व निकृष्ट कर्मों को करता है ये सब प्रकृति के कार्य हैं इन सब की कारण प्रकृति है परमात्मा चेतन आनन्दस्वरूप निर्विकार सब में अन्तर्यामी व साक्षी रूप से विद्यमान जीवों के शुभ और अशुभ कर्मों को देखता है।

इसी तत्वज्ञान के विज्ञापन के लिये जानकी जी ने यह वर्णन है कि मैं ही जानकी बन कर हरी गई हूं मैं ही रावण होकर जानकी को हरा है मैं राम होकर जानकी का पति हुई हूं जानकी के हर जाने पर जानकी के लिये शोक किया है लङ्का में जाकर रावण को मारकर जानकी सहित अयोध्या में आकर राजासन में स्थित होकर राज कररही हूं राम मेरे कार्यों में व्यापक रूप से अन्तर्गत होने से मेरे कार्यों व गुणों में मिले हुये के समान अज्ञानियोंको प्रतीत होने से कर्ता होने आदि के समान भासित होता है वास्तविक राम का स्वरूप ऐसा है कि राम न चलता है न स्थित होता है अर्थात् न प्राप्त हुये स्थान के लिये चलना और अन्य स्थान से आकर प्राप्त स्थान को प्राप्त होकर ठहरना होता है जब राम सर्वव्यापक आत्मारूप सर्वत्र प्राप्त है तब उसमें जाना और आना और किसी स्थान में न होना घटित नहीं होने से राम न चलता है न स्थित होता है न शोच करता है न किसी वस्तु की अकांक्षा (चाह) करता है अर्थात् किसी हानि में शोक और

इष्ट वस्तु न प्राप्त होने मे उसकी प्राप्ति की आकांक्षा होती है राम परिपूर्ण काम होने व हानि रहित होने से राम को न शोक होता है न किसी वस्तु की आकॉंक्षा होती है न किसी वस्तु को राम त्याग करता है न कुछ करता है अर्थात् जो पदार्थ अपनी हानि का हेतु होता है वह त्याग किया जाता है और किसी मनोरथ सिद्ध रूप फल प्राप्त होने के लिये कोई कर्म किया जाता है राम के लिये कोई पदार्थ हानिकारक नहीं है और आप्त काम होने से किसी मनोरथ की सिद्धि के लिये कोई कर्म कर्तव्य नही है अज्ञान से जो कोई अनुचित कर्म को करता है किसी अग्राह्य को ग्रहण करता है वह यथार्थ ज्ञान होने में उसको त्याग करता है राम सर्वज्ञ है इससे राम मे ऐसा कर्म वग्रहण व त्याग का होना सभव नहीं है ।

इससे न किसी वस्तु को त्याग करता है न कुछ करता है, आनन्द मूर्ति है अचल है रूपान्तर होने से रहित है अर्थात् विकार रहितसदा एक रस है परन्तु माया गुणों में मिले हुये के समान अज्ञान से ज्ञात होने से भ्रम से माया के गुणों से युक्त भासित होता है इस भाव से राम की उपासना करने में राम के चेतन आत्मा को व्यापक परमात्मा स्वरूप मानने में और राम की व्यक्ति उपासना का अधिष्ठानमात्र स्वीकार करने में निराकार ब्रह्म ही की उपासना है इसी प्रकार से राम यद्यपि विष्णु का अवतार है यह प्रसिद्ध है और वाल्मीकि रामायण में भी ऐसा लेख पाया जाता है परन्तु गोसाई तुलसीदास जी ने उपास्य राम में ब्रह्म की भावना करके विष्णु आदि से श्रेष्ठ और शरीर होने का भाव त्यागकर राम को इस इस प्रकार से सम्पूर्ण जगत में व्यापक होना वर्णन किया है "सिया राम में सब जग जानी, करौं प्रणाम जोरि युग पानी ।

यह साधारण अल्पज्ञ मनुष्य भी समझ सकता है कि शरीरवान स्त्री व पुरुष जितना उसका शरीर है उतने ही प्रदेश में उसका शरीर रहेगा अधिक देश व स्थान में प्राप्त नही हो सका परन्तु सब जगत् को सिया राम मय कहने से यह निश्चित है कि शरीर होने के भाव को त्याग कर जानकी जी को प्रकृति रूप और राम को सर्व व्यापक आत्मा चेतन पुरुष व ब्रह्म रूप मान कर सिया राम मय सब जगत् को कहा है क्योंकि सब जगत प्रकृति कार्य रूप है और सब कार्य रूप जगत व प्राणियों के शरीरों में पुरुष सर्व व्यापक परमात्मा अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है ।

इसी प्रकार से किसी लोक विशेष का अधिपति शरीर धारी होने के भाव को त्याग कर विष्णु को भी सर्व व्यापक ब्रह्म रूप मानकर ऐसा वर्णन किया है

जले विष्णु स्थले विष्णुर्विष्णु पर्वत मस्तके
ज्वालमालाकुले विष्णा सर्वं विष्णुमय जगत् ॥

अर्थ—जल में थल में पर्वत के शिर में ज्वालमालाओं के समूह में विष्णु है सब जगत विष्णुमय है इस प्रकार से जब उपासक स्वय व्यापक ब्रह्मभाव से

विष्णु आदि की उपासना करता है तब ब्रह्म के साकार व अल्प देशी होने की शंका नहीं हो सकी।

इस श्लोक में पर्वत मस्तके ऐसा पद असंगत है क्योंकि जो व्यापक है वह पर्वत के सब अवयवों में सम्पूर्ण पर्वत में व्यापक होगा पर्वत के मस्तक मात्र ही में नहीं परन्तु सब जगत् विष्णुमय कहने से कुछ अर्थ की संगति हो जाती है इससे लिख दिया गया है अब जो यह प्रश्न है कि साकार में निराकार ब्रह्म की भावना करके उपासना करने से ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होती है क्या कोई पदार्थ भाव से पादार्थान्तर (अन्य पदार्थ) हो जाता है वा पदार्थान्तर को प्राप्त हो जाता है यदि ऐसा हो तो हम जल में घृत का भाव करके घृत को व धूलि में शक्कर का भाव करके शक्कर को प्राप्त कर लेवें परन्तु ऐसा नहीं, होता इससे विष्णु आदि व्यक्तियों में निराकार सर्व व्यापक परमात्मा की दृष्टि अर्थात् भावना करना यथार्थ नहीं है इसका उत्तर यह है कि यह सत्य है साकार निराकार और निराकार साकार नहीं होता न हम साकार में निराकार की भावना करके निराकार को साकार बनाते हैं परन्तु साकार में निराकार की भावना करने से निराकार का स्मरण व ज्ञान होने से निराकार की उपासना हो सकी है इसके साधन में यह प्रमाण रूप उदाहरण पूर्व ही वर्णन किया गया है कि शब्द रूप निराकार व नीरूप वर्णों की साकार व रूपवान अक्षरों में संकेत रूप से भावना की गई है अर्थात् आकृति विशेष युक्त अकार आदि साकार व रूपवान् अक्षरों से शब्द रूप वर्णों का तथा अक्षरों के संयोग समुदाय से शब्द रूप पद वाक्य व उनके अर्थों से आत्मा परमात्मा, जगत् के पदार्थों का ज्ञान, कर्म में प्रवृत्ति और अर्थ धर्म काम और मोक्ष की सिद्धि होती है अर्थात् साकार व रूपवान् अक्षरों में निराकार नीरूप शब्द की भावना ही सम्पूर्ण विद्याओं व ज्ञान विशेष की प्राप्ति और कर्म में प्रवृत्ति व फल प्राप्ति का द्वारा होना सिद्ध होती है ऐसे ही साकार व्यक्ति विशेष में निराकार ब्रह्म की भावना करने में मनोरथ सिद्धि की सफलता मन्तव्य है। अन्य भी कई हेतुओं से उक्त प्रश्न अयुक्त और भ्रम रूप है अब हेतुओं में से एक हेतु प्रश्न के असंगत होने का यह है कि चेतन परमात्मा समर्थ फलदाता हमारी चित्त वृत्ति व श्रद्धा जानने वाले का दृष्टान्त जड़ पदार्थ घृत शक्कर आदि के साथ यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि चेतन श्रद्धा व भाव को जान कर सङ्कल्प अनुसार फल दे सकता है घृत शक्कर श्रद्धा व भाव के ज्ञान रहित असमर्थ और फलदायक न होने से हमको उपासना का फल नहीं दे सकते। दूसरा हेतु प्रश्न के अयुक्त होने का यह है कि अभाव का भाव और भाव का अभाव होना असंभव है जो असंभव है वह कभी हो नहीं सकता ऐसा ही भगवत गीता में वर्णन किया गया है यथा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥

अर्थ—असत् का अर्थात् जो नहीं है उसका भाव (होना) और सत् का अर्थात् जो है उसका अभाव (अवर्तमान व न होना) नहीं होना। इससे विचार

से और आप्त तत्व दर्शियों के सिद्धान्त से असत् का भाव और सत् का अभाव न होना निश्चित है इससे जल में घृत का अभाव और धूलि में शक्कर का अभाव होने से जल में घृत अथवा जल, घृत नहीं हो सकता ऐसे ही धूलि में शक्कर अथवा धूलि शक्कर नहीं हो सकती है परन्तु घृत के भाव (अस्तित्व) रहित जल में घृत की भावना तथा शक्कर के भाव (अस्तित्व) से रहित धूलि में शक्कर की भावना करने के समान विष्णु आदि व्यक्तियों में निराकार व सर्व व्यापक परमात्मा की दृष्टि (भावना) करना नहीं है क्योंकि विष्णु आदि में भी वह विद्यमान है इस वैधर्म्य से दृष्टान्त अयुक्त है मन्तव्य नहीं है ब्रह्म सर्वव्यापक है इससे जिस व्यक्ति व पदार्थ में ब्रह्म की दृष्टि करके ब्रह्म की उपासना की जाती है उसमें विद्यमान ब्रह्म श्रद्धा व भावना अनुसार अपने उपासक को उपासना का फल देता है।

अब जो साकार में निराकार ब्रह्म की भावना करने में साकार अक्षरों में निराकार शब्द रूप वर्णों तथा पदों का और उनसे वाच्य अर्थों का संकेत रूप भावना का दृष्टान्त दिया गया है उसकी यथार्थ ब्रह्म की भावना के साथ संगति होने के विज्ञापन के लिये कुछ विशेष व्याख्यान किया जाता है।

शब्द रूप उच्चारण किये गये भिन्न भिन्न वर्णों की भावना के लिये उनके स्थान में संकेत से नियत किये गये जो आकृति वा चिह्न विशेष रूप अक्षर हैं वे केवल शब्द रूप वर्णों के स्मरण व ज्ञान के हेतु (निमित्त) व द्वारा होते हैं स्वयं (आप) शब्द रूप नहीं होते परन्तु अभेद के समान माने जाते वा ज्ञात होते हैं लिखे हुये अकार आदि अक्षरों वा पदों को देख कर पढ़ने वाला शब्द रूप वर्ण पद वाक्यों को कहता और उनके अर्थों को समझता जाता है और दूसरे से भी शब्दों व अर्थों को कहता जाता है उस समय में निराकार शब्द व साकार अक्षरों के पृथक होने की बुद्धि को धारण नहीं करता तथापि तत्वतः शब्द रूप वर्ण व पद साकार अक्षर नहीं होते न अक्षर शब्दों के साकार व रूपवान् माने जाने अथवा होने के लिये सङ्केत से नियत किये गये हैं और न लिखे जाते हैं ऐसे ही व्यक्ति विशेष में ब्रह्म की भावना करने से उसमें ब्रह्म के गुण धर्मों की व ब्रह्म रूप होने की बुद्धि प्राप्त होती है परन्तु उसमें भावना करने से ब्रह्म साकार नहीं होता न साकार में उपासना ब्रह्म के साकार होने व माने जाने के लिये की जाती है अब भिन्न व्यक्तियों में ब्रह्म की उपासना करने के विषय में दृष्टान्त यह है कि जैसे अन्य देश व अन्य देश वासियों के व्यवहार व प्रयोग में अक्षरों वा आकार व रूप और पदार्थों के वाचक शब्द भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु वाच्य अर्थ में भेद नहीं होता जैसे परमेश्वर सूर्य व चन्द्र नाम से जो वाच्य अर्थ परमेश्वर सूर्य व चन्द्र हैं वे अन्य देशों में अन्य नामों से कहे और लिखे जाने में अक्षर व नाम तो अन्य हो जाते हैं परन्तु वाच्य अर्थ परमेश्वर सूर्य और चन्द्र में भेद नहीं होता ऐसे ही भिन्न व्यक्ति वा वस्तु में ब्रह्म के गुणों से ब्रह्म की भावना करने में अक्षरों व पदों के भेद के समान उपासना के अधिष्ठान वा

द्वारा में भेद होने पर भी ब्रह्म के निराकारत्व आदि गुणों से भावना किये गये ब्रह्म में कुछ भेद नहीं होता ॥

अन्य अन्य देशों में आर्य्य म्लेच्छ आदि वर्णों में भिन्न भिन्न अक्षर वाणी व पदों से पदार्थों के वाच्य होने और शब्दों में भेद होन पर भी उनसे वाच्य अर्थ में भेद न होने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस देश जिस जाति में जैसे अक्षर और जो नाम जिन अर्थो के लिये सक्त से मान लिये गये हैं उन्हीं अक्षरों द्वारा व उन्हीं शब्दों व नामों से उनसे वाच्य अर्थों का उस देश के रहने वालों को बोध होता है अन्य देश वालों को अन्य देश के शब्द व नामों से जब तक उस देश की वाणी को न सीखे उनसे वाच्य वा ज्ञेय अर्थों का ज्ञान नहीं होता इससे शब्द व अर्थ का सम्बन्ध केवल मान लिये सकेत मात्र का है।

इस शब्द का यह अर्थ समझा जायगा इस प्रकार से शब्द व नाम से अर्थ के जानने का नियम करना सकेत है।

शब्द व अर्थ का सम्बन्ध सामयिक अर्थात् साकेतिक (संकेत से माना हुआ) है वास्तविक व स्वाभाविक नहीं है इस सिद्धान्त को महर्षि गौतम जी ने न्याय दर्शन में और कणाद जी ने वैशेषिक दर्शन में वर्णन किया है यथा।

नसामयिकत्वाच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य । न्याय अ० २ आ० १ सू० ५८।

अर्थ—नहीं अर्थात् शब्द व अर्थ का ज्ञान सम्बन्ध से नहीं है अर्थात् वास्तविक सम्बन्ध से नहीं है किस हेतु से नहीं है शब्द व अर्थ के ज्ञान के सामयिक होने से अर्थात् शब्द व अर्थ का ज्ञान सकेत सम्बन्धी होने से आशय यह है कि शब्द व अर्थ का ज्ञान संकेत से होता है इससे तात्विक सम्बन्ध नहीं है तथा

सामयिक शब्दार्थ प्रत्यय । वैशेषिक आ०७ अ० २ सू० २०।

अर्थ—शब्द व अर्थ का ज्ञान सामयिक (साकेतिक) है अर्थात् सकेत से मान लिये हुये सम्बन्ध से होता है।

और यह भी प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि उत्पन्न बालक का कोई नाम नहीं होता जब उसका कोई नाम रख दिया जाता है और यह ज्ञात हो जाता है कि इसका यह नाम है तब उस नाम से वह अपने को जानता है और सब जन उसको जानते है और प्राय यह भी विदित हुआ है कि जो नाम प्रथम रक्खा गया है फिर प्रथम का नाम उत्तम ज्ञात न होने से अथवा किसी हेतु से कुछ काल पीछे वह त्याग दिया गया है दूसरा नाम रख दिया गया है वह दूसरा ही नाम प्रसिद्ध हो जाने पर प्रचरित हो गया है इत्यादि हेतुओं से शब्द व अर्थ का केवल साकेतिक भावना रूप सम्बन्ध होना सिद्ध होता है और इसी सम्बन्ध से सब व्यवहार ज्ञान कर्म और कर्म फल जगत् में सिद्ध होते है इसी प्रकार से मुक्तात्मा सिद्ध पुरुष में ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करने में ब्रह्म ज्ञान व प्राप्ति की सिद्ध होने का निश्चय करना चाहिये।

कोई साकार उपासक भिन्न देवताओं की उपासना करने का यह हेतु वर्णन करते है कि लौकिक मनुष्यों की चित्त वृत्तियां सत्वरज व तमगुणों और इनके

परस्पर न्यून अधिक मेल युक्त होने से अनेक प्रकार की होती हैं जिसके चित्त में जिस गुण की अधिकता होती है उसी गुण युक्त उपास्य देवता में उसके चित्त की प्रवृत्ति शीघ्र हो सकती है क्योंकि उसके चित्त से उसकी निवृत्ति क्रम से कुछ काल में हो सकती प्रथम ही से होना कठिन है पीछे चित्त स्थिर होने व सत्वगुण की उन्नति होने में फिर विरक्त व शान्तचित्त हो निर्विकार इन्द्रियों के विषयों से परे परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त होने के योग्य होता है यह हेतु भी एक अंश में मन्तव्य हो सकता है।

यद्यपि उपनिषद् जो मुख्य ब्रह्म के ज्ञान व उपासना की विद्या है उसमें वर्णित अन्य एक देशीय व साकार उपासना विधि के साधर्म्य से विष्णु शिवरामकृष्ण आदि की उपासना का प्रतिपादन किया गया है परन्तु वाजसनेय आदि विशेष मन्तव्य दश उपनिषद् ग्रन्थों में कहीं किसी शरीरवान के उपास्य होने का वर्णन नहीं है निराकार आकाश और मन प्राण, प्रणव गायत्री और रूपवान् तेज सूर्य आदि द्वारा उपासना करने का वर्णन है परन्तु विष्णु आदि शरीरवान् अथवा मनुष्य शरीरवान् किसी अवतार की उपासना वर्णन न करने का कारण यह अनुमान किया जाता है कि उपनिषद् के ज्ञाता महर्षियोंने यह विचार कर कि उपनिषद् के आशय और तत्व के जाननेवाले और उसके अनुसार ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करने वाले बहुत ही कम कोई विरले होंगे सामन्यत साकार के उपासना करने वाले शरीरवान् विष्णु आदि में शरीरवान् ही की भावना करके वस्त्र आभूषण धारण किये हुये रूपका ध्यान करेंगे प्राय लक्ष्मी आदि स्त्री सहित विष्णु आदि के ध्यान व पूजन में प्रवृत्त होंगे ऐसी उपासना ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती न ऐसी उपासना से ब्रह्म की प्राप्ति रूप उत्कृष्ट फल प्राप्त होगा और यह भी जानकर कि प्रबल इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होने वाला दुर्जय मन जब तक साधन व विराग विशेष से सर्वथास्थिर व वश न हो जावे तब तक स्त्री व पुरुष के चित्त में मनुष्य शरीर रूप से उपासना करने में ब्रह्म दृष्टि करने की योग्यता न होना इन्द्रिय विषयक विकार या बुद्धि उत्पन्न होना रूप, हानि कारक विघ्न होना संभव है इससे और यह भी निश्चय करके कि प्रकाशमय पुरुष प्राण आकाश गायत्री प्रणव आदि जो सब के लिये समान है इनमें और इनके द्वारा उपासना करने में बुद्धि भेद व विरोध का कोई कारण नहीं हो सकता परन्तु भिन्न व्यक्ति व गुणवाले देवताओं के उपासकों में मत भेद व विरोध होना संभव है इससे परस्पर मतविरोध दोष होने व उक्त दोष संभव होने से विशेष उपयोगी न समझकर शरीरवान् की उपासना का वर्णन नहीं किया।

अपने चित्त की वृत्तिओर मन की अवस्था को विचार कर जो उत्तम समझे वह अपनी बुद्धि अनुसार उपासना कर सकता है यद्यपि ऐसा माना जा सकता है कि।

मुक्तात्मनः मर्थगाउपासासिद्धस्यथा ॥

इस सांख्य सूत्र में जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है सांख्य आचार्य्य के मत अनुसार श्रुतियों में मुक्तात्मा की प्रशंसा अथवा सिद्ध पुरुष की उपासना की विधि सिद्ध होती है इससे सिद्ध पुरुषों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव प्राह्य होने से उनकी उपासना मन्तव्य होने से और विष्णुही के अवतार राम व कृष्ण होने से इन की भी उपसना मन्तव्य है परन्तु उपनिषद् जो ब्रह्मज्ञान व उपासना की विशेष विद्या है उस वेद भाग व वेद सम्बधी उपनिषद् के जो ग्रंथ यजुर्वेदीय ईशावास्य १ कठवल्ली २ तैतिरीय ३ बृहदारण्यक ४ श्वेताश्वतर ५ ऋग्वेदीय ऐतरेय १ सामवेदीय तरावकार १ छन्दोग्य २ अथर्ववेदीय मुण्डक १ माण्डूक्य २ प्रश्न ३ नामक हैं इनमें शरीरवान विष्णु आदि की उपासना के न होने का हेतु अनुमान से वर्णन किया गया है परन्तु यदि अवतारों की उपासना के विषय में यह कल्पना की जाय कि उपनिषद् ग्रंथ और सांख्य व योग दर्शन ग्रंथ रामचन्द्र जी के अवतार से पहिले के हैं इस से राम व कृष्ण की उपासना का वर्णन नहीं है तो इस पर यह आशङ्का हो सक्ती है कि यदि उक्त ग्रन्थ उक्त अवतारों से पहिले ही के कल्पना कर लिये जावें तो व्यास जी श्रीकृष्ण जी के अवतार होजाने के समय में विद्यमान थे जिनके पाण्डु नियोगज पुत्र युधिष्ठिर अर्जुन आदि पौत्र श्रीकृष्ण जी उनके सम्बन्धी थे उन्होंने वेदान्त दर्शन के सूत्रों को वर्णन किया है जो वह अवतारों की अथवा अवतारों के द्वारा ब्रह्म की उपासना करना अपनी और ऋषियों की सम्मति के अनुकूल जानते तो वेदान्त सूत्रों में कहीं उपासना सम्बन्ध में वर्णन करते परन्तु कहीं वर्णन नहीं किया इससे ऋषियों की सम्मति के अनुकूल होना सिद्ध नहीं होता इस शङ्का का उत्तर अवतारों के उपास्य माननेवाले यही दे सक्ते हैं कि वेदान्त सूत्रों को व्यास जी ने उपनिषद् वाक्यों में वर्णित निर्णय के योग्य अर्थ के तत्त्व निर्णय के लिये बनाया है इससे जो मूल उपनिषद् वाक्यों में था उसका व्याख्यान व निर्णय किया है अपनी बुद्धि से स्वयं वेदान्त दर्शन को निर्मित नहीं किया इससे मूल के आशय से पृथक् स्वतन्त्र अपनी सम्मति के व्यक्ति करने का अधिकार न होने से वेदान्त सूत्र में स्वतन्त्र अपनी सम्मति को प्रकाशित नहीं किया।

परन्तु वाल्मीकि जी से निर्मित वाल्मीकि रामायण और व्यास जी से निर्मित महाभारत में विशेष स्थलों में श्रीराम व कृष्ण के विष्णु व नारायण के अवतार होने व उनके सब देवताओं से उत्कृष्ट होने व उनके गुण कर्म व सामर्थ्य की उत्कृष्टता का वर्णन है।

अब जो यह प्रश्न किया जाय कि सिद्ध पुरुषों के समान देवी भगवती की भी उपासना करना चाहिये अथवा नहीं तो इसका उत्तर यह है कि यदि इस तर्क से कि परमात्मा ने स्त्री व पुरुष दोनों को उत्पन्न किया है इससे जो पुरुष विशेष की व्यक्ति में अथवा उस व्यक्ति के द्वारा उपासना की विधि स्वीकार के योग्य होगी तो स्त्री विशेष में भी मन्तव्य होना चाहिये अथवा अन्य किसी भाव से स्त्री विशेष रूप देवी का उपास्य होना स्वीकार किया जाय तो पुरुष को

परस्पर न्यून अधिक मेल युक्त होने से अनेक प्रकार की होती है जिसके चित्त में जिस गुण की अधिकता होती है उसी गुण युक्त उपास्य देवता में उसके चित्त की प्रवृत्ति शीघ्र हो सकती है क्योंकि उसके चित्त से उसकी निवृत्ति क्रम से कुछ काल में हो सकती प्रथम ही से होना कठिन है पीछे चित्त स्थिर होने व सत्वगुण की उन्नति होने में फिर विरक्त व शान्तचित्त हो निर्विकार इन्द्रियों के विषयों से परे परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त होने के योग्य होता है यह हेतु भी एक अंश में मन्तव्य हो सकता है।

यद्यपि उपनिषद् जो मुख्य ब्रह्म के ज्ञान व उपासना की विद्या है उसमें वर्णित अन्य एक देशीय व साकार उपासना विधि के साधर्म्य से विष्णु शिवरामकृष्ण आदि की उपासना का प्रतिपादन किया गया है परन्तु वाजसनेय आदि विशेष मन्तव्य दश उपनिषद् ग्रन्थों में कहीं किसी शरीरवान के उपास्य होने का वर्णन नहीं है निराकार आकाश और मन प्राण, प्रणव गायत्री और रूपवान् तेज सूर्य आदि द्वारा उपासना करने का वर्णन है परन्तु विष्णु आदि शरीरवान् अथवा मनुष्य शरीरवान् किसी अवतार की उपासना वर्णन न करने का कारण यह अनुमान किया जाता है कि उपनिषद् के ज्ञाता महर्षियोंने यह विचार कर कि उपनिषद् के आशय और तत्व के जाननेवाले और उसके अनुसार ब्रह्म दृष्टि करके उपासना करने वाले बहुत ही कम कोई विरले होंगे सामन्यतः साकार के उपासना करने वाले शरीरवान् विष्णु आदि में शरीरवान् ही की भावना करके वस्त्र आभूषण धारण किये हुये रूपका ध्यान करेंगे प्राय लक्ष्मी आदि स्त्री सहित विष्णु आदि के ध्यान व पूजन में प्रवृत्त होंगे ऐसी उपासना ब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती न ऐसी उपासना से ब्रह्म की प्राप्ति रूप उत्कृष्ट फल प्राप्त होगा और यह भी जानकर कि प्रबल इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होने वाला दुर्जेय मन जब तक साधन व विराग विशेष से सर्वथा स्थिर व वश न हो जावे तब तक स्त्री व पुरुष के चित्त में मनुष्य शरीर रूप से उपासना करने में ब्रह्म दृष्टि करने की योग्यता न होना इन्द्रिय विषयक विकार वा बुद्धि उत्पन्न होना रूप, हानि कारक विघ्न होना सभव है इससे और यह भी निश्चय करके कि प्रकाशमय पुरुष प्राण आकाश गायत्री प्रणव आदि जो सब के लिये समान है इनमें और इनके द्वारा उपासना करने में बुद्धि भेद व विरोध का कोई कारण नहीं हो सकता परन्तु भिन्न व्यक्ति व गुणवाले देवताओं के उपासकों में मत भेद व विरोध होना सभव है इससे परस्पर मतविरोध दोष होने व उक्त दोष सभव होने से विशेष उपयोगी न समझकर शरीरवान् की उपासना का वर्णन नहीं किया।

अपने चित्त की वृत्ति और मन की अवस्था को विचार कर जो उत्तम समझे वह अपनी बुद्धि अनुसार उपासना कर सकता है यद्यपि ऐसा माना जा सकता है कि।

मुक्तात्मनः प्रथंवाउपासासिद्धस्यथा ॥

इस सांख्य सूत्र में जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है साङ्ख्य आचार्य के मत अनुसार श्रुतियों में मुक्तात्मा की प्रशंसा अथवा सिद्ध पुरुष की उपासना की विधि सिद्ध होती है इससे सिद्ध पुरुषों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव ग्राह्य होने से उनकी उपासना मन्तव्य होने से और विष्णुही के अवतार राम व कृष्ण होने से इन की भी उपसना मन्तव्य है परन्तु उपनिषद् जो ब्रह्मज्ञान व उपासना की विशेष विद्या है उस वेद भाग व वेद सम्बंधी उपनिषद् के जो ग्रंथ यजुर्वेदीय ईशावास्य १ कठवल्ली २ तैत्तिरीय ३ बृहदारण्यक ४ श्वेताश्वतर ५ ऋग्वेदीय ऐतरेय १ सामवेदीय तलवकार १ छन्दोग्य २ अथर्ववेदीय मुण्डक १ माण्डूक्य २ प्रश्न ३ नामक हैं इनमें शरीरवान विष्णु आदि की उपासना के न होने का हेतु अनुमान से वर्णन किया गया है परन्तु यदि अवतारों की उपासना के विषय में यह कल्पना की जाय कि उपनिषद् ग्रंथ और साङ्ख्य व योग दर्शन ग्रंथ रामचन्द्र जी के अवतार से पहिले के हैं इस से राम व कृष्ण की उपासना का वर्णन नहीं है तो इस पर यह आशङ्का हो सकती है कि यदि उक्त ग्रंथ उक्त अवतारों से पहिले ही के कल्पना कर लिये जावें तो व्यास जी श्रीकृष्ण जी के अवतार होजाने के समय में विद्यमान थे जिनके पाण्डु नियोगज पुत्र युधिष्ठिर अर्जुन आदि पौत्र श्रीकृष्ण जी उनके सम्बन्धी थे उन्होंने वेदान्त दर्शन के सूत्रों को वर्णन किया है जो वह अवतारों की अथवा अवतारों के द्वारा ब्रह्म की उपासना करना अपनी और ऋषियों की सम्मति के अनुकूल जानते तो वेदान्त सूत्रों में कहीं उपासना सम्बन्ध में वर्णन करते परन्तु कहीं वर्णन नहीं किया इससे ऋषियों की सम्मति के अनुकूल होना सिद्ध नहीं होता इस शङ्का का उत्तर अवतारों के उपास्य माननेवाले यही दे सकते हैं कि वेदान्त सूत्रों को व्यास जी ने उपनिषद् वाक्यों में वर्णित निर्णय के योग्य अर्थ के तत्व निर्णय के लिये बनाया है इससे जो मूल उपनिषद् वाक्यों में था उसका व्याख्यान व निर्णय किया है अपनी बुद्धि से स्वयं वेदान्त दर्शन को निर्मित नहीं किया इससे मूल के आशय से पृथक् स्वतन्त्र अपनी सम्मति के व्यक्त करने का अधिकार न होने से वेदान्त सूत्र में स्वतन्त्र अपनी सम्मति को प्रकाशित नहीं किया।

परन्तु वाल्मीकि जी से निर्मित वाल्मीकि रामायण और व्यास जी से निर्मित महाभारत में विशेष स्थलों में श्रीराम व कृष्ण के विष्णु व नारायण के अवतार होने व उनके सब देवताओं से उत्कृष्ट होने व उनके गुण कर्म व सामर्थ्य की उत्कृष्टता का वर्णन है।

अब जो यह प्रश्न किया जाय कि सिद्ध पुरुषों के समान देवी भगवती की भी उपासना करना चाहिये अथवा नहीं तो इसका उत्तर यह है कि यदि इस तर्क से कि परमात्मा ने स्त्री व पुरुष दोनों को उत्पन्न किया है इससे जो पुरुष विशेष की व्यक्ति में अथवा उस व्यक्ति के द्वारा उपासना की विधि स्वीकार के योग्य होगी तो स्त्री विशेष में भी मन्तव्य होना चाहिये अथवा अन्य किसी भाव से स्त्री विशेष रूप देवी का उपास्य होना स्वीकार किया जाय तो पुरुष को

पुरुषरूप और स्त्री को स्त्री रूप देवता की उपासना करना चित्त वृत्ति के लिये उपयोगी व विघ्न रहित होना विदित होता है परन्तु इस प्रकार की उपासना उत्पन्न व नाश होनेवाले शरीरधारी देवताओं में ब्रह्म दृष्टि वा भावना करने की विधि में वर्णित है।

काल की मर्यादा रहित प्रलय होने में सृष्टि के नाश होने पर भी अपने तत्व रूप में स्थिर रहनेवालेनित्यतीन ही पदार्थ हैं एक जड़ जगत की उपादानकारण रूप प्रकृति १ द्वितीय जीवात्मा २ तृतीय परमात्मा ३ इन तीनों में से जीवात्मा अपने कर्म अनुसार दुःख व सुख को भोग करता है और आत्मज्ञान व परमात्मा की उपासना से जीवात्मा मुक्त होकर नित्य बन्धन व क्लेशों से रहित आनन्द रूप ब्रह्म को प्राप्त हो परमानन्द को प्राप्त होता है।

परमात्मा चेतन पुरुष रूप और जड़ प्रकृति स्त्री रूप वर्णन की गई है चेतन सिद्ध पुरुषों में चेतन परमात्मा का अध्यास करना और परमात्मा ब्रह्म की दृष्टि करके उपासना करना उत्तम और कल्याण कारक है परन्तु स्त्री शरीर में प्राप्त चेतन आत्मा में जड़ प्रकृति की भावना करना युक्त नहीं है यदि एक स्त्री विशेष भगवती उपास्य मान कर उस में जड़ प्रकृति की भावना की जायगी तो

यथाक्रतुरस्मिन्लोकेपुरुषोभवति तथेतः प्रेत्य भवति ॥

अर्थ-जैसा सङ्कल्प इस लोक में (मनुष्य शरीर में) पुरुष करता है वैसा इस शरीर से जाकर मरने के पीछे होता है।

इस उपनिषद् वाक्यके प्रमाणसे सङ्कल्प के अनुसार गति होने व फल प्राप्त होने से प्रकृति की भावना करनेवाले चेतन आत्मा को महा अनर्थ रूप अचेतन जड़ रूप होने का फल प्राप्त होगा अन्य कोई लौकिक स्त्री उपास्य नहीं हो सकती इस प्रकार से पुरुष और प्रकृति को पुरुष और स्त्री रूप मनाने में स्त्री को उपास्य होना मन्तव्य सिद्ध नहीं होता दूसरे पक्ष में इस तात्विक लक्ष्य से स्त्री व पुरुष भेद से कोई उपास्य वस्तु होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि शरीर वान जितना है चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष वे दोनों प्रकृति व पुरुष रूप हैं क्योंकि स्त्री व पुरुष दोनों के शरीर प्रकृति के कार्य होने से प्रकृतिमय वा प्रकृति रूप हैं इससे प्रकृति स्त्री व पुरुष दोनों है और परमात्मा भेद रहित अन्तर्यामी व व्यापक रूप से पुरुष व स्त्री दोनों के शरीर में एक ही समान रहता है इससे चेतन अंश में परमात्मा ब्रह्म पुरुष व स्त्री दोनों है इससे प्रकृति वा पुरुष में स्त्री व पुरुष होने की कुछ विशेषता नहीं है न प्रकृति स्त्री है न चेतन आत्मा पुरुष है क्योंकि शरीर सम्बन्धी स्त्रीत्व व पुरुषत्व के लक्षण दो में से एक में भी नहीं हैं और स्त्री व पुरुषों के शरीर प्रकृति और आत्मामय होने से प्रकृति व पुरुष दोनों स्त्री व पुरुष दोनों है इससे प्रकृति व पुरुष में स्त्री व पुरुष भेद मानना यथार्थ नहीं है यदि यह शङ्का हो कि प्रकृति शब्द स्त्री लिङ्ग है इससे प्रकृति को स्त्री और परमात्मा पुरुष को पुरुषमानना चाहिये तो इसका उत्तर

यह है कि शब्द के रूप में स्त्रीलिङ्ग व पुलिङ्ग भेद शाब्दिकों की बालक्रीडावत शब्दों के प्रयोगमात्र की क्रीडा है तात्विक नहीं है क्योंकि एक ही परमात्मा जो पुरुष आत्मा परमेश्वर इन पुलिङ्ग शब्दों से वाच्य होता है वही ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग से वाच्य होता है वहाँ पुरुष वही नपुंसक नहीं हो सकता तथा जो जल द्रव्य वारि व जल नपुंसक लिङ्ग के शब्दों से वाच्य होता है वही अप शब्द स्त्री लिङ्गके शब्द से वाच्य होता है वही नपुंसक स्त्री दोनों एक ही मन्तव्य नहीं हो सकता इससे शब्द प्रयोग मात्र का लिंग भेद वाच्यपदार्थ के लिंग भेद का कारण मन्तव्य नहीं हो सकता इससे उक्त प्रकार से प्रकृति व पुरुष अर्थात् परमात्मा में स्त्री व पुरुष भेद मन्तव्य नहीं है परमात्मा चेतन रूप है व प्रकृति जड रूप है इससे प्रकृति जड उपादान कारण व चेतन परमात्मा निमित्त कारण दो जगत् की उत्पत्ति व जीवात्मा के कर्म फल भोग के कारणों में केवल जड व चेतन होने व उक्त प्रकारसे दो प्रकार के कारण होने का भेद स्वीकार करने के योग्य है और स्त्री व पुरुष भेद रहित ही निराकार सर्वव्यापक अन्तर्यामी सत्य सकल्प सर्वशक्तिमान, सच्चिदानन्द ब्रह्म की उपासना करना ही तात्विक सर्वोत्कृष्ट उपासना है यह सिद्धान्त है। परन्तु उक्त प्रकार से ब्रह्म दृष्टि से (भावना से) विष्णु आदि व विष्णु के अवतारों की उपासना भी कर्तव्य है।

इसमें विष्णु व अवतारों की उपासना करनेवालों को विष्णु आदि के सर्वथा परमात्मा ब्रह्म रूप सिद्ध न होने के वर्णन में न्यूनता समझने में केवल अपना अविवेक ही समझना चाहिये क्योंकि वाल्मीकि रामायण और पुराणों में भी विचार करने से साक्षात् परमात्मा ब्रह्म का अवतार लेना नहीं लिखा।

पुराण ही सत्वगुण रूप विष्णु रजोगुण रूप ब्रह्मा तमोगुण रूप रुद्र का होना लिखा है तीन गुणों में से एक गुणरूप विष्णु के होने से विष्णु का एक अंश होना सिद्ध होता है फिर अंश रूप विष्णु के अंश से राम व कृष्ण के अवतार होना लिखा है जैसे दशरथ महाराज के पुत्रेष्टि यज्ञ करने में प्राप्त हुई पायस (खीर) के भागानुसार विष्णु अपने अंशसे राम आदि चार भाइयों के रूप से प्रकट हुये इत्यादि और जो ऐसे वाक्य कहे जाते हैं कि राम अथवा कृष्ण पूर्ण ब्रह्म है अन्य अवतार अंश रूप हैं यह जो जिस रूपनसे व जिसको ब्रह्मरूप मानकर उपासना करता है उसका उसमें ब्रह्म दृष्टि रखने से ऐसा कहना युक्त हो सकता है और इसी भावसे उपासना कर्तव्य है परन्तु तत्वत. जैसा वर्णन किया गया है वही मन्तव्य है ॥

इतिश्रीतत्वमार्तण्डेश्रीस्वामिप्रभूतानन्दनिर्मिते
साकारनिराकारोपासनावर्णनविषये
चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ देवता मन्त्रव प्रेत विषयक समीक्षा

अब यह विचारणीय है कि जो आर्य्य समाजी महाशय सूर्य चन्द्र आदि कोई चेतन देवता तथा पितृलोक देवलोक गधर्वलोक प्रजापतिलोक और इन लोकों में पितृ आदि चेतन शरीरधारी व्यक्तियों को नहीं मानते इसीसे गधर्व शब्द का अर्थ गानेवाला ब्रह्मा शब्द का अर्थ चारों वेद का जानने वाला विद्वान करते हैं इससे इस विषय में प्रश्न व उत्तर की रीति से समीक्षा की जाती है (प्रश्न) सूर्य चन्द्र गधर्व, पितृ, देवता इन्द्र प्रजापति ये चेतन मन्तव्य हैं वा नहीं और यज्ञ में देवता भाग ग्रहण करते हैं वा नहीं (उत्तर) ये सब चेतन मन्तव्य हैं परन्तु जो गोलाकार यह सूर्य मण्डल और चन्द्रमण्डल उदय और अस्त होते देखा पड़ते हैं ये भी जैसे यह भूगोल अर्थात् पृथिवी जड हैं ऐसे ही जड हैं परन्तु जैसे इस पृथिवी में हम मनुष्य पार्थिव (पृथिवी के अधिक अश से बने हुये) शरीर वाले रहते हैं और मनुष्य रूप प्रजाओं का कोई अधिपति राजा होता है ऐसे ही सूर्य लोक में तेजसे (तेजके अधिक अशसे बने हुये) शरीरवाले शरीरधारी रहते हैं और उन शरीरधारी प्रजाओं का स्वामी जो तेजो रूप भूगोल अर्थात् सूर्य मण्डल लोक में है वह भी सूर्य नाम से वाच्य होता है* वह चेतन और मनुष्यों की अपेक्षा सामार्थ्यवान् व तेजस्वी होनेसे देवता नाम से वाच्य होता है ऐसे ही चन्द्रलोक में आप्य (जलके अधिक अश से बने हुवे) शरीर धारियों का स्वामी भी चन्द्रनाम से वाच्य चेतन देवता है सूर्यलोक आदि लोकों के स्वामियों के नाम ज्ञात न होने से सूर्यलोक का स्वामी सूर्य ही नाम से चन्द्रलोक का स्वामी चन्द्र नाम से वाच्य होता है ऐसे ही अन्य लोकों के विषय में समझना चाहिये सूर्यलोक चन्द्र लोक के रहनेवाले शरीर धारियों के शरीर तेजोमय व जलमय होने का निश्चय इससे किया जाता है कि अन्य आचार्यों ने भी ऐसा वर्णन किया है परन्तु उनमें से कपिलाचार्य ने जो साङ्ख्य दर्शन में वर्णन किया है वह प्रमाण के लिये लिखते हैं साङ्ख्यदर्शन के तृतीय अध्याय में स्थूल शरीर के विचार में ऐसा वर्णन है।

पाञ्चभौतिकोदेहः ॥सां० अ० ३ सू० १७।

अर्थ—देह पाच भूतों से निर्मित है।

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश इन पाच भूतों के मेल से देह बना है।

चातुर्भौतिकमित्यके * ॥ अ० ३ सू० १८।

अर्थ—एक ऐसा कहते हैं कि चारही भूतों का शरीर बनता है।

जो चारही भूतों से शरीर का बनना मानते हैं उनका आशय यह है कि

* इस सूत्रमें शरीर शब्द को मिलाके चातुर्भौतिक शरीर मित्येके ऐसा पाठ समझना चाहिये।

आकाश व्यापकता से शरीर में रहता है वह शरीर की रचना का आरम्भ करने वाला नहीं होता इससे पृथिवी, जल, तेज और वायु इनहीं चार भूतों से शरीर की रचना होती है।

एक भौतिकमित्यपरे ॥ अ० ३ सू० १६।

अर्थ—अन्य कोई यह कहते है कि एक ही भूत का शरीर होता है।

एक भूत से कोई शरीर नहीं बनता इससे एक भूत की अधिकता विशेष होने से एक भौतिक कहा है अर्थात् जिस लोक में जिस भूत की अधिकता से शरीर बनता है उस लोक में उसी भूत का शरीर वाच्य होता है जैसे इस पृथिवी में मनुष्यों के शरीरों में पृथिवी की अधिकता होने से पार्थिव कहे जाते हैं सूर्यलोक के शरीरधारियों में तेज की अधिकता होने से उनके शरीर तैजस कहे जाते हैं इसके सिवाय बुद्धि द्वारा अनुमान से भी सूर्यलोकस्थ प्राणियों के शरीर तैजस ही हो सकते हैं मनुष्यों के ऐसे शरीर नहीं हो सकते प्रबल सूर्य के तेज युक्त वायु लगने से (अर्थात् लूह लगने से) अनेक मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं ऐसे मनुष्यों के शरीर सिवाय भस्म हो जाने के सूर्य लोक में स्थिर नहीं रह सकते तेजोमय शरीर ही सूर्यलोक में रह सकते हैं।

सूर्य व चन्द्र लोक के स्वामी सूर्य व चन्द्र नाम से वाच्य होने का दृष्टान्त भूलोक ही में पुराणों में वर्णित हिमाचल की कथा से ग्राह्य है अर्थात् इतिहास में जो हिमाचल पर्वत के यहां पारवती का जन्म होना और पार्वती का शिव जी के साथ विवाह होना और हिमाचल और हिमाचल की स्त्री मैना का विवाह में कन्यादान देना आदि लिखा है यह सब कथन पर्वत में सम्भव नहीं हो सकता मिट्टी व पत्थरमय पर्वत से मनुष्य रूप कन्या का होना आदि सर्वथा असम्भव है।

तत्रत हिमाचल पर्वत का रहने वाला जो हिमाचल का राजा था उसका भी हिमाचल नाम वर्णन किया है उसके कन्या होना उसका विवाह होना आदि सब यथार्थ है वर्तमान समय में भी एक दृष्टान्त इस प्रकार का प्रसिद्ध है वह यह है कि इस समय में जो इस आर्यावर्त देश के सम्राट् हैं वह विदेशी है उनकी भाषा अंगरेजी में मध्य आर्यावर्त को सेन्ट्रल इन्डिया कहते हैं।

जो महाशय श्रीमान् सम्राट् के महामात्र के सहायकारी पद में उक्तदेश में (सेन्ट्रल इन्डिया में) राज्य कार्य में नियुक्त है उनको लौकिक जन जो उक्त देश के भाग वाचक शब्द के अर्थ को नहीं जानते सेन्ट्रल इन्डिया महाशय नाम से कहते हैं इसी प्रकार से सूर्यलोक आदि के स्वामी सूर्य आदि नाम से वाच्य होते हैं॥

सूर्य आदि लोकों में शरीरधारी बसते है इसमें यह शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण है।

एतेषुहीदꣳसर्वंवसु हितमेते हीदꣳसर्वंवासयन्ते

तद्यदिदꣳसर्वंवासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥—शत०का० १४।

अर्थ—इनमें अर्थात् उक्त पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश चन्द्र नक्षत्र और सूर्य में निश्चय से यह सब रहने वाला जगत स्थित है ये ही इस सब जगत् को बसाते हैं जिससे कि ये सब को अर्थात् सब पदार्थ और प्रजा को बसाते हैं अथवा बसने के हेतु होते हैं इससे वसु हैं यही शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण श्री स्वामी दयानन्द जी ने भी सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ के आठवें समुल्लास के अन्तमें जो वैदिक यन्त्रालय प्रयाग सन् १८८७ ईस्वी का मुद्रित हमारे यहाँ उपस्थित है लिखा है और स्वामी ही जी का यह लेख है कि जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र व नक्षत्र वसु हैं तब उनमें इसी प्रकार प्रजा होने में क्या सन्देह है और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्य आदि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या यह सब लोक शून्य होंगे

परमेश्वर का कोई भी काम निःप्रयोजन नहीं होता तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफलता कभी हो सकी है ? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

फिर इसके आगे यह लिखा है कि जैसे इस देशवालों से और चीनी हबशी यूरोप वालों में अवयव रूप रंग और आकृति का भी थोड़ा २ भेद होता है इसी प्रकार लोक लोकान्तरों में भी भेद होता है स्वामी जी के इस लेख को यहां लिखने से केवल यह प्रयोजन है कि स्वामी जी भी सूर्य आदि लोक लोकान्तरों में चेतन शरीरधारी प्रजाओं का होना स्वीकार करते हैं परन्तु उन लोक निवासियों को भी स्वामी जी मनुष्य ही आदि शब्द से वाच्य कहते हैं और उन में चीन, हबशी, आर्य्यावर्त निवासियों में भेद होने के समान भेद होना वर्णन करते हैं यह यथार्थ नहीं है क्योंकि मनुष्यादि कहने का यही आशय ग्राह्य है कि मनुष्य और अन्य प्रकार के शरीर धारी पशु पक्षी आदि से जैसे यह छोटा सा भूलोक भरा हुआ है इसी तरह सब लोकों में मनुष्यादि सृष्टि है परन्तु मनुष्यों का सूर्यलोक आदि में रहना असम्भव होने का हेतु हमने पूर्व ही वर्णन किया है।

भूगोल के किसी भाग के चीन यूरोप आदि देश के रहने वालों के शरीर पार्थिव ही होते हैं इससे सजातीय होने से एक नाम से वाच्य हो सकें

यदि पितृ गन्धर्व देवता प्रजापति चेतन शरीरवान् न होते तो प्रत्येक के लोकों में आनन्द का और एक एक से उत्कृष्ट आनन्द दूसरे के लोक में होना वर्णन न किया जाता इससे पितृ आदि के भिन्न भिन्न लोक होना और प्रत्येक का चेतन होना सिद्ध होता है इसमें यह प्रमाण है।

सयो मनुष्याणाꣳराद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः समनुष्याणां परमानन्दः अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः सएकः पितृणां जितलोकानामानन्दः अथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः सएको गन्धर्वलोक आनन्दः अथ ये शतं गंधर्वलोक आनन्दाः सएकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्ते अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः सएक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहत अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः सएकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः सएको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः अथैष एव परमानन्दः एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥

अर्थ—यह जो मनुष्यों में ऋद्धि को प्राप्त (अर्थात् पूर्ण अङ्गों की पुष्टता व नीरोगता को प्राप्त) समृद्धि को प्राप्त (उपभोग की सम्पूर्ण सामग्री को प्राप्त) अन्य सब मनुष्यों का अधिपति (राजा) मनुष्यों के सम्पूर्ण भोगों से अत्यन्त परिपूर्ण है ऐसे को जो आनन्द है वह मनुष्यों का परम आनन्द है अब जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं अर्थात् मनुष्यों के ऐसे परम आनन्द का सौ गुणा आनन्द है वह उन पितरों का एक आनन्द है जिन्होंने पितरों के लोकों को जीता है अर्थात अपने उत्तम कर्म व साधन से पितृलोक को प्राप्त किया है या प्राप्त हुये हैं अब जो उन लोक जीते हुये पितरों के सौ आनन्द हैं वह गन्धर्व लोक में एक आनन्द है और जो गधर्व लोक में सौ आनन्द हैं वह कर्मदेवों का एक आनन्द है अर्थात् जो कर्म से देवता होते हैं उनका एक आनन्द है और जो कर्मदेवों के सौ आनंद हैं वे जो जन्म ही से देवता हैं उनका एक आनन्द और यह उस श्रोत्रिय (पूर्ण वेद के जानने वाले) को भी है जो पापों से रहित और कामनाओं से रहित है और जो ऐसे अजान देवों के (जन्म ही से जो देवता हैं उनके) सौ आनन्द हैं वे प्रजापति लोक में एक आनन्द है और यह

आनंद उस श्रोत्रिय को भी है जो पापों से रहित और कामनाओं से रहित है और जो प्रजापति लोक में सौ आनद है वह ब्रह्म लोक में एक आनद है और वह आनन्द उस श्रोतिय को भी है जो पापों से रहित और कामनाओं से रहित है और यह परम आनन्द (सब से बडा आनन्द) है यह ब्रह्म लोक है हे सम्राट यह याज्ञवल्क्य ने कहा (जनक ने कहा) मैं (उसके बदले) भगवान (आप) को सहस्र (गौएं) देता हूं इसके आगे मुझे मोक्ष ही के लिये कहिये।

अब इसमें जब श्रोत्रिय (पूर्ण यथोचित प्रकार से वेद जानने वाले) पापों से रहित कामनाओं से रहित के आनन्द को आजानदेवों के आनन्द से आरम्भ करके ब्रह्मलोक के आनन्द तक समान होना वर्णन किया है यह शङ्का हो सकती है कि जब ब्रह्मलोक में जो आनन्द सबसे उत्कृष्ट है उसके समान पाप और कामनाओं से रहित श्रोत्रिय के आनन्द को वर्णन किया है तो आजानदेवों व प्रजापति जो ब्रह्म से नीचे के लोक है उनके समान क्यों वर्णन किया है नीचे के एक लोक या ऊंचे के एक लोक के समान वर्णन करना यथार्थ था दोनों प्रकार के लोक के समान वर्णन करना अयुक्त है इसका उत्तर यह है कि श्रोत्रिय व पाप रहित होना सब भूमियों मे (लोकों में) एक ही समान है परन्तु काम हत होने में (कामनाओं से रहित होने में) भेद है किसी की छोटी छोटी कामनाएं दूर हो जाती हैं बडी कामनाएं विद्यमान रहती हैं जैसे यश की कामना इत्यादि किसी की ऐसी कामनाएं भी दूर हो जाती है इससे कामनाओं के न्यून और अधिक दूर होने से आनन्द में भेद हो जाता है कि किसी को आजान देवों के समान किसी को प्रजापति के समान आनन्द प्राप्त होता है और जो अत्यन्त कामनाओं से रहित केवल ब्रह्म की कामना युक्त होता है वह ब्रह्म को प्राप्त ब्रह्म लोक में ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त होता है यही परम आनन्द है।

आर्य समाज के पण्डित काव्यतीर्थ शिवशङ्कर जी ने बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य किया है उन्होंने भाष्य के आदि में जो अवतरणिका लिखा है उस में जो २ उनकी बुद्धि में उत्तम ज्ञात हुआ है अपनी बुद्धि से यथेष्ट निर्णय किया है परन्तु जिस उक्त उपनिषद् का भाष्य किया है उसके विशेष स्थलों के गूढाशयों को भाष्य में व्यक्त नहीं कर सके।

आर्य समाजी महाशय पितृ गन्धर्व देवता आदि के भिन्न २ लोक और उनको मनुष्य जाति से भिन्न चेतन शरीरधारी नहीं मानते इससे गन्धर्व शब्द का अर्थ गाने वाला देवता शब्द का अर्थ विद्वान् करते हैं ऐसे ही पण्डित शिवशङ्कर जी ने भी दोआख्यायिकों में बृहदारण्यक में जहां गन्धर्वशब्द आया है उसका अर्थ गाने वाला लिखा है परन्तु इस कण्डिका के भाष्य में जिसमें मनुष्य से सौ सौ गुण अधिक आनन्द पितृ आदि लोकों में वर्णन करके ब्रह्मानन्द को परम आनन्द वर्णन किया है गन्धर्व शब्द व देव शब्द का दूसरा अर्थ करने में जब विचार से कुछ नहीं करते बना तब जो मनुष्यों के सौ आनन्द है वह पितरों का एक आनन्द है इसी प्रकार से पितृ आदि के नाम मात्र लिख दिया है यह व्याख्यान कुछ

नहीं किया कि पितृ गधर्वआदिको है। अन्य अर्थ पितृ गधर्व और देव शब्द का उक्त करिडका के अर्थ में घटित नहीं होसकता था इससे अन्य अर्थ करना बुद्धि के सामर्थ्य से बाहर था क्योंकि जब ऋद्धि समृद्धि को प्राप्त अन्य मनुष्यों का अधिपति मनुष्य के सम्पूर्ण उपभोगोंसे सम्पन्न के आनन्द का सो गुणा आनन्द जिन पितरों का एक आनन्द है उनके सो आनन्द गधर्व लोक में एक आनन्द होने का वर्णन है तब ऐसा गधर्व किसी मनुष्य गानेवालों में से वर्णन किया जाना इस हेतु से असभव और अयुक्त था कि चाहे जैसा उत्तम गानेवाला हो वह मनुष्य ही राजा के समान आनन्द भोग नहीं कर सकता न भोग की सामग्री प्राप्त कर सकता है गानेवाले राजा के अधीन रहते हैं राजा की प्रसन्नता व अनुग्रह से धन प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं इससे जैसा गन्धर्व उक्त करिडका में वर्णन किया गया है ऐसा मनुष्य और पितरों से विलक्षण ही कोई लोकान्तरस्थ श्रेष्ठ व्यक्ति मन्तव्यहै वैसेही बहुत अधिक आनन्द में भेद होने से कर्मदेव आदिकों को समझना चाहिये तथा आजानदेवों के आनन्द को वर्णन करके वैसा ही आनन्द पाप और कामनाओं से रहित श्रोत्रिय को होना वर्णन करने से यह सिद्ध होता है कि साधारण विद्वानों की गणना देवताओंकी समता में नहीं हो सकती किन्तु जो श्रोत्रिय अर्थात् यथोचित सम्पूर्ण वेद का ज्ञाता हो और उत्तम साधन व विराग से पूर्ण धर्मात्मा पाप रहित और सब कामनाओं से रहित हो वह देवताओं के समान आनन्द प्राप्त होने व भोग करने का अधिकारी होता है इससे यद्यपि विद्वान् के लिये भी किसी आशय से देव शब्द का प्रयोग किया जावे परन्तु यह सिद्ध होता है कि विद्वान ही देव शब्द से वाच्य नहीं है उक्त करिडका में वर्णन किये गये के अनुसार देवता मनुष्यों से बहुत उत्कृष्ट अवस्थाप्राप्त शरीरधारी हैं।

इससे पितृ आदिकों का मनुष्यों से उत्कृष्ट और विशेष सामर्थ्यवाले होना सिद्ध है।

छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अन्तिम प्रपाठक के खगड सात से बारह खण्ड तक में प्रजापति ने जो इन्द्र व विरोचन को आत्मज्ञान का उपदेश किया है उस आख्यायिका का वर्णन है।

उसके आरंभ में ऐसा वर्णन है—

यश्रात्माऽपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकाम. सत्यसङ्कल्प. सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्य. स सर्वा्ँश्चलोकानाप्नोति सर्वा्ँश्चकामान्यस्तमात्मानमनुविद्यविजानातीतिह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

तद्धोभयेदेवासुराश्रनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्ततमात्मानमन्विच्छामोयमात्मानमन्विष्य सर्वा्ँश्चलोकानाप्नोति सर्वा्ँश्चका-

भानितीन्द्रो हवैदेवानमभि प्रवव्राज विरोचनो सुराणांतौ हार्स विदानावेव समित्पाणी प्रजापति सकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥ तौ ह द्वात्रिंशत वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौह प्रजापतिरुवाच किमिच्छान्तावचास्तमिति तौहोचतुर्य आत्माऽपहतपाप्माऽ-विजरोऽविमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यकाम.सत्य-संकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः ससर्वाश्चलोकाश्लोका-नाप्नोतिसर्वांश्चकामान्यस्तमात्मानमनुविद्यविजानातीति भगवतोवचो वेदयन्ते तमिच्छन्तावचास्तमिति ॥३॥ इत्यादि

अर्थ—जो आत्मा पाप रहित जरा रहित मृत्यु रहित शोक रहित क्षुधा रहित पिपासा रहित सत्य काम और सत्य सङ्कल्प है वह खोज करने के योग्य व जिज्ञासा (जानने की इच्छा) करने योग्य है जो उस आत्मा को शास्त्र व आचार्य के उपदेश से जानकर फिर विचार व साधन से साक्षात निश्चय करके जानता है वह सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है यह प्रजापति ने कहा ॥ १ ॥

इस श्रुति में जो सत्य काम व सत्य सङ्कल्प कहा है इन दो में भेद यह है कि काम शब्द इष्ट पदार्थ वाचक है कामके लिये सङ्कल्प होता है संसारी मनुष्य काम्य पदार्थो का सङ्कल्प करते हैं सङ्कल्प के अनुसार कोई मनोरथ सिद्ध होते हैं कोई नहीं होते जो मनोरथ सिद्ध न हुआ उसका सङ्कल्प मिथ्या हो गया और सङ्कल्प के अनुसार जो काम्य पदार्थ प्राप्त हो गया फिर नष्ट होगया तो नष्ट होने पर वह असत्य काम होगया पाप व जरारहित आत्माका न सकल्प मिथ्या होता है न उसके इष्टपदार्थ का कभी अभाव होता है जब चाहे तभी सब पदार्थ उसको प्राप्त होता है इससे वह सत्य काम व सत्य सङ्कल्प है।

इस प्रकार के लक्षण युक्त आत्मा के जानने का उपदेश और जानने के फल को सुर और असुरों ने सुनकर दोनों ने आत्मज्ञान के फल को पीछे से विचार कर यह कहा कि हम आत्मा को खोज करते हैं जिसको खोज करके सब लोकों को सब कामनाओं को प्राप्त होना है यह सम्मति करके सुरों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन अर्थात् देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन दोनों परस्पर के विरोध को भूल कर न जानने के समान होकर दोनों समिधा हाथ में लेकर अर्थात् जैसे गुरु के पास ब्रह्मचारी जाते हैं इस प्रकार से ब्रह्मचारी रूप से प्रजापति के पास गये ॥ २ ॥

उन दोनों ने बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत से वास किया तब उन दोनों से प्रजा पति ने कहा तुम दोनों ने किस इच्छा से वास किया है दोनों ने कहा कि जो

ात्मा पापरहित जरारहित मृत्युरहित शोकरहित क्षुधारहित पिपासारहित त्यकाम सत्यसङ्कल्प है वह खोज करने योग्य व जिज्ञासा करने योग्य है जो स आत्मा को शास्त्र व गुरु से जानकर और विचार कर जानता है वह सब लोकों को सब कामों को प्राप्त होता है ऐसा जिसको आप कहते हैं उसको इच्छा रते हुये अर्थात् उसके जानने की इच्छा से हम दोनों बसे हैं ॥३॥ इत्यादि—

आगे प्रजापति के उपदेश करने का वर्णन है विरोचन तो एक ही बार जो ताया गया बिना विचार उसी को मानकर वैसा ही असुरों से जाकर कहा केर द्वितीय बार प्रजापति के पास नहीं आया।

यह अनुमान किया जाता है कि दोनों जिज्ञासुओं की श्रद्धा देखने व विचार क्ति देखने अर्थात् जानने के लिये अथवा इन्द्र के साथ आये हुये असुर विरो चन के चित्त में पापाचरण असुरत्व धर्म के संस्कार को जान कर उसको यथार्थ पात्र न समझ कर प्रजापति प्रथम यथार्थ आत्मा का उपदेश नहीं किया रन्तु विरोचन फिर न आने से आत्मज्ञान से वञ्चित रह गया इन्द्र सन्देह होने र मार्ग ही से लौटकर फिर आकर प्रजापति से जिज्ञासा किया है एकवार पहिले और दोबार लौट आने पर तीनवार इन्द्र ने ब्रह्मचर्यव्रत किया है तीनवार ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत करने से इन्द्र के ९६ वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत के हुये चौथे बार इन्द्र के आनेपर प्रजापति ने इन्द्र को पांच ही वर्ष ब्रह्मचर्य्य रहने की आज्ञा दी पांच वर्ष फिर ब्रह्मचर्य्य व्रत युक्त रहने पर १०१ वर्ष जब इन्द्र के ब्रह्मचर्य्य के पूर्ण हुये तब प्रजापति ने इन्द्रको यथार्थ पूर्ण आत्माका उपदेश किया है इस आख्यायिका के लिखने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि उपनिषद् ग्रंथ जो सब को मन्तव्य हैं और श्री स्वामी दयानन्द जी ने भी जिनको मन्तव्य होना स्वीकार किया है उनसे भी पितृ गन्धर्व देवता प्रजापति इन्द्र आदि का चेतन शरीरवान् होना और इनके लोकान्तर होना उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है इसमें संक्षेप से लिखा है सम्पूर्ण नहीं लिखा ॥

इन प्रमाणों के होने पर भी यदि आर्य्यसमाजी महाशय न मानें तो उनका केवल दुराग्रह मात्र है इससे उनका पक्ष असत् है ॥

अब यह विचारणीय है कि ये देवता यज्ञ में भाग ग्रहण करते हैं या नहीं और ये पूजनीय और उपास्य हो सकते हैं या नहीं, और इनके आराधन से फल प्राप्त होता है या नहीं उत्तर यह है कि देवता यज्ञमें प्राप्त होकर यज्ञ में दिये हुये भाग को ग्रहण करते हैं इसका निर्णय व्यासजीने वेदान्त दर्शन में किया है

प्रथम ब्रह्म विद्या में मनुष्यों के अधिकार को वर्णन करके देवताओं के अधिकार होने को इस प्रकार से वर्णन किया है कि देवता भी अपने उत्कृष्ट पद को प्राप्त होने ब्रह्म को प्राप्त होने के अभिलाषी मोक्षार्थी चेतन शरीर धारी हैं इससे ये भी ब्रह्म विद्या के अधिकारी हैं उनको (देवताओं को) ब्रह्म विद्या प्राप्त करने की आवश्यकता और उनके चेतन शरीर धारी होने का प्रमाण इन्द्र का ब्रह्म विद्या अभिलाषी होकर प्रजापति के पास जाने और ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करके रहने से सिद्ध है।

अब इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कि यदि देवता शरीरधारी है तो शरीरधारी एक ही स्थान में एक काल में रह सकता है अनेक स्थानों में नहीं प्राप्त होसक्ता अनेक स्थानों में यज्ञ होने में जो देवताओं को भाग दिया जाता है उसको वे ग्रहण नहीं करसके यह वर्णन किया है

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥

वेदान्त अध्याय १ पा० ३ सू० २

अर्थ—कर्म में विरोध होगा ऐसा कहा जाय नहीं अनेक की सिद्ध देखने (जानने से) २७॥

भाष्य–यदि यह शङ्का होवे कि जो ब्रह्म विद्या के अधिकारी देवता शरीरधारी माने जावेंगे और यज्ञ में भाग ग्रहण करने वाले माने जावेंगे तो शरीरवान मानने में कर्म में विरोध होगा अर्थात् शरीरवान् एक समय में अनेक स्थान में प्राप्त नहीं हो सक्ता इसमें अनेक यज्ञों में आह्वान किये गये अनेक यज्ञों के भाग को एक समय में शरीरधारी होनेसे ग्रहण नहीं कर सक्ते इसके समाधान के लिये यह कहा है कि नहीं अनेककी सिद्धि देखने से अर्थात् कर्म में विरोध नहीं हो सक्ता क्यों नहीं हो सकता श्रुति व स्मृति प्रमाण से देवताओं की अनेक शरीर धारण करने की सिद्धि देखने से अनेक शरीर धारण करने के सामर्थ्य से अनेक शरीरों से एक समय में अनेक यज्ञ भागों को ग्रहण करते हैं।

उत्कृष्ट कर्म व योग साधन से जीव देव पद को प्राप्त करता है मनुष्य ही शरीर में योग सिद्ध होने में सहस्रों कोसमें प्राप्त वस्तु के देखने शब्द सुनने अनेक शरीर धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है यथा महाभारत में ऐसा वर्णन किया है।

आत्मनो वै शरीराणिवहूनि भरतर्षभकुर्य्याद्योगीवलंप्राप्यतैश्च सर्वैर्महीञ्चरेत् ॥

अर्थ—हे भरतर्षभ योगी योग बल को प्राप्त करके आत्मा (मन) से बहुत शरीरों को उत्पन्न करके उन सब शरीरों से पृथिवी में विचरे अर्थात् किसीसे इन्द्रियों के विषयो को प्राप्त हो किसीने तप करे योगी को ऐसा सामर्थ्य होता है तथा वात्स्यान ऋषि ने भी न्याय दर्शन के अ० ३ आ० २ में जो यह सूत्र है।

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥

अर्थ—एक साथ अनेक ज्ञेयपदार्थो की उपलब्धि न होने से ज्ञान मनका गुण नहीं है ॥ २० ॥

इसके भाष्य में ऐसा वर्णन किया है।

योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रि-

याणि शरीरान्तराणि तेषुतेषुयुगपज्ज्ञेयान्युपलभतेतच्चैतद्विभौज्ञा तर्य्युपपद्यतेनाणौमनसीति ॥

अर्थ—निश्चय से योगी ऋद्धि की उत्पत्ति में अर्थात् प्राप्त होने में इन्द्रिय धमन के धर्म से रहित इन्द्रियों सहित अन्य शरीरों को बनाकर उन उनमें एक साथ अनेक ज्ञेयोंको (ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त करता है अर्थात् जानता है सो ऐसा होना विभुज्ञाता आत्मा में हो सक्ता है अणु मनमें नहीं हो सक्ता ।

ऐसे ही योगी के समान देवताओं में सामर्थ्य होने से अनेक शरीरधारण करने की सिद्ध से कर्म मे विरोध नहीं होता या नहीं है ।

इन उक्त प्रमाणों से देवताओं का चेतन विशेष सामर्थ्यवान् यज्ञ में भाग ग्रहण करने वाले होना सिद्ध है यज्ञ और मन्त्र द्वारा देवताओं का पूजन और आराधन होता है और यज्ञ केवल जल और वायु की शुद्धिही मात्र के लिये कर्तव्य नहीं है अन्य विशेष फल भी यज्ञ से प्राप्त होते हैं यथा पुत्रेष्टि यज्ञ से पुत्रोत्पत्ति फल प्राप्त होना श्री महाराज दशरथ जी के दृष्टान्त से सिद्ध है महाराज दशरथ जीने उक्त यज्ञ को वसिष्ठ, सुयज्ञ, वामदेव, जाबाल, कश्यप, श्रृङ्गीऋषि ऐसे महाविद्वान् वेद तत्व के ज्ञाताओं की सम्मति से कियाथा कि जिनके समान इस कालमें कोई वेदज्ञ मन्तव्य नहीं होसक्ता और पुत्रेष्टि का वर्णन आश्वलायन श्रौत० २ १० ८ में तथा अथर्ववेद के कई प्रकरणों में शतपथ १४, ६, १४, ? में किया गया है उक्त महाराज को यज्ञ करने का फल भी पुत्र का उत्पन्न होना प्राप्त हुआ इससे यज्ञ का फल पुत्र उत्पन्न होनेके समान स्वर्गप्राप्त होना भी सत्य होना मन्तव्य है ।

मोक्षफल ब्रह्म ही के उपासन व आत्मज्ञान से होसक्ता है परन्तु जैसे लोक में श्रेष्ठ धनवान विशेष अधिकार को प्राप्त, माण्डलिक राजा व महाराजा अपने सामर्थ्य व शक्ति अनुसार अपने सेवकों पर प्रसन्न होने पर धन अधिकार देकर उन को उनकी प्रथम अवस्था से उत्तम अवस्था को प्राप्त करते हैं उनके धन व अधिकार प्राप्त होनेके मनोरथ को पूर्ण करते हैं ऐसेही देवता, यज्ञ व मन्त्रसे यथार्थ श्रद्धा व विधिसे पूजित होने में यथाशक्ति फल देते हैं यदि यह शंकाकी जावे कि परमेश्वर से श्रेष्ठ व सामर्थ्यवान् कोई दूसरा नहीं है और वह सर्वज्ञ सर्वव्यापक है इससे उसकी प्राप्ति के लिये किसी के द्वारा सहायता प्राप्त करने की भी आवश्यकता नहीं है इससे दूसरे की उपासना वा सेवा क्यों करे केवल उसीका उपासन व सेवन करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि तुम्हारा यह कथन यथार्थ है परन्तु उस अवस्था के लिये जब सब सांसारिक विषयों की अभिलाषा चित्त से निवृत्तहो जावे परमात्मा में पूर्ण दृढ़ श्रद्धा व विश्वास हो जावे केवल परमात्मा ही की प्राप्ति व आत्मज्ञान की अभिलाषा रहजावे तब अधिकारी हो सक्ता है सो ऐसा होना बहुत दुर्लभ है इसीसे गीता अध्याय ७ श्लोक ४५ में यह वर्णन किया है

अनेक जन्म संसिध्दिस्ततो याति परां गतिम् ॥

अर्थ—अनेक जन्मों के किये हुये साधनों से जब सिद्धि प्राप्त होती है तब परम गति को प्राप्त होता है ब्रह्म की प्राप्ति ही परम गति है।

परम गति बहुत दीर्घ कालमें केवल परमात्मा ब्रह्म ही के अनुग्रह से प्राप्त होती है।

उससे भिन्न अन्य मनरथों की सिद्धि क्रमसे अपने से श्रेष्ठ मनुष्य व देवताओं को अपना आश्रय बनाने से उनके द्वारा प्राप्त होती है यह प्रत्यक्षसे सिद्ध होता है। इससे यह निश्चय किया जाता है कि ईश्वर का नियम ही ऐसा है।

इससे अपने से श्रेष्ठोंकी सहायता को आश्रय करने में परमेश्वर ही का आश्रय करना परमेश्वर ही के नियम और आज्ञा का पालन करना और परमेश्वर ही की सहायता समझना चाहिये और सफलता के लिये परमेश्वर से प्रार्थना और परमेश्वर की स्तुति करते रहना चाहिये इस प्रकार से मनोरथ की सिद्धि व प्राप्ति होती है॥

इसी संसार (भूलोक) में यह प्रत्यक्ष से निश्चय किया जाता है कि जो कोई यह मानकर कि परमात्मा ब्रह्मसे अधिक कोई विद्वान् श्रेष्ठ शक्तिमान सर्वाधिपति नहीं है इससे उसीकी उपासना करना चाहिये अन्य किसी की सेवा न करना चाहिये न किसी के अधीन होना चाहिये किसी विद्वान् का शिष्य होकर विद्या प्राप्त न करे राजा के प्रधान और कर्मचारियों और राजा में आश्रित न होकर एक स्थान में बैठ कर परमात्मा की स्तुति व प्रार्थना करता रहे वह उसी अवस्था में रहैगा विद्या को प्राप्त करके विद्वान् और उच्चपद और धन को प्राप्त न होगा परमेश्वर की भक्ति से लोक में उसका मान हो सकता है परन्तु लोक में उन्नति व विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता जन्मान्तर में चाहै जो फल हो।

परन्तु जो गुरुकी सुश्रूषा व परिश्रम करके विद्या प्राप्त करके राज नियम अनुसार जिसपद के लिये जो विद्या आकांक्षित है उसमें परीक्षा देता है और अपने को राजासे नियत किये गये कर्मचारियों अधिकारियों और राजा का कृपा पात्र बनाता है वह उत्कृष्ट अवस्था और विशेष अधिकार को प्राप्त होता है॥

अन्य लोकों का वृत्तान्त तो अदृष्ट है इसी लोक में जो दृष्ट है और अन्य चन्द्र सूर्य आदि लोकों की अपेक्षा छोटा है परमेश्वर ने कोई प्रबन्ध ऐसा नहीं किया कि अन्य को आश्रय करने की आवश्यकता न होती राजा के नियम से जो प्रजाओं की रक्षा, न्याय, दुराचारियों का दण्ड विद्वान् सत्पुरुषों का सत्कार होता है वह परमेश्वर किसी दैवी शक्ति व वाणी से आप कर देता राजा व राजपुरुषोंके अधीन न होना होता परन्तु ऐसा नहीं किया न करता है।

मनुष्यों में ही जो श्रेष्ठ पद को प्राप्त है उन्हीं के द्वारा प्रबन्ध किये जाने का नियम रक्खा है।

जैसे इस लोक में मनुष्यों के द्वारा ईश्वर के नियम अनुसार कार्य होते हैं और इतर जनों का लौकिक कामनाओं की सिद्ध के लिये अपने से श्रेष्ठों की सेवा करने और आज्ञा पालन की आवश्यकता होती है ऐसे ही जो कार्य व कर्म फल मनुष्य के सामर्थ्य व ज्ञान से बाहर है उनका प्रबन्ध देवताओं के द्वारा ईश्वर नियम के अनुकूल होना मन्तव्य है और इसी लोक के समान अन्य लोकों में भी विशेष पद में प्राप्त अधिकारियों के द्वारा अन्य लोकवासियों का न्याय आदि का प्रबन्ध होना परमात्मा के नियम अनुकूल समझना चाहिये।

इन हेतुओं से यज्ञ विधान में जैसा फल जिस यज्ञ के करने में लिखा है उस प्रकार से यज्ञ द्वारा तथा मन्त्र द्वारा देवताओं का आराधन करना चाहिये।

परन्तु जैसे आज कल के मिथ्यावादी ज्योतिर्विद (ज्योतिषी) शनिश्चर आदि ग्रहों के क्रूर होने म शन्नोदेवीरभिष्टय. ॥ इत्यादि को शनिश्चर आदि के मन्त्र वर्णन करते हैं और इनके जप से ग्रहों के शान्त होने का उपाय सूचित करते हैं यह सर्वथा असत्य है इन ग्रहों के किसी मन्त्रमें किसी ग्रह के विघ्न शान्ति होने का कुछ सम्बन्ध नहीं है किसी मन्त्र में जिस ग्रह का मन्त्र कहते हैं उस ग्रहका नाम तक नहीं है इससे केवल पाखण्ड जाल है (प्रश्न) आर्य्य समाजी महाशय मन्त्रोंको नहीं मानते और इस व्याख्यान से देवताओं का यज्ञ द्वारा आराधन करना और मन्त्र का भी सत्य होना विदित होता है अब यह निश्चय होना चाहिये कि तत्व क्या है मन्त्र का सत्य होना अथवा असत्य होना (उत्तर) हम दो हेतुओं से मन्त्र का सत्य होना मानते हैं एक तो आप्त वाक्यों के प्रमाण से अर्थात् महात्मा पतञ्जलि ऋषि ने योग दर्शन के कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में यह लिखा है।

जन्मोषधि मन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धय ॥

अर्थ—जन्म ओषधि मन्त्र तप और समाधि से उत्पन्न सिद्धिया होती हैं अर्थात् जन्म आदि से उत्पन्न पाच प्रकार की सिद्धिया होती हैं।

इस सूत्र में मन्त्र से सिद्धियों का प्राप्त होना लिखा है यदि मन्त्र सत्य न होते तो उनसे सिद्धियों का प्राप्त होना सम्भव न होता और व्यास जी ने इस सूत्र के भाष्य में मन्त्र सिद्धि को इस प्रकार स वर्णन किया है।

मन्त्रैराकाशगमनाणिमादिलाभ ।

अर्थ—मन्त्रों से आकाशमें चलने अणिमा (अतिसूक्ष्म होने) आदि सिद्धियां प्राप्ति होती हैं आदि शब्द से महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशत्व वशित्व का ग्रहण है तात्पर्य अणिमा सहित आठ सिद्धियां प्रसिद्ध हैं इससे अणिमादि आठ सिद्धियों के कहने का आशय है।

अणिमा (अति सूक्ष्म होना) महिमा (अति भारी होना) गरिमा (अति गरू होना) लघिमा (बहुत हलका होना) प्राप्ति (जहाँ प्राप्त होने की इच्छा करे वहा प्राप्त होना) प्राकाम्य (इच्छा अनुसार कर्म करने में समर्थ होना) ईशत्व (सब प्राणियों में विशेष सामर्थ्यवान होना) वशित्व (सब भूतों का

वश हो जाना) ये आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं मंत्र से आकाश में चलने अर्थात् उडने की शक्ति होती है परन्तु वडे और गरू शरीर से मनुष्य कैसे आकाश में चल सकता है इस संशय निवृत्त होने केलिये व्यासजीने अणिमादि लाभ यह कहा है अर्थात् अणिमा आदि आठ उक्त सिद्धियां प्राप्त होती हैं इससे आकाश में चलता है।

गौतमऋषि ने न्यायदर्शन में यह सूत्र वर्णन किया है

"मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्य वच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रमाण्यात् ॥ न्या० अ० २ आ० १ सू० ६७ इसका अर्थ यह है कि आप्तके प्रामाण्य से मन्त्र व आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान उसका अर्थात् वेदका प्रामाण्य है ॥

इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने यह लिखा है कि जो मन्त्रों के पद आप्तों के प्रामाण्य कृत विष व भूतों के दूर करने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं उनका वैसा ही सत्य फल होता है प्रत्यक्ष से निश्चित हुये मन्त्रों तथा आयुर्वेद की औषधियों के प्रामाण्य के समान वेद में अदृष्टफल का भी जो वर्णन है वह आप्त प्रामाण्यकृत होनेसे प्रामाण्य है अर्थात् उसका प्रामाण्य मन्तव्य है जिन मन्त्रोंसे महर्षि पतञ्जलिजी ने सिद्धियों का होना वर्णन किया है और व्यासजीने भाष्य में आकाश में चलना और अणिमा आदि शक्तियों की प्राप्ति रूप सिद्धियों का होना वर्णन किया है तथा गौतमऋषि और वात्स्यायन मुनिने जिनमन्त्रों के सत्य होनेको प्रतिपादन किया है वे साधारण लौकिक जनोंके इस तर्क से कि शब्द मात्र से कुछ नहीं हो सकता असत्य नहीं माने जा सकते।

बिना साधन से अनुभूत करके असत्यता का निश्चय किये असत्यता का मानना अज्ञानता है।

इसी से कपिलाचार्यजी ने साङ्ख्य दर्शन में यह वर्णन किया है कि योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष होने में अर्थात् जो बाहर नेत्र की दृष्टि की पहुँच में नहीं है जो वस्तु पृथिवी आदि में गडी है उसको अथवा जो सैकडों कोस दूर हैं उसको जो योगी प्रत्यक्ष करता है उस प्रत्यक्ष में लौकिक जनों के प्रत्यक्ष का लक्षण जो इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्ष से (संयोग विशेष से) उत्पन्न होना वर्णन किया गया है घटित न होने से कुछ दोष नहीं है क्यों लक्षण लौकिक जनोंके प्रत्यक्ष के लिये यथार्थ ही है योगी जन लौकिक जनों की कोटि से पृथक् हैं परन्तु प्रत्यक्ष का लक्षण घटित न होने से योगियोंका प्रत्यक्ष असत्य नहीं है सत्य ही है उस का निश्चय योगीही जन कर सकते हैं वह आप्त वाक्य के प्रमाण से मन्तव्य है योगी के उक्त प्रत्यक्ष को लौकिक जन जो अपने इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बुद्धिद्वारा निश्चय किया चाहैं तो नहीं कर सकते क्योंकि जब उसमें प्रत्यक्ष का अभाव है तो प्रत्यक्ष मूलक अनुमान आदि का भी अभाव होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से साध्य नहीं हो सकता।

ऐसे ही मन्त्र विषय में समझना चाहिये उक्त प्रकार से शब्द प्रमाण से मन्त्र का सत्य होना सिद्ध होता है ॥

अब प्रत्यक्ष प्रमाण से जो निश्चित हुआ है वह वर्णन किया जाता है मन्त्र जिससे आकाश आदि में चलने का निश्चय किया जाय ऐसा कोई मन्त्र सिद्ध पुरुष तो देखने में नहीं आया परन्तु सर्प के विष नाशक मन्त्रका प्रभाव प्रत्यक्ष से विदित हुआ है इसका व्याख्यान यह है कि हमारे ग्राम में ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में सर्प अधिक निकलते हैं और प्रत्येक वर्ष दो एक मनुष्य प्राय सर्प के काटने के विष से मृत्यु को प्राप्त होते रहे हैं कोई उत्तम औषध और मन्त्र का ज्ञाता न होने से विष को दूर कर प्राण की रक्षा नहीं कर सकता था परन्तु कई वर्ष हुये एक ब्राह्मण इसी ग्राम का बम्बई के निकट बहुत काल तक रहा वहाँ किसी से सर्प का मन्त्र सीखा और सिद्ध किया यहाँ फिर आकर रहने लगा उसके सामने जो जो सर्प के काटे आये और हमारे सामने मन्त्र पढ़कर और पानी में फूँककर थोड़ा २ पानी जिनको पिलाया वे कुछ देर में अच्छे होगये हैं कोई कोई ऐसे आये हैं कि जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है शरीर के अंग शिथिल हो गये हैं वे मन्त्र से दो तीन घण्टे में अच्छे हो कर भोजन करके सो रहे हैं उक्त मन्त्र के ज्ञाता के झारने का प्रकार भी निराला था वह जिसको सर्प काटता था उसके शरीर को नहीं छूता था दूसरों से कहता था वह पकड़ कर उसको अपने बल से बैठा देते थे और किसी से कहता था वह स्वच्छपात्र में कुआं से पानी भर लाता था आप सामने खड़ा होकर दूसरे छोटे पात्र में कुआं से भर कर आये हुये पात्रों में से थोड़ा थोड़ा पानी लेकर मन्त्र पढ़ कर उसमें फूंक कर सर्प के काटे हुये को पिलाता था फिर उससे हाल पूछता था।

इसी प्रकार से जब तक सर्वथा अच्छा न हो जाता था मन्त्र पढ़ कर पानी पिलाता जाता था जब सर्प का काटा हुआ यह कहता था कि अब मैं सर्वथा स्वस्थ हो गया हूं तब कुछ गुड़ बटवा देता था आप कुछ न लेता था और यह कहता था कि गुरु की आज्ञा कुछ लेनी की नहीं है जो कुछ लेने लगूं तो मन्त्र के फल में न्यूनता हो जाय इस से नहीं लेता।

ऐसा देखने से शब्द रूप मन्त्र से फल सिद्ध होना निश्चित होता है और मन्त्र के साथ किसी देवता का भी सम्बन्ध होना कि जिससे ऐसा फल होना है अनुमान किया जाता है।

इसके सिवाय हमारे यहां ३३ वर्ष गत हुये एक बाबू जयगोपाल नाम के बंगाली जिला बांदा में डिपटी कलेक्टर थे वह ऐसा मन्त्र सर्प का जानते थे कि जो कोई उनके पास आकर यह कहता था कि अमुक पुरुष या स्त्री को सर्प ने काटा है तो उक्त बाबू जी मन्त्र पढ़ कर एक थपड़ कहने वाले को मारते थे कि जिसके मारने से जिसको सर्प काटता था वह जहां होता था वहां अच्छा हो जाता था उसका विष जिसको थपड़ मारा जाता था उस पर आजाता था यहां उसको उक्त महाशय मंत्र पढ़ कर झार देते थे वह भी अच्छा हो जाता था।

ऐसे मन्त्र में यह उत्तमता थी कि जिसको सर्प काटता था उसके पास जाने की आवश्यकता न होती थी जो कोई आकर उक्त प्रकार से सर्प काटने का

विज्ञापन करता था थप्पड़ मार देने से वही सर्प काटे हुये के समान विष से मूर्छित हो जाता था जिसको सर्प काटता था वह जहां होता था वहां विष रहित स्वस्थ हो जाता था जो मूर्छित होता था उसको भी उक्त बाबू साहब मंत्र से अच्छा कर देते थे वह विषरहित स्वास्थ्य को प्राप्त हो अपने घर को चला जाता था।

इससे भी अधिक आश्चर्य जनक व विलक्षण उदाहरण है परन्तु बाबू जय गोपाल जी को उक्त प्रकार के मन्त्र से झारते हुये एक मनुष्य को जो किसी के सर्प काटने के विषय में आकर यह कहा था कि बाबू साहब अमुक पुरुष को सर्प ने काटा है हमारे पितृव्य भ्राता जो बाबू साहब के पास उपस्थित थे स्वय देखा था और आकर हमसे कहा था और अन्य महाशयों से भी सुना है हमारे भ्राता को हमसे इस विषय में असत्य कहने से कोई प्रयोजन और लाभ नहीं था इससे उनका कहना सत्य होना स्वीकार किया गया और अन्य महाशयों से भी ऐसा होना निश्चित होने से मन्त्र का सत्य और फलदायक होना सिद्ध होता है शब्द और प्रत्यक्ष प्रमाण से निश्चित होने से मन्त्र का सत्य होना मन्तव्य है।

(प्रश्न) आर्य्यसमाजी महाशय प्रेतों को नहीं मानते प्रेतों का होना सत्य है या नहीं ?

(उत्तर) प्रेत शब्द का अर्थ मृत (मरा हुआ) है अर्थात् मरे हुये को प्रेत कहते हैं इसमें यह कोश वाक्य प्रमाण है—

परासुप्राप्तपञ्चत्वपरेतप्रेतसंस्थिता. मृतः ।
प्रमीत. त्रिष्वथ चिताचित्याचिति स्त्रियाम् ॥

अमरकोश द्वितीय काड क्षत्रिय वर्ग श्लोक ११७।

अर्थ—परासु प्राप्तपञ्चत्व परेत प्रेत संस्थित मृत प्रमीत ये मरे हुये को कहते हैं और तीनों लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं अर्थात् पुल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिंग जिसमें कहना हो उसमें वाच्य होते हैं और स्त्रीलिंग में चिता चित्या और चिति तीनों का एकही अर्थ है।

जितने शरीरधारी हैं सब मरते हैं शरीर नित्य नहीं रहता शरीर त्याग होने पर सब प्रेत वाच्य होते हैं मरना सत्य ही है प्रेत कहा जाना भी सत्य है प्रेत होना असत्य नहीं हो सकता ऐसेही भूत शब्द का अर्थ न रहे का है जब तक जिसका शरीर विद्यमान है वह वर्तमान है जब न रहा तब न रहने से भूत हो जाता है इस अर्थ से जितना शरीर धारी है सब शरीर न रहने के पश्चात् भूत और प्रेत शब्द से वाच्य होता है और हो सकता है परन्तु जो यह मानते हैं कि मरने के पश्चात् कोई कोई जीव अन्य स्थूल शरीर को न प्राप्त होकर फिरते रहते हैं इच्छा अनुसार अनेक शरीर धर लेते हैं वे प्रेत हैं ऐसे प्रेतों के विषय में यह अनुमान किया जाता है कि यह जीवात्मा अपने शुभ अशुभ कर्म फल भोग करने के लिये अनेक प्रकार की उत्कृष्ट व निकृष्ट योनियों में प्राप्त होता है

यदि उन अनेक योनियों में से किसी प्रकार के पाप कर्मों के फल भोग के लिये कोई योनि जीव के प्राप्त होने की हो जिसका कोई नाम अन्यज्ञात न होने से प्रेत शब्द जो सामान्य से मरे हुये का नाम है उसी नाम से वाच्य होना प्रसिद्ध होगया हो तो ऐसा होना संभव है और कोई पिशाच भी कहते हैं ऐसी किसी योनि का होना इस हेतु से निश्चय होता है कि एक समय में हम मथुरा जी गये थे और आर्यसमाज के मन्दिर में स्थित हुये थे उस समय में आर्यसमाज मथुरा जी के मन्त्री थी पण्डित विश्वनाथ जी थे वे और हम बैठे हुये थे किसी प्रसङ्ग से यह वार्ता अन्य महाशयों से जो वहां उपस्थित थे होने लगी कि यहाँ एक मनुष्य बलदेवसिंह नामक है उसके वश में प्रेत हैं उनसे वह जो चाहता है वह काम कराता है और अनेक प्रकार के आश्चर्य जनक कामों को देखाता है उक्त मन्त्री जी ने कहा कि हमने भी सुना है किसी दिन उनको बोलाकर उनसे कहना है कि हम भी कुछ देखना चाहते हैं हमको भी आप कुछ प्रेतकृत कार्य दिखलाइये यह वार्ता होरही थी कि घटना से अकस्मात् बलदेवसिंह उक्त समाज में जहां हम मन्त्री जी एक विद्यार्थी और अन्य भी बैठे थे वहां आगये परन्तु मन्त्री जी पहिचानते न थे इससे उनसे पूछा कि आपका क्या नाम है आप कैसे आये कहा मेरा नाम बलदेवसिंह है इस समाज मन्दिर के पास के मार्ग से कहीं बतायर वहां जाता था सो आपके पास भी चला आया हूं जहाँ तक मुझे स्मरण है बलदेवसिंह वर्ण के क्षत्रिय थे एक अच्छे पुष्टांग पुरुष थे कुरसी में बैठाये कुछ अन्य वार्ता के पश्चात् मन्त्री जी जो प्रेत को नहीं मानते थे बलदेव सिंह से कहा कि हम तो किसी दिन आपको बोलाने की इच्छा करते थे कि आपको बोलाकर कोई प्रेतकृतकार्य देखें कि जिससे यह ज्ञात हो कि प्रेत कोई वस्तु है कहा कि इस प्रकार से मार्ग में कहीं जाते हुये आजाने में हम विशेष कार्य नहीं कर सकते कोई दिन नियत किया जाय और कुछ आवश्यक सामग्री उपस्थित की जाय तब विशेष आश्चर्यजनक कर्त्तव्य कार्य किये जा सकते हैं परन्तु आपकी अभिलाषा है तो कुछ देखाता हूं यह कह कर जैसे कोई अपने भृत्य (नौकर) को आज्ञा देवे इस प्रकार से यह कहा कि इन सब महाशयों के लिये इलाइची लाओ किससे कहा कोई दृष्टि का विषय नहीं हुआ दो मिनट पीछे कहा ले आये अच्छा लाओ यह कह कर हाथ फैलाया तो वह उत्तम इलायचियों से भर गया उनको मन्त्री जी को दे दिया मन्त्री जी ने उनमें से कुछ जो महाशय वहां उपस्थित थे उनको बांट दिया सब ने उनको खाया बहुत उत्तम पुष्ट दाने उनमें थे और सब इलायचियों को मन्त्री जी ने अपनी सन्दूक में रख लिया फिर दूसरी बार इसी प्रकार से अतर की शीशी भी मगाकर मन्त्री जी को दी थी उसमें से भी मन्त्री जी ने अतर सब को देकर शीशी अपने सन्दूक में रख ली थी इलाइची और अतर दोनों मन्त्रीजी के सन्दूक में यथार्थ रूप से बने रहे यह कहने का आशय यह है कि बहुतेरे खेल व तमाशा दिखाने वाले कोई पदार्थ क्षणमात्र को देखा देते

हैं परन्तु कुछ देर में वह पदार्थ नहीं रहता ऐसे पदार्थ इलायची और अतर न, थे वे यथार्थ सत्य ही थे मन्त्री जी को भी आश्चर्य ज्ञात हुआ. यह स्वयं कहने लगे कि बिना किसी चेतन लाने वाले के इलायची और अतर जड पदार्थ आपसे स्थानान्तर से नहीं आ सकते इससे इनका लाने वाला अदृष्ट कोई चेतनव्यक्ति अवश्य है फिर तीन चार दिन पीछे हम चले आये थे फिर कई बार मथुरा जाना हुआ परन्तु इस कारण से कि उक्त महाशय आर्य्यसमाज मथुरा में नहीं थे हम से भेट नहीं हुई बारह वर्ष पीछे फिर मथुरा में जब वह आर्य्य समाज मथुरा के उपमन्त्री थे हमको मथुरा में मिले तब उनसे मैंने पूछा कि हमारे जाने के पश्चात् फिर आपने बलदेवसिंह को बोलाया था कुछ और परीक्षा किया था प्रेत कार्य्य को देखा था।

कहा हां हम और बाबू ज्वालाप्रसाद जी एम, ए० एल० एल० बी० डिपटी कलेक्टर मथुरा और बाबू प्रतापसिंह बी० ए० मुनसिफ महावन जिला मथुरा ने मिलकर बलदेवसिंह को बुलाया और कहा कि आप प्रेतकृतकार्य दिखाइये उन्होंने कोई वस्तु पास न होने किसी की सहायता न होने का निश्चय होने के लिये मकान के केवाड बन्द करा दिया द्वार पर एक व्यक्ति को बैठा दिया कि किसी को भीतर न आने देवे और आप एक कम्बल जिसपर एक कपडा और था बिछवा कर अपने सब कपड़ा उतार कर और दिखाकर बैठ गये और कहा जो वस्तु आप कहें वह मंगादूं पानों के लिये कहा गया है तब पानों की ढाली मंगादिया। फिर लगे हुये पान के बीडों के लिये कहा गया उन्होंने जिनके द्वारा मंगाते थे उस अदृष्ट व्यक्ति वा व्यक्तियों से कहा लगे हुये पान लाओ वह बहुत से लगे पान ले आये पान खाये गये।

इसी प्रकार कहने से केला आम नारंगी फलों को और लड्डू आदि कई प्रकार की मिठाई मंगा कर उपस्थित कर दिया फल और मिठाई भी खाई गई।

फिर कहा कि आज्ञा हो तो कपडों के थान और अन्य वस्तु मंगा दू फिर आज्ञा नहीं की गई ऐसा देखकर हमको उक्त डिप्टी कलक्टर साहेब और मुन्सिफ साहिब को आश्चर्य प्रतीत हुआ यह कहा गया कि कोई चेतन लाने वाला अवश्य है यह विदित होता है समझ में नहीं आता यह क्या बात है सिवाय इसके और कुछ नहीं कह सके।

ऐसा देखने से यह अनुमति होता है कि कोई योनि उक्त प्रकार से लाने वाली चाहे वह जिस नाम से कही जाय अर्थात् चाहे वह योनि व उस योनि की व्यक्ति प्रेत नाम से वाच्य हो चाहे पिशाच नाम से अथवा किसी अन्य नाम से उसका अस्तित्व ज्ञात होता है।

जो कोई ऐसा निश्चय न करे तो जैसा प्रेत और भूत शब्द का अर्थ प्रथम वर्णन किया गया है उस अर्थ से प्रेत और भूत शब्द का प्रयुक्त होना मन्तव्य है। यद्यपि उक्त हेतु से और इस प्रकार के अन्य भी उदाहरण विश्वास करन

योग्य न पुरुषों से सुनने से किसी ऐसी योनि मनुष्य से विलक्षण विशेष शक्तिमान के होने का निश्चय अनुमान से होता है चाहे वह प्रेत वा किसी नाम से वाच्य हो।

तथापि ऐसे प्रेत, पिशाच वा अन्य नाम से वाच्य योनि के साथ मनुष्य के संयोग होने की घटना कदाचित् किसी काल में कभी किसी संस्कार वश हो जाती या हो जाना संभव है प्राय होती नहीं है परन्तु प्रेतोंके नाम से अनेक स्त्री व पुरुषों को दंभ वा पाखण्ड जाल फैलाने का अवकाश मिलता है वह अपना माया जाल फैलाकर मूर्ख अज्ञानी विचार रहित मनुष्यों को क्लेश पहुंचाते हैं और उनके धन की हानि करते हैं जब दुष्ट पाखण्डजाल करने वाले किसी अज्ञान मनुष्य को किसी उसके प्रियगृह जन पर प्रेत बाधा होना कहकर भयभीत करते हैं तब वह विचार रहित उनकी बात को सत्य मान कर उसकी निवृत्ति के लिये उपाय करने में वृथा धन व्यय करता है कोई रोग भी हो तो उसकी औषधि न करके झाड़ फूँक कराने में प्रवृत्त होता है आज कल्ह के पुरोहित भी जिनको शास्त्र ज्ञान व विचार शक्ति नहीं है उनको जो यह ज्ञात हो जाता है कि यजमान के घर में कोई रोगी है और औषधि से अभी रोग में कमी नहीं हुई तो उनको भी यह कहने का अवकाश मिलता है कि इसको प्रेत बाधा है दुर्गापाठ का वरण करा देव दान पुण्य करो तो प्रेत बाधा निवृत्त होवे।

जो बुद्धिमान् और विचारवान् हो तो कहने वालों से ऐसा उत्तर देवे कि अच्छा प्रेतबाधा के विश्वास के लिये हमको परीक्षा से निश्चय करा दीजिये फिर हम आप की आज्ञा का अनुवर्तन करेंगे आप प्रेत में यह शक्ति मानते हैं कि वह क्षण में दूर देश तक जाकर आ सका है किसी छिपी वा ढकी हुई वस्तु को जान सक्ता है अपने सामने कोई दूर स्थान में बैठा बात करता हो वहा जा कर सुन कर आकर कह सक्ता है तो हम किसी वस्तु को अपनी मुट्ठी में बिना किसी को बताये बन्द करके पूँछते हैं दूर स्थान में जाकर किसी से कुछ कहते है प्रेत हमारी मुट्ठी की वस्तु को एकान्त में हमारी की हुई बात को बता देवे किसी दूर स्थान में रक्खे हुये पदार्थ को ला देवे तो हमको निश्चय हो कि प्रेत है हम तुम्हारे कहने मात्र को नहीं मानते जो वह ऐसी परीक्षा न करा सकेंगे तो आप ही फिर कुछ न कहेंगे इस स्थान में पाखण्ड मय प्रेत का एक उदाहरण वर्णन करने के योग्य है वह यह है कि राज्य अजयगढ़ में मैं महाराजा अजयगढाधीश के यहा राज्यकार्य में नियुक्त था उसी समय में अजयगढ़ के डाकखाना में एक महाशय डाकखाने के काम में डाक मुन्शी थे उनकी स्त्री के प्रेतबाधा का वृत्तान्त लिखना है इसमें उनका नाम व्यक्त करना उचित नहीं है।

जब उक्त मुन्शी जी की स्त्री को प्रेतबाधा होने का आरम्भ हुआ तब उस स्त्री के पास झाड़ फूंक करने वाले आने लगे।

घे आते थे उपाय भी करते थे परन्तु वह अच्छी न होती थी उसका पति श्वसुर उसके हाथ जोडते थे जो कुछ वह कहती थी वही वे करते थे वह कुछ घर का काम नहीं कर सकी थी पति और श्वसुर भोजन बनाते थे किसी रात को वह स्त्री अर्धरात्रि से या किसी समय में रात से रोने और चिल्लाने लगती थी कि उसके शब्द से घर के मनुष्य और परोस के रहने वा सो नहीं सकते थे इस प्रकार से दो तीन महीना व्यतीत होने के पीछे उ मुन्शी जी के एक बोझा गुरु थे वह आये तब मुन्शी जी ने उन सब प्रेत बाधा का वृत्तान्त और अपना दुःख सुनाया तब गुरु जी ने उन स्त्री के चित्त की वृत्ति और वृत्तान्त को विचार कर मुन्शी जी से कहा तुमने बहुत झाड फूक और उपाय किया परन्तु प्रेत ने पीछा न छोडा हम उपाय बताते हैं उससे प्रेत छोड देवेगा परन्तु जो दृढ प्रतिज्ञा हमारी आ अनुसार करने की करो तो हम बतावें जब दृढ प्रतिज्ञा करा लिया तब निश्च से उक्त स्त्री का पाखण्ड जानकर और इस हेतु से कि बीच में दो एक दिन अच्छी भी हो जाती थी उस समय में अच्छी थी यह कहा कि इस वार जि दिन प्रेत आवे तब इस बात का ध्यान छोड कर कि हम बडे आदमी हैं हम अपनी स्त्री पर ऐसा न करना चाहिये हाथ जोड कर प्रेत से कुछ प्रार्थना करना हाथमें जूता लेकर पचास जूते तक मारते जाना जब वह आप हाथ जो कर विनती करे कि अब न आऊँगा तब छोड़ना पहिले कितना ही क्रोध और कुछ कहै तुम डरना नहीं।

मुन्शी जी ने प्रेत बाधा होने में गुरु की आज्ञा अनुसार व्यवहार किया स्त्री पर आया हुआ प्रेत हाथ जोड कर फिर न आने की प्रतिज्ञा की कि अब न आऊँगा अर्थात् स्त्री ने जान लिया कि अब आदर सन्मान न होगा पाखण्ड चलेगा अब दुर्दशा होगी तब कह दिया कि अब न आऊंगा फिर उस दिन कभी प्रेत नहीं आया स्त्री अच्छी तरह रहने लगी घर का काम करने लगी इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं ऐसे पाखण्ड जाल से रचे हुये भूत और प्रेत को कभी नहीं मानना चाहिये।

इतिश्रीतत्वमार्तण्डेश्रीस्वामीप्रभूतानन्दनिर्मिते
देवतामन्त्रप्रेतमन्तव्यामन्तव्यत्ववर्णन
विषये पचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥



अथ श्री स्वामी दयानन्दकृत लेख तथा आर्यसमाज मत विषयक समीक्षा।

विचार करने से यह विदित होता है कि प्राय पौराणिक और अन्य मत वाले जो उक्त स्वामी जी के मत और लेख को अनुचित समझते हैं आर्य समाजियों से विरोध रखते हैं यह विचार गुण ग्राहक सत्पुरुषों के धर्म और सम्मति से विरुद्ध है विद्वान् सत्पुरुषों को सदा गुण ग्राहक होना ही उचित है।

स्वामी जी ने जो उत्तम हितकारक देश में विद्या की उन्नति के विषय में परमात्मा के उपासन आदि के विषय में लिखा है उसको स्वीकार करना चाहिये जो किसी हेतु से कोई लेख स्वामी जी का अयुक्त प्रतीत हो उसको त्याग करना चाहिये अर्थात् उसको स्वीकार न करना चाहिये परन्तु उसके अयुक्त होने और मन्तव्य न होने का हेतु देखना चाहिये स्वामीजी सर्वज्ञ ईश्वर नहीं थे भ्रम से वा किसी कारण से किसी समय विद्वान् से भी कोई अर्थ अयुक्त लिखा जाना अथवा उसकी किसी सम्मति का यथार्थ न होना सम्भव है।

इस विषय में इस उदाहरण को ग्रहण करना उचित है कि महाविद्वान् षट् दर्शनों के निर्माता आचार्यों में से साङ्ख्य आदि कई दर्शनों में कुछ अंश वेद के विरुद्ध लेख प्रतीत हुआ है यथा साङ्ख्य में ईश्वर को जगत् का कर्ता न मान कर प्रकृति ही को कर्ता माना है इत्यादि तथापि उक्त दर्शन आदि के निर्माता आचार्यों को सत्पुरुषों ने श्रेष्ठ और मान्य ही की दृष्टि से देखा है।

यद्यपि भाव विशेष से उनका लेख युक्त भी हो सकता है परन्तु सामान्यत श्रुति विरुद्ध स्वीकार करना इष्ट न जानकर विद्वान् सत्पुरुष पाराशर जी ने इतनाही लिखा है कि श्रुति विरुद्ध अंश को त्यागकर सब अंशों में उनका लेख मन्तव्य है यथा—

अक्षपादप्रणीते च काणादे साङ्ख्ययोगयोः त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽश श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ॥ जैमिनीये च वैयासे विरोधो नास्ति कश्चन । श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुतिपारं गतौ हितौ ॥

अर्थ—(अक्षपाद प्रणीते) गौतम जी के बनाये न्याय दर्शन में (काणादे) कणाद जी के बनाये वैशेषिक दर्शन में (साङ्ख्य योगयो) और साङ्ख्य योग दर्शनों में (श्रुत्येकशरणैर्नृभि.) जिन मनुष्यों को एक वेदही शरण अर्थात् आश्रय है उनसे (श्रुतिविरुद्धोश त्याज्य) श्रुति से जो विरुद्ध अंश है वह त्याग करने योग्य है (जैमिनीये च वैयासे) जैमिनी जी के बनाये मीमांसा दर्शन में और व्यास जी के बनाये वेदान्त दर्शन में (श्रुत्या कश्चन विरोध न अस्ति) श्रुति से अर्थात् वेद से विरोध नहीं है। क्यों इनमें विरोध नहीं है (हि)

जिससे अर्थात् इस हेतु से कि (तो) वे दोनों अर्थात् जैमिनि और व्यास (वेदार्थ विज्ञाने) वेदों के अर्थ विशेष जानने में (श्रुति पारं गतौ) वेद के पार जाने वाले हुये हैं अर्थात् वेद के यथार्थ अर्थ के ज्ञाता हुये हैं।

इससे उनके बनाये दो दर्शनों में कुछ त्याज्य नहीं है वे सपूर्ण मन्तव्य हैं। जैसे महात्मा पाराशर ने अपनी सम्मति दर्शनों के मन्तव्य होने के विषयमें प्रकट की है ऐसाही सब विद्वानों को चाहिये किसी विद्वान के बहुत से उत्तम लेख में से जो कोई अंश अयुक्त प्रतीत हो उसको छोड़कर अन्य उत्तम अंशों को स्वीकार करें और प्रशंसनीय हो तो प्रशंसा करें हम भी जो लेख स्वामीजी का हमको अयुक्त प्रतीत होता है उसको ग्रहण नहीं करते परन्तु उसके यथार्थ प्रतीत न होने से उनके अन्य उत्तम लेखों को भी अनुत्तम नहीं समझते उत्तम अंशों में स्वामी जी के परिश्रम और देश हितैषी होने की प्रशंसाही करते हैं।

स्वामी जी के जिन लेखों को हम यथार्थ होना स्वीकार नहीं करते उनमें से कुछ पहिले वर्णन किये हुये व्याख्यानों से ज्ञातव्य है और जिस मन्त्र का अर्थ अयुक्त ग्राह्य न होने के योग्य वर्णन किया है उसको स्वीकार नहीं करते जैसा कि यह मन्त्र है—

इ॒मां त्वमि॑न्द्रमीढ्वः सुपु॒त्रां सु॒भगां॑ कृणु।
दशा॑स्यां पु॒त्राना धे॑हि॒ पति॑मेकाद॒शं कृ॑धि॥
ऋ० म० १० सू० ८५ म० २५॥

अर्थ—हे इन्द्र विवाहित पते (मीढ्व) वीर्य सींचनेवाले अर्थात् वीर्य दान करनेवाले (त्व) तू (इमा) इस विवाहित स्त्री को (सुपुत्रा) उत्तम पुत्रों से युक्त (सुभगा) उत्तम सुख से युक्त (कृणु) कर (दशास्यां पुत्रान्) इस स्त्री में दश पुत्रों को (आधेहि) धारण कर अर्थात् उत्पन्न कर अधिक नहीं ईश्वर ने पुरुष के लिये दशही पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दी गई है वह समझना चाहिये एस ही स्त्री को यह आज्ञा है (पति एकादशंकृधि) हे स्त्रि किसी आपत्यकाल की अवस्था प्राप्त होने में एक एक पति के न रहने में सन्तान की उत्पत्ति के लिये एक विवाहित और दशपति पर्य्यन्त नियोग कर ऐसेही पुरुष भी विवाहित स्त्री के मरने पर सन्तान न होने में एक एक के मरजानेपर दशवीं विधवा स्त्री के साथ अर्थात् दश संख्या पर्य्यन्त विधवा स्त्री के साथ नियोग करे।

इस प्रकार से ग्याहरपति स्त्री करै और इच्छा न हो तो न करे ऐसा अर्थ इस मन्त्रका स्वामी जी कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका सम्वत् १६५० वैदिक यन्त्रालय अजमेर की छपी हुई में लिखा है *यह अर्थ कई हेतुओं से अयुक्त और

* संस्कृत मात्र में छपी हुई ऋग्वेदादि भूमिका हमारे पास थी जो भाषा अर्थ सहित छपी है वह नहीं रही इससे मन्त्रके संस्कृत में किये हुये व्याख्यान का भाषानुवाद हमने लिखा है।

असमन्तव्य है अयुक्त होने के हेतु ये हैं कि (पतिमेकादशं कृधि) इसका अर्थ यही है कि पति को ग्यारहवाँ कर क्योंकि एकादश शब्द सङ्ख्या पूरक अर्थ का वाचक है।

यह अर्थ यथार्थ नहीं है कि ग्यारह पतियों को कर इससे ग्यारह पति का अर्थ करना उत्तम नहीं है।

इस के सिवाय जो स्त्री के लिये ग्यारह पतियों का अर्थ ग्रहण किया जाय तो फिर इन्हीं शब्दों से पति के लिये ग्यारह स्त्रियों के साथ नियोग करने का अर्थ जैसा स्वामी जीने वर्णन किया है नहीं हो सकता क्योंकि पतिके लिये तो स्पष्ट ही प्रथम वर्णन कर दिया है इस वाक्य के अवयव में (पति) पति को यह पद कहने से स्त्री मात्र के लिये उपदेश होना सिद्ध होता है पति के लिये नहीं यथा तथा शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है कि जिससे पति के लिये भी वैसा ही उपदेश करने का अर्थ ग्रहण किया जाय।

अपने मन की कल्पना से इच्छा अनुसार अर्थ करना केवल वक्ता की इच्छा है।

संस्कार विधि नामक ग्रथमें स्वामी जीने इस मन्त्र को विवाह संस्कार में अन्य विवाह सम्बन्धी मन्त्रों के साथ लिखा है जब विवाह की विधि में यह मन्त्र है फिर यह नियोग में मानने योग्य नहीं है इस मन्त्र में इमां सुपुत्रां सुभगां स्त्री लिंग के द्वितीयान्त एक वचन और अस्यां सप्तमी का एक वचन प्रयुक्त हे ये शब्द जो विवाहिता के लिये कहे गये हैं यह नियोग करने वाली विधवा के वाचक और बहुवचनके बोधक नहीं हो सकते और विचारने से यह अधिक अनुचित और बीभत्स होना प्रतीत होता है कि सोलह वर्षकी अथवा इससे अधिक होने में स्त्री के विवाह की विधि होने से इस आयु में विवाह होने के पश्चात् जो एक एक पति तीन तीन वर्ष से अधिक न जीवे और तीसरे ही तीसरे वर्ष नया पति स्त्री करती जाय तो ग्यारह पति में स्त्री की आयु ४६ या ५० वर्ष की हो जायगी क्योंकि ग्यारह को तीन से गुणन करने से ३३ होते है ३३ को १६ के साथ जोडने से ४६ और १७ के साथ जोडनेसे ५० होते ह और अधिक आयु में विवाह होनेसे पचास से भी अधिक संख्या होगी।

सब पतियों की तीन ही तीन वर्ष की अवस्था होना सम्भव न होने में भी न्यून आयु होने की कल्पना में भी इतनी आयु स्त्री की होती है यह सूचित करने मात्र के लिये ऐसा लिखा गया है और अधिक अधिक आयु पतियों के जीने की होगी तो ग्यारह पतियों तक साठ सत्तर और इससे अधिक स्त्री की आयु हो सकती है ऐसी दशा में यदि ईश्वर उपदेश में संख्या का नियम भी न करता तो भी ग्यारह से अधिक पतियों के साथ कोई स्त्री नियोग न कर सकती प्रत्युत न्यून ही संख्या में रहती ग्यारह पतियों की भोग की हुई साठ सत्तर की व इससे अधिक आयु की वृद्धा स्त्री आपही अधिक बारहवें पतिकी इच्छा न करेगी इससे अधिक न होने का नियम करना ही व्यर्थ है।

और ऐसे उपदेश से नियोग का उपदेश करना सिद्ध नहीं होता किन्तु व्यभिचारिणी बनाने का उपदेश सिद्ध होता है क्योंकि नियोग आपत्काल में आगे वंश चलने के मनोरथ से पुत्रकी उत्पत्ति के लिये किया जाता है वह एक वा दो ही पतियों से सिद्ध हो सकता है यह अनुमान नहीं हो सकता कि ग्यारह पति तक सब नपुंसक ही मिलते जाँयगे और सब अल्प आयु ही होंगे और यदि पुरुषत्व होने का निश्चय करके नियोग किया जायगा तो एक नपुंसक के साथ भी नियोग न होगा।

और यदि स्त्री वन्ध्या है तो प्रति दिन भी एक नया पति करने से सन्तति होने की आशा नहीं हो सकती इसलिये उसके लिये सिवाय व्यभिचार के नियोग की विधि ही नहीं हो सकती इससे ग्यारह पति का अर्थ किसी प्रकार से युक्त और उत्तम अर्थ का बोधक नहीं हो सकता ऐसा उपदेश ईश्वर नहीं कर सकता स्वामी जीके इस अर्थ में विदेशी अनेक प्रकार के व्यंग और कूट वचन कहते हैं पौराणिक भी दोष देते हैं अयुक्त प्रतीत होने से हमने भी अपेक्षा किया है।

और आर्य्य समाजी महाशयों से गत वर्ष सम्वत् विक्रम १९६९ में आर्य्य समाज बाँदा के वार्षिकोत्सव में उक्त मन्त्र के अर्थ के विमार्जित करने के लिये मैंने अपनी सम्मति प्रकट किया था उस पर कुंवर हरिप्रसाद जी वकील, जो आर्य्य समाज बांदा में एक प्रतिष्ठित पुरुष हैं उक्त मन्त्र के अर्थ के शुद्ध किये जाने का प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा की थी इस वर्तमान वर्ष सम्वत् १९७० में आर्य समाज कानपुर के वार्षिकोत्सव में मैं उपस्थित था उत्सव हो जाने के पश्चात् श्री महाशय ज्वाला प्रसाद जी मन्त्री आर्य्यसमाज कानपुर को उक्त मन्त्र के अर्थ पर उक्त प्रकार का आक्षेप लिख कर इस प्रार्थना के साथ आक्षेप पत्र दिया गया था कि इस मन्त्र का यथार्थ अर्थ शुद्ध करके लिखना चाहिये अथवा स्वामी जी कृत अर्थ पर जो आक्षेप है उसका समाधान आर्य्य समाज के विद्वानों से निर्णय कराके मेरे पास भेजना चाहिये।

उक्त महाशय जीने ऐसा करने की आज्ञा दिया था परन्तु स्मारक पत्र भेजने पर भी कई मास व्यतीत होगये अबतक उक्त पत्र का उत्तर प्राप्त नहीं हुआ आशा है कि आर्य्य समाज के विद्वान् उक्त मन्त्र के अर्थ को शुद्ध करके दोष को निवृत्त करेंगे॥

उक्त मन्त्र का यथार्थ अर्थ यह है (इन्द्रमीढ्व) हेवीर्य के सींचने में समर्थ ऐश्वर्य युक्त पुरुष (त्वम्) तू (इमा) इस स्त्री को अर्थात् विवाहित स्त्री को (सुपुत्रा सुभगा) श्रेष्ठ पुत्रों से युक्त और सुख ऐश्वर्य से युक्त (कृणु) कर (अस्या) इस स्त्री में (दश पुत्रान् आधेहि) दशपुत्रों को धारण कर अर्थात् उत्पन्न कर (पति एकादश कृधि) पति को ग्यारहवाँ कर इसका आशय यह है कि हे स्त्रि तू भी दश पुत्रोंको उत्पन्न करके दशपुत्रों सहित संख्या में पतिको ग्यारहवा कर जब पुत्रों सहित पति संख्या में ग्यारहवा हो जाय फिर अधिक

सन्तान को उत्पन्न न कर पतिको स्पष्ट ही दश पुत्रों के उत्पन्न करने की आज्ञा दिया है थोडे ही अक्षरों में बहुत अर्थ के आशय को सूचित करने के लिये स्त्री प्रति पतिको ग्यारहवां कर ऐसा कहा है विना अन्य दश के पतिकी ग्यारहवीं संख्या नहीं हो सकती और पति के लिये दश पुत्रों के उत्पन्न करने का सम्बन्ध लगाही है इससे पति के उपदेश की अनुवृत्ति स्त्रीके उपदेश के लिये ग्रहण करने से यह अर्थ होता है कि हे स्त्री तू भी पतिसे दशपुत्रोंको उत्पन्नकरके पुत्रों सहित संख्या के पतिको ग्यारहवाँकर दशसे अधिक सन्तानको उत्पन्न न कर जिससे पति की संख्या ग्यारह से अधिक होजाय यह आशय है पति और स्त्री दोनों के लिये दश सन्तति से अधिक उत्पन्न करने का उपदेश न होनेका कारण यह है कि दस से अधिक सन्तान उत्पन्न करने में स्त्री व पुरुष दोनों में निर्बलता होती है इससे दश पुत्रों तक के उत्पन्न करने की ईश्वर ने आज्ञा दी है अधिक के लिये नहीं।

यही अर्थ स्वामी जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में जो अर्थ लिखा है वह यथार्थ नहीं है स्वामी जी ने पुराणों और अनेक ग्रन्थ के निर्माताओं के व्याख्यानों में पूर्वापर विरोध आदि दोषों को देखकर खण्डन किया है परन्तु मनुष्य में बुद्धि दोष होना किसी वर्णन किये हुये का स्मरण न रहना सम्भव होने से आप ही अपने बनाये हुये दो ग्रन्थों में एक मन्त्र का दो प्रकार का अर्थ लिख दिया है जिनमें से एक युक्त और ग्राह्य है और एक ऐसा है कि जो बुद्धिमान विचारशील विद्वान् से स्वीकार किये जाने के योग्य नहीं है।

स्वामी जी विद्वान् विचार शील सत्य प्रिय थे किसी समय में स्वस्थ चित्त न होने अथवा किसी अन्य विषय के स्मरण में चित्त जाने से उक्त मन्त्र के अर्थ लिखने में विशेष विचार नहीं किया साधारण जो बुद्धि में आया लिख दिया है और भी कहीं कहीं ऐसा लिख दिया है परन्तु आज कल के आर्य-समाज के कोई कोई पण्डित चाहे शब्द के साथ अर्थ की संगति हो अथवा न हो अपने मन माना अर्थ लिखते हैं और उन्हीं शब्दों का अर्थ जहां उनके मन से कल्पित अर्थों की सगति नहीं होती तब जो अर्थ होता है उसको छिपा कर अधिक व्याख्यान न करके कुछ अर्थ लिखकर समाप्त कर देते हैं इसका वृत्तान्त स्पष्ट विदित होने के लिये उदाहरण सहित कुछ विशेष व्याख्यान किया जाता है आज कल आर्य समाज के पण्डितों में चार पण्डित ग्रन्थों के निर्माण करने वाले और प्राचीन ग्रन्थों के भाष्य करने वाले है श्री पण्डित आर्य-मुनि जी प्रोफेसर संस्कृत फिलासफी दयानन्द ऐङ्गलोवैदिक कालेज लाहौर१ श्रीपण्डित राजाराम शास्त्री दयानन्द ऐंगलोवैदिक कालिज लाहौर २ श्री स्वामी तुलसी राम सम्पादक वेद प्रकाश पत्र स्वामी यन्त्रालय मेरठ ३ काव्य तीर्थ पण्डित शिवशङ्कर वैदिक यन्त्रालय अजमेर ४ श्री पण्डित स्वामी हरिप्रसाद जी निर्माता वैशेषिक सूत्रवृत्ति आदि॥ ५॥

ये पाचवें हैं यद्यपि यह आर्यसमाजी नहीं हैं परन्तु अपनी निर्मित वृत्तियों

को वैदिक वृत्त प्रसिद्ध किया है इन सब महाशयों के निर्मित ग्रन्थ मेरे दृष्टिगोचर हुये हैं श्री पण्डित राजाराम शास्त्रीजी के वृहदारण्यक उपनिषद् के भाषा अनुवाद व व्याख्यान को देखा है उस लेख में मन कल्पित बनावट न करना जैसा ज्ञात हुआ वैसा यथार्थ प्रकाशित करना उत्तम प्रशंसनीय है।

श्री स्वामी पण्डित तुलसीराम का भी लेख अच्छा है कहीं कहीं कुछ मन. कल्पित अर्थ भी लिखा है परन्तु बहुत कम यद्यपि गूढाशय हो जहां साधारण शब्दों के अर्थ से अयुक्त और असम्भव अर्थ का प्राप्त होना प्रतीत हो वहां शब्दों के अर्थान्तर से उत्तम अर्थ का ग्रहण करना उचित और सत सम्मत है परन्तु जहा साधारण शब्दों के अर्थों से पूर्वापर संगति के साथ अर्थ लग सकता है उसको त्याग कर नया कल्पित अर्थ करना जा किसी हेतु से किया गया है अन्य हेतु से या दूसरे जगह असंगत प्रतीत होता है वह त्याज्य है मन्तव्य नहीं है श्री पण्डित आर्य मुनि जी का लेख प्राय. विज्ञापन पत्र में लिखे हुये प्रशंसा के विरुद्ध और मन कल्पित अयुक्त अर्थ से युक्त पाया गया है सब से अधिक काव्य तीर्थ पण्डित शिवशङ्कर जी कृत भाष्य व व्याख्यान का लेख विज्ञापन के योग्य है इस से प्रथम कुछ उनके वृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य के विषय में वर्णन किया जाता है ।

उक्त पण्डित जी ने वृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में स्थल विशेष में मूल के गूढाशयों को व्यक्त नहीं किया और अपनी कल्पना से जो अर्थ मूल के तत्व जानने के लिये आवश्यक था उससे कुछ सम्बन्ध जिसका नहीं ऐसा अर्थ लिखा है ।

यथा भाष्य की अवपातनिका (भूमिका) में पण्डित जी ने लिखा है कि उपनिषद् ग्रन्थों में बहत्तर हजार नाडियों का वर्णन आता है यह भी सौ वर्ष के आयु का प्रदर्शक है जैसे ३६० दिन ३६० रात्रि का एक वर्ष माना गया है दोनों मिल कर ७२० अहोरात्र होते हैं अर्थात् प्राय एक वर्ष में ३६० दिन और ३६० रात्रिया होती हैं अत ७२० को सौ से गुणा करो क्योंकि १०० वर्ष की आयु है अत ७२० ×१०० के गुणन से ७२००० बहत्तर हजार हो जाते हैं इन्हीं के आश्रय से जीवात्मा कार्य करता है अत ये शरीरस्थ नाडीवत् नाडियां कहाती हैं ।

पश्चात् इसका वास्तविक तत्व न समझकर शरीर की नाडियों को ही ७२००० बहत्तर हजार मानने लगे ।

अब विद्वान् महाशय विचार से निश्चयकर सकते हैं कि यह व्याख्यान पडित जी का कैसा निर्मूल और असङ्गत है क्योंकि विद्या रहित ग्राम के वासी पन्द्रह दिन का कृष्णपक्ष और पन्द्रह दिन का शुक्लपक्ष मान कर ३० दिन का महीना मान लेते हैं तब बारह महीना के ३६० रात्रि तथा दिन की संख्या हो सकती है परन्तु नियत ३० दिन का महीना न चांद्रमास होता है न सौर्यमास होता है और पण्डित जी स्वय यह लिखते हैं कि प्राय एक वर्ष में ३६० दिन ३६० रात्रियां होती हैं प्राय शब्द के लिखनेही से यह द्रष्टव्य होगया कि १०० वर्ष में

कितने वर्ष ३६० से कम दिन वा रात्रि के समझना चाहिये कम दिनों के वर्षों में ७२००० की संख्या पूरी नहीं हो सकती। चन्द्रमास में किसी तिथि की हानि और कभी वृद्धि भी होने से एक वर्ष में ३५५ घटी व पलों की अधिकता सहित होते हैं और सौरमास में ३६५ दिन होते हैं इस से दोनों प्रकार की संख्या से कोई वर्ष ३६० का नहीं होता और नाडी शब्द रात्रि दिन का वाचक भी नहीं है और किसी उपनिषद् में ७२००० का नियत संख्या के वर्णन का प्रमाण भी नहीं मिलता छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ८ खण्ड ६ में से ऐसा वर्णन है

शतञ्चैका चहृदयस्यनाड्यस्तासामूर्द्धानमभिनिःसृतैका। इत्यादि

अर्थ—एक सौ एक हृदय की नाडियां हैं उनमें से एक शिर की ओर निकल गई है इत्यादि आगे यह वर्णन है कि इस नाडी द्वारा जो योगीजन शरीर त्याग कर जाते हैं वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं। प्रश्न उपनिषद् में नाडियों के विषय में ऐसा वर्णन है

हृदिह्येषआत्मा। अत्रैतदेकशतंनाडीनांतासां शतंशतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासुव्यान श्चरति॥ प्रश्न ३ कण्डिकादि॥

अर्थ—हृदय में अर्थात् कमल के आकार रूप हृदय में यह आत्मा (जीवात्मा) रहता है (अत्र) इसमें अर्थात् इसी हृदय में (एतत् एक शतनाडीनां) ये एक सौ एक नाडियाँ हैं (तासां) उनमें से (एकैकस्यां शत शत) एक एक में सौ सौ अर्थात् सौ सौ नाडियां शाखाओं के समान फूटी हैं वा फूटती हैं इस संख्या से १०१ नाड़ियों का सौ के साथ गुणन करने से १०१०० दश हजार एक सौ शाखायें हुई अब आगे यह वर्णन है (द्वासप्तति द्वासप्ततिः प्रति शाखानाडी सहस्राणि भवन्ति) एक एक शाखा में बहत्तर हजार नाडी होती हैं अथवा ऐसा भी आशय है कि एक एक शाखा में बहत्तर बहत्तर नाडियां होती हैं इस प्रकार से सहस्रों नाडियां होती हैं (आसुव्यानश्चरति) इन नाडियों में व्यान वायु विचरता है इस कण्डिका में यह बहत्तर हजार मात्र का वर्णन नहीं है एक एक शाखा में बहत्तर बहत्तर नाडी का अर्थ करने में भी १०१०० के साथ गुणन करने से ७२७२०० सूक्ष्म नाडियाँ होती हैं बहत्तर बहत्तर हजार प्रति शाखा अर्थ करने में और बहुत अधिक संख्या होगी इस कण्डिका वाक्य के अर्थ से भी ७२००० नाडियों का अर्थ समझना और पण्डित जी की सौ वर्ष के ७२००० दिन की कल्पना मिथ्या होती है बृहदारण्यक उपनिषद् में नाडियों का इस प्रकार से वर्णन है—

तावा अस्यैताहितानाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधाभिन्नस्ताव-ताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्यलोहि-

तस्य पूर्णा इत्यादि ।

अर्थ—वे जो इस शरीर की हिता नाम नाडियाँ हैं वे इतनी सूक्ष्म हैं जैसे सहस्र भाग से फाडा हुआ बाल होवे वे नाडियाँ शुक्ल नीले पीले हरे लाल रस से पूर्ण (भरी) हैं इत्यादि इसके भाष्य में पण्डित जी ने हिता नाम नाडियों को बाल के सहस्रवें भाग के समान सूक्ष्म होना और उनमें शुक्ल नील आदि रसों का बहना लिखा है परन्तु बाल का सहस्रवां भाग किसी प्रकार से दृष्टि का विषय (दृश्यपदार्थ) नहीं हो सक्ता उस अदृश्य में से शुक्ल नील आदि रूप युक्त रस स्थूल द्रव्य का बहना असम्भव है इसका निर्णय और व्याख्यान कुछ नहीं लिखा है शब्द का अर्थ तो मूल से भी हो जाता है चाहे उसका आशय समझ में आवे अथवा न आवे यदि यही दशा अर्थ समझने की भाष्य में भी रहै तो भाष्य करना ही निष्फल है ।

गन्धर्व आदि शब्द का अर्थ गाने वाला आदि करने के विषय में जिस कण्डिका में मनुष्य से आरम्भ करके पितृ गन्धर्व आदि लोकों में ब्रह्मलोक तक सौ सौ गुणा अधिक आनन्द होने का वर्णन किया है उसके व्याख्यानमें वर्णन कर दिया है अब फिर पिष्ट पेशन के समान वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है ।

बृहदारण्यक के अध्याय ३ ब्राह्मण ९ कण्डिका २५ में यह वर्णन है कि याज्ञवल्क्य के प्रश्न को शाकल्य न समझ सके इससे उत्तर न दिया तब शाकल्य का सिर गिर गया और उनकी हड्डियों को कुछ अन्य वस्तु मान कर चोर चुरा ले गये ।

इसका व्याख्यान पण्डित जी ने यह किया है कि उस प्रश्न को शाकल्य न समझ सका तब इसी कारण इसका मूर्द्धा गिर पडा और इसकी हड्डियों को अन्य उत्तम वित्त समझ कर चोरगण चुरा ले गये ।

भाव इसका यह है कि विद्वत्सभा में परास्त होना ही मानो सिरका गिरना है और परास्त होने पर मनुष्य का मुख सूख जाता देह कांपने लगता बेवकूफ सा इधर उधर देखने लगता, परन्तु जो धृष्ट पुरुष होता है उसका सिर तो हारने में नीचा हो जाता है परन्तु क्रोध से शरीर जलने लगता देह का रक्त शुष्क हो जाता, हड्डिया सर्वथा निर्बल हो जाती हैं घूम कर पृथिवी में हाथ पांव छितरा के पड जाता है कोई उन्माद रोग का बहाना कर लेता है ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर कहा जाता है इसकी हड्डियों को भी मानों चोर चुरा ले गये ।

इस व्याख्यान को बुद्धिमान विचार कर समझ सकते हैं कि यह व्याख्यान युक्त व मन्तव्य हो सकता है या नहीं ।

क्या कहीं ऐसा किसी को विदित हुआ है कि शास्त्रार्थ में कोई परास्त हो लज्जित हुआ हो उसका मुख सूख गया हो तो उसके शरीर को देखकर कोई कहने लगा हो कि मानों इसकी हड्डिया चोर चोरा ले गये या पृथिवी में हाथ पैर फैला कर पड रहा हो । ऐसा तो न देखा गया न सुना गया है ।

ऐसा तो सम्भव है कि अपने से किसी को प्रबल जान कर उसके साथ शास्त्रार्थ करने में अपना पराजय और प्रतिष्ठा की हानि जानकर किसी व्याधि शरीर में उत्पन्न हो जाने अथवा किसी अन्य मिस से शास्त्रार्थ करने से बचने का उपाय कर लेवें परन्तु अहङ्कार के साथ शास्त्रार्थ करके परास्त होजाने पर लज्जित चाहे हो जावे फिर बहाना क्या कर सकता है और करै भी तो इसकी हड्डियों को मानो चोर चुरा ले गये यह कोई क्यों कहेगा।

पण्डित जी ने लिखा है कि कहा जाता है इसकी हड्डियों को भी मानो चोर चुरा ले गये" जिसका यह आशय प्राप्त होता है कि मानो ऐसा कहने की रीति प्रचरित है ऐसे अयुक्त व्याख्यान से कुछ मूल के यथार्थ आशय का ज्ञान नहीं होता मूल का सत्यार्थ यह नहीं है जो साधारण शब्दों के अर्थ से समझा जाता है जब तक मूल का गूढ आशय विदित नहीं होता उसका व्याख्यान नहीं हो सकता उक्त व्याख्यान से सिद्ध है कि व्याख्यान कर्ता ने मूल के आशय को नहीं समझा।

बृहदारण्यक अ० ३ ब्रा० ९ क० १४ में ऐसा वर्णन है।

तमेवयस्यायतनंहृदयलोको मनोज्योतिर्योवैतं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणं सवै वेदितास्याद्याज्ञवल्क्यवेद वा अहंतं पुरुषं सर्वस्याऽऽत्मनः परायणं यमात्थ यएवायं छायामयः पुरुषः सएषवदेव शाकल्यतस्यकादेवतेति मृत्युरिति होवाच॥

अर्थ—तमही जिसका आयतन है हृदय लोक है मन ज्योति है जो उस सब जीवात्मा के परायण को जानता है वह जाननेवाला हो सकता है।

याज्ञवल्क्य ने कहा कि निश्चय से उस पुरुष सब के आत्मा के परायण को जिसको तुम कहते हो मैं जानता हूं वही जो छायामय पुरुष है सो यह है हे शाकल्य और पूछो उसका देवता कौन है मृत्यु है ऐसा कहा॥ १४॥

इसके अर्थ और भाष्य में पण्डित जी ने देवता शब्द का अर्थ उत्पत्ति का कारण वर्णन किया है अर्थात् उसका देवता कौन है इस प्रश्न को इस प्रकार से लिखा है कि उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है? मृत्यु है ऐसा कहा।

छाया का अर्थ अज्ञान रक्खा है अर्थात् छायामय पुरुष अज्ञान है इस अज्ञान का कारण मृत्यु वर्णन किया है और मृत्यु का अर्थ मरण त्रास रक्खा है अर्थात् अज्ञान का कारण मरण त्रास है इस अर्थ की पुष्टि में ये उदाहरण लिखा है।

लोक में देखो किसी के धर्म पुस्तक में लिखा है कि आचार्य ने सहस्र वर्ष की हड्डी से उसी आदमी (जिसकी वह हड्डी थी) जिला दिया अब यदि इस बात को तुम नहीं मानोगे तो उस सम्प्रदाय के लोग तुम्हें मार डालेंगे इस हेतु

से इस मरण के भय से इसको मान रहे हो तो कहो उस छाया (अज्ञान) का हेतु मृत्यु हुआ न।

अथवा तुम्हें जाति से निकाल बाहर करेंगे और जाति से पृथक होने को मूर्ख लोग मरण समान समझते हैं इस हेतु से उस अज्ञान का कारण क्या हुआ मरणही।

ईसा मारे गये दयानन्द को विष दिया गया इत्यादि दृष्टान्त लिखा है।

इस व्याख्यान को विचारशील बुद्धिमान स्वयं निश्चय कर लेवेंगे कि कैसा उत्तम है मेरी बुद्धि में जितने दृष्टान्त व्याख्यान में लिखे हैं सब असगत हैं प्रथम तो मृत्यु का अर्थ मरण त्रास रखना ही यथार्थ नहीं है मरण और मृत्यु का अर्थ एक हो सकता है मृत्यु और मृत्युत्रास एक नहीं है दो प्रथक् वस्तु हैं अर्थात् मृत्यु से मृत्युत्रास भिन्न वस्तु है मृत्यु त्रास ही मृत्यु नहीं है।

दूसरा हेतु व्याख्यान के असंगत होने का यह है कि जो अयुक्त और अनुचित को हृदय से अयुक्त और अनुचित समझकर किसी त्रास से अपने ज्ञान के अनुसार व्यवहार (वर्ताव) न करे तो वह त्रास व्यवहार में प्रवृत्त न होने (वर्ताव न करने) का कारण है अज्ञान का नहीं है।

ईसा और दयानन्द को जो मूर्खों ने उनके उत्तम उपदेश को अनुचित समझकर फांसी देदिया और विष देकर मारडाला तो अज्ञानियों की मूर्खता अर्थात् अज्ञान और ईसा और दयानन्द जी का ज्ञान दोनों ईसा व दयानन्द के मृत्यु के कारण हुये हैं मृत्यु अज्ञान का कारण नहीं हुआ यह ज्ञात नहीं होता कि पण्डित जी ने क्या समझकर ऐसा व्याख्यान लिखा है और उक्त दृष्टान्तों को लिखा है।

दूसरे अध्याय के अन्त में मधु विद्या के वर्णन में।

इदंवैतन्मधुदध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच ॥ इत्यादि।

अर्थ—निश्चय से इस मधु (मधुविद्या) को दध्यङ्ङाथर्वण ने दो अश्वियों से कहा इत्यादि मंत्र १६ से १८ तक के व्याख्यान में पण्डित जी ने अश्वियों का अर्थ रात्रि व दिन लिखकर रात्रि व दिन को दो ब्रह्मचारी मान कर किसी प्रकार से यथेष्ट कल्पना करके अर्थ किया है।

रात्रि व दिन को किस साधर्म्य से और किस विशेष हेतु से ब्रह्मचारी कल्पना किया है यह कुछ वर्णन नहीं किया इसके सिवाय दध्यङ्ङाथर्वण ने मधुविद्या को अश्वियों से वर्णन किया है जडरात्रि व दिन उपदेश के योग्य नहीं हो सकते आगे मधुविद्या में परमात्मा के मनुष्य आदि की रचना करने और प्रत्येक शरीर में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ठ होकर प्रत्येक रूप में प्रतिरूप होकर विद्यमान होने का वर्णन किया है ऐसा उपदेश जड रात्रि व दिन के लिये नहीं हो सकता इससे पण्डित जी का व्याख्यान युक्त व मन्तव्य नहीं है इतना उपलक्षण मात्र के लिये लिख दिया है अन्य भी उक्त भाष्य में अयुक्त व्याख्यान हैं इससे उत्तम नहीं है।

अब पण्डित आर्य्यमुनि जी ने जो बृहदारण्यक उपनिषद् और वाल्मीकि रामायण का भाषा भाष्य किया है उनके अर्थ के विषय में कुछ वर्णन किया जाता है उक्त पण्डित जी के विज्ञापन पत्र में जो हमारे पास उपस्थित है और यह अनुमान किया जाता है कि उसको पण्डित जी की आज्ञा वा सम्मति से पण्डित देवदत्त शर्मा जी ने प्रकाशित किया है यह लिखा है कि श्री पण्डित आर्य्य-मुनि जी प्रोफेसर संस्कृत फिलासफी डी० ए० वी० कालेज लाहोर ने दश उप-निषदों पर सरल भाषा में इस प्रकार का वैदिक भाष्य निर्माण किया है कि प्रथम संगति, फिर वाक्य, पदच्छेद, पदार्थ और अन्त में विस्तार पूर्वक भाष्य है इत्यादि और ऐसे ही वाल्मीकि रामायण के भाषानुवाद की बड़ी प्रशंसा दूसरे विज्ञापन पत्र में थी।

उपनिषदों में से बृहदारण्यक उपनिषद् के विशेष स्थलों का आशय गूढ़ और विचारणीय है साधारण पण्डितों को समझनेके लिये कठिन है ऐसे गूढ़ा शयों का उक्त प्रकार के निर्मित भाष्य से स्पष्ट तत्त्वार्थ विदित हो जाने की आशा से छान्दोग्य व बृहदारण्यक उपनिषदों का भाष्य तो हमने स्वयं मंगाया और एक महाशय श्यामसुन्दर नामकः ने वाल्मीकि रामायण का भाषानुवाद मंगाया।

जब मंगाया था तब उक्त रामायण का पूर्वार्द्ध मात्र छपा था उसमें आरण्य-काण्ड तक तीन काण्ड थे वह पण्डित देवदत्त शर्म्मा जी का भेजा हुआ ले लिया गया था फिर उत्तरार्द्ध नहीं मंगाया गया क्योंकि विज्ञापन पत्र के अनु-सार अनुवाद नहीं था। उक्त दो उपनिषदों का भाष्य पहिले ही आ गया था उसमें से प्रथम तो विज्ञापन पत्र के अनुसार छान्दोग्य उपनिषद् का और कुछ बृहदारण्यक के भाग का किया है फिर जिन कण्डिकाओं या मन्त्रों का अर्थ तिरोहित होने से विशेष विज्ञेय है उनका कुछ स्पष्ट व्याख्यान नहीं किया किन्तु पदों के अर्थों को छिपा कर जो अपनी बुद्धि से उचित ज्ञात हुआ है वह लिख दिया है जिसमें सिवाय ग्रन्थों के बिकने के प्रयोजन से ग्राहकों के उत्साह बढ़ाने के, विज्ञापन का वास्तविक होना सिद्ध नहीं होता बृहदा रण्यक उपनिषद् की दो कण्डिकाओं का भाष्य जो उक्त पंडित आर्य मुनिजी ने लिखा है उसको मूल सहित लिखते हैं जिससे यह विदित होगा कि विज्ञापन पत्र से विरुद्ध कैसा प्रमाण व पदों के अर्थों के संगति, वाक्यार्थ पदच्छेद पदार्थ और विस्तार पूर्वक व्याख्यान रहित भाष्य लिखा है।

दो कण्डिकायें जो ऋग्वेद के मन्त्र अनुसार हैं आर्यमुनि कृत अर्थ सहित लिखी जाती हैं।

इदं वैतन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषि पश्यन्न-वोचत तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाच।

पंडित आर्य्यमुनि जी कृत अर्थ—इस मधु विद्या को अश्विनी कुमारों प्रति अथर्व गोत्रोत्पन्न दध्यङ नामक ऋषि ने इस प्रकार वर्णन किया कि हे अश्विनी कुमारो इस मन्त्र में परमात्मा ने स्त्री व पुरुष के लिये उपदेश किया है कि जिस प्रकार बादल वर्षा द्वारा शान्ति करता है इसी प्रकार मैं तुम्हारे लाभ के लिये इस उत्तम कर्म का आविष्कार करता हूं कि ब्रह्मश्रोत्रिय व ब्रह्मनिष्ठ पुरुष वेद विद्या से सब भूतों को मधु-प्रिय ब्रह्म का उपदेश करे॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳशिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति॥ १७ ॥

अर्थ—हे मिलकर गृहस्थ सम्बन्धी काम करने वाले स्त्री पुरुषो आत्म ज्ञानार्थ ब्रह्मनिष्ठ तथा ब्रह्म श्रोत्रिय पुरुष को प्राप्त होओ। वह अपने कर्तव्य कर्म का पालन कर्ता हुआ तुम्हारे लिये मधु विद्या परमात्मा सम्बन्धी विज्ञान का उपदेश करेगा॥

इस प्रकार का इन मन्त्रों का अर्थ देख कर पहिले पत्र द्वारा इन दोनों मन्त्रों में हमने यह प्रश्न किया कि इन में अश्वस्यशीर्ष्णा-शब्द का अर्थ प्रथम मन्त्र में और अश्व्य शिर का अर्थ दूसरे में भाषा में क्या रक्खा है और मन्त्र वाक्य के साथ अर्थ की संगति किस प्रकार से होनी है और दो एक शङ्काओं को जो अन्य वाक्यों में हुई थीं उनको भी लिख दिया था।

प्रश्न का उत्तर तो कुछ नहीं दिया क्योंकि जो यथार्थ अनुवाद किया होता तो उत्तर देते परन्तु यह लिखा कि द्वितीयवार जब छापेंगे तब अर्थ ठीक करके छापेंगे तब एक प्रति पुस्तक आपके पास भेज देवेंगे।

ऐसा लिखने पर छान्दोग्य और बृहदारण्यक के भाष्य के पुस्तक को उक्त पण्डित जी के पास फेर दिया उसके बदले में वैशेषिक दर्शन के भाष्य को मंगा लिया है।

अब वाल्मीकि रामायण के भाषा अनुवाद में जो शब्दों के अर्थ अपनी इच्छानुसार पण्डित जी ने लिखा है उनमें से कुछ उपलक्षणमात्र के लिये लिखते हैं।

महाराज दशरथ जी ने शृङ्गीऋषि से जब पुत्र होने के लिये प्रार्थना की तब शृङ्गीऋषि ने दशरथ जी से कहा कि हे राजन तुम्हारे वंश के बढ़ाने वाले चार पुत्र होंगे फिर ऋषि ध्यान करके ध्यान में जानकर राजा से यह कहा—

इष्टिंतेऽहं करिष्यामि पुत्रीयांपुत्रकारणात् ।
अथर्वशिरसिप्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धांविधानतः ॥

अर्थ—तुम्हारे लिये पुत्रोत्पत्ति के निमित्त अथर्ववेद में कहे हुये मन्त्रों से सिद्ध पुत्रेष्टि को अर्थात् जो हम को सिद्ध है वैसी पुत्रेष्टि यज्ञ के विधान से करावेंगे।

इस कथन से दो बातें जिनको आर्य समाजी महाशय नहीं मानते वह सिद्ध होती हैं एक यह की वायु की शुद्धता व वृष्टि के कारण होने से अधिक पुत्र की उत्पत्ति आदि फल विशेष भी पुत्रेष्टि आदि यज्ञ विशेषों से प्राप्त होने हैं जैसा कि शृङ्गीऋषि वसिष्ठ मुनि आदि महा विद्वान वेदज्ञ महात्माओं की सम्मति से पुत्रेष्टि यज्ञ करने से श्रीदशरथ महाराज के पुत्र उत्पन्न हुये। दूसरे यह की जो मन्त्र उक्त यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं जिनसे यज्ञ कराई जाती है वेही इस फल प्राप्त के हेतु हैं अर्थात् उनहीं के द्वारा फल प्राप्त होना है इससे यह कहना कि मन्त्र किसी पदार्थ या फल का जनक नहीं है वो नहीं होता मन्तव्य नहीं है। पण्डित आर्यमुनि जी ने मन्त्र शब्द का अर्थ ही अपने अनुवाद में छोड दिया है "अथर्व शिरसि प्रोक्ते मन्त्रे सिद्धां विधानतः" इसका अर्थ यह किया है अथर्ववेद में विधान की हुई पुत्रेष्टि यज्ञ को हम करावेंगे क्योंकि वह हमको सिद्ध है अर्थात् उसको हम भले प्रकार जानते हैं॥

अब यह सत्पुरुष समझ सकते हैं कि यह अनुवाद यथार्थ है कि अपनी इच्छा अनुसार कथन और आग्रहमात्र है—

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा॥

अर्थ—इसके अनन्तर महा तेजस्वी ऋषि ने पुत्र की इच्छा से पुत्रेष्टि यज्ञ का प्रारम्भ किया जैसा कि वेद में उक्त इष्टि का विधान है ऐसा अर्थ इस श्लोक का लिखकर बीच के श्लोकों को जिनमें अपने मत के विरुद्ध कुछ आशय होना विदित हुआ है छोड दिया है यज्ञ को विधि पूर्वक अमुक अमुक ऋषियों ने कराया यज्ञ के समाप्त होने पर यज्ञशेष-खीर कौशिल्या सुमित्रा और कैकेयी को दी और उन्होंने विभाग पूर्वक खाई फिर वेद मन्त्रों द्वारा ऋषियों ने अशीर्वाद दिया। आशीर्वाद के अनन्तर राजा ने उन ब्राह्मणों को गो और सुवर्ण आदि विविध प्रकार की दक्षिणा दे प्रसन्न कर सन्मान पूर्वक विदा किया। फिर शृङ्गीऋषि नाना भांति पूजित हो अपनी कुटी पर गये जो अङ्ग देश के राजा रोमपाद के राज्य में थी और राजा दशरथ स्वयं उनको पहुंचाने के लिये पीछे पीछे गये इस प्रकार सब को विदा कर राजपुत्र जन्म की चिन्तना करने लगे इतना वृत्तान्त बिना किसी श्लोक के लिखकर आगे राम के जन्म होने का श्लोक लिख कर फिर प्रति श्लोक के अनुवाद को लिखा है। यह यथार्थ ग्रन्थ का अनुवाद नहीं है मूल के सम्बन्ध से रहित यथेष्ट वर्णन युक्त होने से अनुवादाभास (अनुवाद नहीं परन्तु अनुवाद ऐसा भ्रात होने वाला) कहने योग्य है क्योंकि जो यह प्रश्न किया जाय कि इतना अर्थ जिन श्लोकों को लिखा गया है यदि उनका

यही अर्थ यथार्थ है तो उनके न लिखने का कोई कारण नहीं हो सकता यदि इस अर्थ से जो लिखा गया है ये श्लोक अन्य अर्थ के वर्णन करने वाले हैं तो लिखा हुआ अर्थ उनका अनुवाद नहीं हो सकता । कुछ अंश उनका ग्रहण और कुछ त्याग कर इच्छा अनुसार ही लिखना सिद्ध होता है यदि प्रक्षिप्त मान कर छोड़ दिये गये माने जावें तो प्रक्षिप्त होने के हेतु पर्य्याप्त होना चाहिये तब प्रक्षिप्त होना स्वीकृत हो सकता है अन्यथा नहीं । इसके सिवाय जो प्रक्षिप्त होने से त्याग किये गये उनका अनुवाद ही नहीं हो सकता क्योंकि उनका अनुवाद करना व्यर्थ है जो स्वीकृत हैं उनहीं का अनुवाद करना चाहिये जितना अर्थ लिखा है वह यथार्थ माने हुये श्लोकों का हो सकता है फिर उनके न लिखने का हेतु क्या है वह सिवाय इसके कि कोई श्लोक जो प्रक्षिप्त सिद्ध नहीं हो सकते मूल ही प्रतीत होते हैं वे भी इस हेतु से कि लिखने से श्लोकों के पदों के अर्थ के अनुकूल अनुवाद करना पड़ेगा और वह अपने मत के विरुद्ध पड़ेगा नहीं लिखे गये और कुछ अनुमान नहीं किया जा सकता और श्लोकों के देखने से यही निश्चित होता है। अन्य दृष्टान्त मूल के पदों को छोड कर और पदों का अर्थ यथेष्ट करने का यह है कि वाल्मीकि जी से प्रथम नारद ऋषि ने श्री रामचन्द्र जी के उत्तम गुणों को वर्णन करके संक्षेप से महाराज रामचन्द्र जी के चरित्रों को वर्णन किया है उस वर्णन करने में समुद्र के तीर जब श्री रामचन्द्र सेना समेत पहुचे हैं और समुद्र को तेजवान बाण से क्षोभित किया है तब समुद्र अर्थात् समुद्र में रहने वाला समुद्र अभिमानी देवता प्रकट होकर अपने पार जाने और पुल बनाये जाने का उपाय बताया है तब उसके अनुसार समुद्र में पुल बनाया गया इसके वर्णन में ये श्लोक हैं

ततः सुग्रीवसहितोगत्वातीरं महोदधेः समुद्रंक्षोभयामासशरै-रादित्यसन्निभैः । दर्शयामासचात्मानंसमुद्रः सरितांपतिः समुद्रवचनाच्चैवनलं सेतुमकारयत ॥

अर्थ—इसके अनन्तर सुग्रीव सहित राम समुद्र के तट पर पहुचकर सूर्य के समान बाणों से समुद्र को कम्पायमान अर्थात् भयभीत कर दिया । नदियों के पति समुद्र ने अपने स्वरूप को दिखाया समुद्र के कहने के अनुसार नल से सेतु को बधाया ।

शब्दार्थ तो ऐसा है परन्तु आर्य्य मुनि जी ने इनका अर्थ और आशय इस प्रकार से वर्णन किया है कि नदियों के पति समुद्र उनके प्रति अपने आप सब दिखला दिया अर्थात समुद्र की गहराई आदि सब उन्होंने जानली फिर समुद्र के वचन अनुसार नल से पुल बधवाया । और चिन्ह बनाकर पृष्ठ के नीचे यह अधिक व्याख्यान लिखा है कि राम ने तीरों द्वारा समुद्र की गहराई आदि भीतरी दशा को भले प्रकार जाचा और निश्चय किया कि पुल बंधाना चाहिये

और यही समुद्र का उनके प्रति कहना तथा अपने आप को दिखलाना है समुद्र का। यह कथन अलङ्कार से जानना चाहिये क्योंकि जड़ समुद्र में भाषण शक्ति नहीं हो सकती।

बुद्धिमान विचारशील विचार कर सकते हैं कि इस अर्थ व व्याख्यान की मूल के साथ कुछ भी सगति नहीं हो सकती। यदि रामचन्द्र जी ने तीरों के द्वारा अपनी बुद्धि से समुद्र की गहराई की जाच की तो राम की बुद्धि गहराई के ज्ञान की कारण और राम ज्ञाता होने से समुद्र की कुछ सहायता भी सिद्ध न हुई इस से समुद्र का कहना अलङ्कार से भी मन्तव्य नहीं हो सकता जैसे तर्क से जड़ समुद्र का भाषण नहीं हो सकता ऐसे ही तीर से अति गहरे समुद्र का जाचना मानने योग्य नहीं अलङ्कार भी सहेतुक होता है बिना सम्बन्ध और किसी हेतु के सब वर्णन जहां इच्छा हो वहा अलङ्कार समझ लेवे ऐसा मन्तव्य नहीं हो सकता कहने वाले के कथन मात्र से अलङ्कार नहीं हो सकता। पूर्व श्लोक व पर श्लाक में जब साधारण वर्णन है तो एक बीच के श्लोक में अलङ्कार मानने का कोई कारण विदित नहीं होता। जैसे जड़ समुद्र में भाषण शक्ति नहीं है ऐसे ही अपनी इच्छा से अपने को आप ही दिखला नहीं सकता फिर समुद्र ने उनके प्रति अपना आप सब दिखला दिया ऐसा कहने का यह आशय कि रामचन्द जी ने उसकी गहराई आदि को जाच लिया कैसे ग्रहण किया जाता है समझ में नहीं आता अर्थात् यह ज्ञात नहीं होता कि समुद्र ने अपना आप सब क्या दिखलाया जिससे समुद्र की गहराई आदि को राम ने जान ली ऐसा वर्णन निरर्थक ही प्रतीत होता है।

यथार्थ अर्थ यह है समुद्र जलमय तो जड़ है यह सत्य है परन्तु जैसे पृथिवी जड़ होने से पृथिवीपति जड़ नहीं होता ऐसेही सब लोकों और लोकान्तर्गत देशों के अधिपति अथवा अभिमानी देवता हैं वे जड़ नहीं हैं जैसे जल के अधिपति वरुण देवता माने जाते हैं और जल शरीर अभिमानी देवता भी माना जाता है जब अपनी दैवी शक्ति और दिव्य सूर्यवत् तेज युक्त बाणों से श्री महाराज रामचन्द्र जी समुद्र को सोखने लगे तब समुद्र में रहनेवाला समुद्र का अध्यक्ष समुद्र अभिमानी देवता जो समुद्रही नाम से वाच्य होता है वह व्याकुल हो मनुष्य शरीर अथवा कोई अन्य व्यक्ति विशेष धारण कर श्रीरामचन्द्र जी के पास प्राप्त हुआ और नल जो शिल्प विद्या के अधिकारी थे उनके द्वारा सेतु बधाने की सम्मति दी उस समुद्र के वचन अनुसार श्रीरामचन्द्र जी ने नल से सेतु बधाया है।

यथार्थ आशय को न समझकर केवल इतनाही समझ कर "कि जड़ भाषण नहीं कर सकता जो अलङ्कृत अर्थ को आर्यसमाज के उक्त पण्डित महाशय वर्णन करते हैं उनको कोई बुद्धिमान स्वीकार नहीं कर सकता। इसका प्रमाण कि जहां जड़ जल आदि का चेतन के समान कहने व क्रिया करने का वर्णन है

यहां यह व्यवहार उनके अभिमानी देवताओं का समझना चाहिये वेदान्त सूत्र से निश्चित होता है । जहां ऐसा वर्णन है—

आपोऽब्रुवन । ताआपऐक्षन्त । तेहेमेप्राणाअहंश्रेयसेविवदमानाब्रह्माणं जग्मुः ॥

अर्थ—जलों ने कहा । उन जलों ने इच्छा की । वे प्राण यह विवाद करते हुये कि मैं कल्याण के लिये हू ब्रह्मा के पास गये इत्यादि वाक्यों में जड़ों का चेतन के समान वर्णन होने में संशय निवृत्ति होने के लिये व्यास जी ने यह समाधान वर्णन किया है ।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥

वेदान्त अ० २ पा० १० ५ ॥

अर्थ—यह तो विशेष और अनुगति से अभिमानियों का कथन है ।

भाष्य—जलों ने कहा इत्यादि जडों का चेतन के समान वर्णन है यह तो जल आदि के अभिमानी देवताओं का कथन है अर्थात् अभिमानी देवताओं के लिये कहने व वाद करने आदि का कथन है जल आदि का कथन नहीं है इससे भूत व इन्द्रियों को चेतन कहने की शङ्का न करना चाहिये । किस हेतु से अभिमानी देवताओं का कथन होना सिद्ध होता है विशेष व अनुगति से । विशेष यह है कि छान्दोग्य में पृथिवी आदि देवता शब्द विशेष से कहे गये हैं यथा—

हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवताः ।

अर्थ—(हन्त अह) अब मैं (इमा तिस्र देवता) इन तीन देवता रूप अर्थात् तेज जल पृथिवी देवता रूप इत्यादि वर्णन से तथा कौपीतकि शाखावाले प्राण सम्वाद में इन्द्रियों के कारण मात्र होने की शङ्का निवृत्त करने के लिये चेतन अधिष्ठाता वा अभिमानी देवताओं के ग्रहण का आशय जानने के लिये देवता शब्द से विशेषण किया है यथा (कौ० २।१४)

सर्वाहवैदेवताअहश्रेयसेविवदमानाः । तावा एताः सर्वा देवता. प्राणे निश्रेयसंविदित्वा इत्यादि ।

अर्थ—निश्चय से सब देवता अर्थात् सब इन्द्रियों में कल्याण के लिये हू अथवा में श्रेष्ठ हू वाद करते हुये इत्यादि (ता वा एता सर्वा देवता) वे ये सब देवता अर्थात् इन्द्रिया (प्राणे नि श्रेयस विदित्वा) प्राण में कल्याण को जानकर इत्यादि और अनुगति से अर्थात् अनुप्रवेश कहने से अथवा अनुशब्द का अर्थ समान होने का ग्रहण करने से यह अर्थ ग्राह्य है कि मन्त्रार्थ वेद व इतिहास में समान गति वर्णन से अथवा चेतन के समान गति (प्रवेश) वर्णन से चेतन अभिमानी देवताओं के प्रमाण होने की उपलब्धि होने से अभिमानी देव-

ताओं को पृथिवी आदि नाम से कहना सिद्ध होता है। अनुगति अर्थात् अनुप्रवेश(समान प्रवेश या गति) के प्रमाण में यह श्रुति वाक्य है।

अग्निर्वाग्भूत्वामुखंप्राविशत। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणि प्राविशत। वायुः प्राणोभूत्वानासिकेप्राविशत्।

अर्थ—अग्नि वाक् (वाणी) होकर मुख में प्रवेश किया। सूर्य नेत्र इन्द्रिय होकर दो नेत्र गोलकों में प्रवेश किया। वायु प्राण होकर दोनों नासिका में प्रवेश किया इत्यादि इस प्रकार से बोलन ईक्षा करने वाद करने चेतन के समान प्रवेश करने के वर्णन से हम मनुष्य चेतन प्राण धारियों के समान व्यवहार ज्ञान व कर्म होने से चेतन अभिमानी देवताओं क वर्णन का निश्चय होता है इससे अचेतन को चेतन नहीं कहा। इस प्रकार से जल आदि के अभिमानी देवता चेतन जल आदि नाम से वाच्य होने के समान समुद्र अभिमानी देवता को ऐसा वर्णन किया कि अपने आत्मा को अर्थात् शरीर नास्वरूप को प्रकट किया और जैसा समुद्र न कहा उस प्रकार से नल से श्री महाराज रामचन्द्र जी ने सेतु को कराया अर्थात् बंधाया। वाल्मीकि जी के पास ब्रह्मा जी के आगमन के वर्णन में यह श्लोक है।

आजगामततोब्रह्मालोककर्ता स्वयंप्रभुः चतुर्मुखोमहातेजो द्रष्टुं तंमुनिपुंगवम्। ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने उपविष्टे तदातस्मिन्साक्षाल्लोकपितामहे॥

पण्डित आर्य मुनिजी कृत अर्थ—इसी अवसर में चतुर्मुख चारों वेद का ज्ञाता सर्व लोगोंकी धर्म मर्य्यादा का स्थापन करने वाला, तेजस्वी स्वतन्त्र प्रतापशाली ब्रह्मानाम के ऋषि वाल्मीकि के आश्रम में आये। ब्रह्मा की आज्ञा पाकर वह भी अपने आसन पर स्थित हुये॥

इस अनुवाद में ब्रह्मा को चार वेद को जाननेवाला ऋषि और लोक कर्ता शब्द का अर्थ जो लोक या लोकों का करने वाला अर्थात् उत्पन्न करनेवाला होता है उसके स्थान में सब लोगोंका धर्ममर्य्यादा स्थापन करने वाला स्वयं प्रभु का अर्थ स्वतन्त्र प्रतापशाली लिखा है और दूसरे श्लोक में जो साक्षात् लोकपिता मह शब्द है इसका अर्थ छोड़कर आगे यह अनुवाद किया है कि उसी क्रौंचपक्षी की मृत्यु का चिन्तन करते हुये कहने लगे इत्यादि अनुवाद करने वाले को यह उचित नहीं है कि मूलके शब्दों का अर्थ ग्रन्थकर्ता के आशय से विरुद्ध करे कुछ शब्दों का अर्थ छोड़देवे कुछ अपनी इच्छा से मिला देवे ऐसा करने में जो लोग अनुवाद क यथार्थ होने का विश्वास करते ह मूल ग्रंथ की भाषा को नहीं जानते उनको धोखा देना है सत्य धर्म के विरुद्ध है अनुवाद करनेवाले को इतना अधिकार हो सकता है कि अनुवाद से पृथक् किसी विषय म जो

अपनी सम्मति के अनुकूल वा प्रतिकूल हो उसको हेतु व प्रमाण सहित वर्णन कर देवें ॥

विचारने से यह निश्चित होता है कि ऐसा अनुवाद श्री स्वामी दयानन्द जी की सम्मति से भी विरुद्ध होना मन्तव्य है क्योंकि वाल्मीकि रामायण और महाभारत को स्वामी जीने ऋषिप्रणीत और मन्तव्य माना है परन्तु प्रक्षित अंश को छोड़कर । ऐसा अनुमान से ग्राह्य नहीं होता कि विना किसी हेतु विशेष निश्चित हुये यह मान लिया जाय कि वाल्मीकि जीक बनाये हुये श्लोक में से कोई अन्य शब्द निकाल कर उनके स्थान में लोक कर्ता साक्षात लोक पितामह ये शब्द किसी ने मिला दिया है इसके सिवाय जब अनुवाद करने के लिये जो श्लोक ग्रंथ में लिखा गया उसका यथार्थ होना मानलिया गया यदि प्रक्षिप्त माना जाता तो लिखा ही क्यों जाता जब यथार्थ मानकर लिखा तब उसका अनुवाद मूल वाक्य के शब्दों के अनुसार अन्वय करना चाहिये अन्यथा करना अनुचित है । विचार करने से विदित होता है कि किसी अन्य ऋषि के विशेषण में लोक कर्ता स्वय प्रभु लोक पितामह ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता इस से ब्रह्मा कोई ऋषियों से विशेष उत्कृष्ट पद को प्राप्त जिसको लोकों की रचना करने का सामर्थ्य प्राप्त है और स्वय समर्थ लोकों का स्वामी पुरुष विशेष हैं। इसीसे वाल्मीकि रामायण में उनको लोक कर्ता स्वयं प्रभु शब्द से विशेषण किया है (शङ्का) सिवाय परमात्मा ब्रह्म के कोई अन्य सृष्टि व लोक कर्ता व स्वय प्रभु नहीं हो सकता इससे ऐसा मन्तव्य नहीं हो सकता (समाधान) यह सत्य है कि सब सृष्टि का कर्ता स्वय प्रभु परमात्मा है परन्तु उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान उपासन व तप से ब्रह्म के अनुग्रह विशेष से ब्रह्म के अति साधर्म्य को प्राप्त मुक्तात्मा सिद्ध पुरुष परमात्मा से भिन्न अन्य सामर्थ्यवानों की अपेक्षा परम सामर्थ्य को प्राप्त होते हैं वह अपने सकल्प मात्र से पदार्थों को उत्पन्न कर सकते हैं वाल्मीकि रामायण व महाभारत में वाल्मीकि जी व व्यास जी ऋषियों के लेख से यह ज्ञात होता है कि परमात्मा आदि सृष्टि में किसी मुक्तात्मा वा सिद्ध पुरुष विशेष जिसको भौतिक सृष्टि रचने का सामर्थ्य प्राप्त होता है उत्पन्न करता है वह भौतिक सृष्टि की रचना करता है सृष्टि की वृद्धि करने वाला होने से वह ब्रह्मा नाम से वाच्य होता है परमात्मा अनन्त शक्तिमान की सृष्टि में अनेक ब्रह्माण्ड हैं जैसे एक ब्रह्माण्ड में अन्य सब प्रकाश्य लोक लोकान्तरों का प्रकाशक एक सूर्य है ऐसा ही एक ब्रह्माण्ड में उक्त गुण व सामर्थ्यवान् एक ब्रह्मा है ब्रह्मा आदि का उत्पन्न करनेवाला परमात्मा ब्रह्म है अनेक ब्रह्माण्डों का होना और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक सूर्य का होना स्वामी जी ने भी सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास के अन्त में लिखा है । मुक्तात्माओं को ब्रह्म के समान धर्म प्राप्त होने में यह उपनिषद् वाक्य प्रमाण है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् तदा

विद्वान् पुण्यपापे विधूयनिरञ्जनः परमंसाम्यमुपैति ॥ ३ ॥

मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३ खण्ड १ मन्त्र ३।

अर्थ—(यदा पश्य) जब देखने वाला (रुक्मवर्णं) प्रकाश स्वरूप (योनिम्) सब के कारण (कर्तारं ईशं ब्रह्मपुरुषं) कर्ता ईश अर्थात् ऐश्वर्यवान् समर्थ ब्रह्मपुरुष को (पश्यति) देखता है अर्थात समाधिस्थ हो ज्ञान से प्रत्यक्ष करता है (तदा) तब (निरञ्जन विद्वान्) माया व अज्ञान रहित विद्वान् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी (पुण्य पापे विधूय) पुण्य व पाप से रहित हो (परम साम्य उपैति) ब्रह्म की अति समता को प्राप्त होता है ॥

इस मन्त्र में अति समता कहने से ब्रह्म से व मुक्त पुरुष से कुछ भेद न रहना ज्ञात होता है और छान्दोग्य में कहा है।

सयदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति

अर्थ—वह ब्रह्म को प्राप्त मुक्त पुरुष जो पितृ लोक की इच्छा करता है तो इसके सङ्कल्प ही से पितर उत्पन्न होते हैं इत्यादि इसी प्रकार से आगे जिस जिस पदार्थ को वह सङ्कल्प करता है सङ्कल्प करतेही वह पदार्थ प्रकट होजाता है इससे उसका सत्यसङ्कल्प होना भी सिद्ध होता है और श्रुति में यह भी कहा है **स स्वराड्भवति**

अर्थ—वह मुक्त आपही ऐश्वर्यवान् राजा होता है ॥

इस प्रकार से ब्रह्म के साथ परम समता सत्य सङ्कल्प आपही ऐश्वर्यवान् स्वतन्त्र कहे जाने से मुक्तात्मा व ब्रह्म में भेद न रहना सिद्ध होता है इस संशय निवृत्त होने और निर्णय के लिये व्यास जी ने वेदान्त में यह वर्णन किया है।

जगद्व्यापार वर्ज्जंप्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥

वेदान्त अ० ४ पा० ४ सू० १७।

अर्थ—जगत् व्यापार को छोड कर प्रकरण से व सन्निहित न होने से ॥१७॥

जगत् के व्यापार को छोडकर अर्थात् जगत् की आदि सृष्टि तथा प्रलय व स्थिति को छोड कर अन्य सब भोग्य भौतिक पदार्थों के उत्पन्न करनेमें मुक्तात्मा सत्य सङ्कल्प व सामर्थ्यवान् होते हैं अर्थात् सृष्टि समय में प्रकृति से महत्तत्व महत्तत्व से अहङ्कार अहङ्कार से शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पञ्चतन्मात्रा पञ्च तन्मात्रा से पांच ज्ञान इन्द्रिय व पांच कर्मेन्द्रिय और एक अन्त करण मन और पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत उत्पन्न होते हैं महत्तत्व अहङ्कार आदि से पांच भूतों तक के उत्पन्न करने का सामर्थ्य केवल परमात्मा ही को होता है मुक्तात्माओं को इनके उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता यह कैसे निश्चित होता है प्रकरण से सन्निहित न होने से अर्थात् जगत् की उत्पत्ति वर्णन करने के प्रकरण में परब्रह्म ही से उत्पत्ति आदि (उत्पत्ति स्थिति प्रलय) का वर्णन है यथा

तदैक्षत् बहुस्यांप्रजायेयतत्तेजोऽसृजत । सईक्षत लोकान्नुसृजा।

इति स इमांल्लोकानसृजत ॥

अर्थ—उसने ईक्षा किया कि मैं बहुत होऊं उत्पन्न होऊं उसने तेज को उत्पन्न किया। उसने इच्छा किया लोकों को उत्पन्न करूं उसने इन लोकों को उत्पन्न किया। मुक्तात्मा व प्रकृति के कार्य भी सिपाहियों से प्राप्त हुआ जय राजा ही का जय वाच्य होने के समान ब्रह्म ही के कार्य वाच्य होते हैं परन्तु सृष्टि वर्णन प्रकरण में मुक्तों के वर्णन से सन्निहित (मिला हुआ) न होने से मुक्तों के सम्बन्ध से रहित है अर्थात् सृष्टि प्रकरण में ब्रह्म ही से सृष्टि होने का वर्णन है इससे और सृष्टि प्रकरण से मुक्तात्माओं का वर्णन मिला हुआ भी नहीं है जिससे मुक्तों के साथ भी सृष्टि उत्पत्ति का सम्बन्ध समझा जावे सन्नि हित (मिला हुआ) न होने से अर्थात् प्रकरण से भिन्न होने से भी सृष्टि की उत्पत्ति का सम्बन्ध मुक्तात्माओं के साथ नहीं है इससे महातत्त्व आदि व भूत सृष्टि केवल परमात्मा ही करता है और इनकी स्थिति और इनका प्रलय भी ब्रह्म ही के अधीन है इससे यह कहा है कि जगत् के व्यापार को छोड़ कर अन्य सामर्थ्य मुक्तात्माओं व सिद्धों को होता है परन्तु भौतिक सृष्टि अर्थात् पृथिवी आदि भूतों के मेल से जो शरीर वृक्ष आदि की सृष्टि होती है उनको मुक्तात्मा व सिद्ध पुरुष कर सकते हैं इससे ब्रह्मा को लोककर्ता शब्द से कहा है तथा दूसरा हेतु यह समझना चाहिये कि ब्रह्म के साधर्म्य या समता होने के हेतु से जैसे शौर्य साधर्म्य मात्र से सिंहोऽयं पुरुषः अर्थ-यह पुरुष सिंह है ऐसा उप चार से कहा जाता है ऐसे ही ब्रह्म के समान धर्म होने से अर्थात् ब्रह्म के समान संकल्प मात्र से भौतिक कार्य पदार्थों के उत्पन्न करने ब्रह्म के समान आनन्द भोग करने कामचार होने से उपचार से ब्रह्म के समान स्वयम्भु स्वयभु लोककर्ता लोकनाथ शब्दों का प्रयोग ब्रह्मा विष्णु व शिव इन उत्कृष्ट देव ताओं में किया जाता है ब्रह्म में ब्रह्म के धर्मों का प्रयोग मुख्य अर्थ से और ब्रह्मा आदि में उपचार व लक्षण से किया जाता है।

इससे अनुवाद कर्ता का बिना तत्त्व के समझे किसी शब्द को छोड़कर किसी शब्द का साधारण अर्थ त्यागकर अपनी ऊहा से अन्य अर्थ के स्थान में अन्य अर्थ को लिखना अनुचित ग्रन्थकर्ता के आशय से विरुद्ध और अनुवाद दूषित करने वाला है।

भरत, लक्ष्मण व शत्रुघ्न जी के जन्म वर्णन में वाल्मीकि रामायण में यह श्लोक है—

> पुष्पेजातस्तुभरतोमीनलग्नेप्रसन्नधीः ।
> सार्पेजातौतुसौमित्रीकुलीरेऽभ्युदितेरवौ ॥

आर्यमुनि का अर्थ—पुष्य नक्षत्र मीन लग्न में निर्मल बुद्धिवाला भरत उत्पन्न हुआ और अश्लेषा नक्षत्र कर्क लग्न में सूर्य के उदय होते समय सुमित्रा के दोनों पुत्र ...

विना यथार्थ विचार कि ये अभ्युदित शब्द का साधारण अर्थ उदय हुये का समझ कर यह लिख दिया है कि अश्लेषा नक्षत्र कर्क लग्नमें सूर्य उदय होते हुये सुमित्रा के दोनों पुत्र उत्पन्न हुये वाल्मीकि जी ने कहीं कहीं गूढार्थ वाचक शब्द रखदिया है जिनका तत्वार्थ विचार से विदित होता है ऐसाही अभ्युदित शब्द है क्योंकि अल्पज्ञ पण्डित भी ज्योतिष के जानने वाले यह जानते हैं कि चैत्र के महीने में मीन लग्न में सूर्य का उदय होना है चैत्र में सूर्य के उदय होने समय में कर्क लग्न का होना असम्भव है इससे ऐसा अर्थ अयुक्त होने से मन्तव्य नहीं है चैत्र में शुक्ल पक्ष में नवमी को मध्यान्ह में कर्क लग्न में श्री महाराज रामचन्द्र जी का जन्म हुआ है दूसरे दिन सूर्योदय समय में मीन लग्न में दशमी को भरतजी उत्पन्न हुये हैं एकादशी को मध्यान्ह समय में कर्क लग्न में लक्ष्मण व शत्रुघ्न दो पुत्र सुमित्रा के उत्पन्न हुये हैं मध्यान्ह में कर्क लग्न का होना यथार्थ है अभ्युदित शब्द का अर्थ इस प्रकार से मध्यान्ह में प्राप्त का ग्राह्य है अभि सर्वत. उद्‌तिशयेनेतोगतो प्राप्त अभ्युदित (उन्नतिप्राप्त) तस्मिन्नभ्युदित मध्यान्हगते प्राप्ते रव मित्यर्थ । सूर्योदया मध्यान्हपर्यन्त सूर्यतजस उन्नतिर्जा यते तत उत्तरे तेजसो ह्रास्यमाणत्वं तस्मात्पूर्णप्रकाशोन्नतिप्राप्तिसमयमध्यान्ह गत अभ्युदित तस्मिन्नभ्युदिते रवौ कुलीरे कर्क लग्ने सौमित्री सुमित्राया द्वौ पुत्रौ जातावुत्पन्नावित्यर्थ इस व्याख्यान का साराश यह है कि जब दोपहर के समय में सूर्य प्राप्त हुये तब कर्क लग्न में सुमित्रा के दो पुत्र उत्पन्न हुये ॥

पण्डित जी कृत अर्थ सूर्य के उदय होते कर्क लग्न का यथार्थ नहीं है यह दो काण्ड के थोडे अनुवाद में अयुक्त होने के हेतुओं को उदाहरणमात्र के लिये वर्णन करदिया है ऐसाही ग्रन्थ के सब अनुवाद में समझ लेना चाहिये ।

पण्डित स्वामी हरप्रसाद जी ने जो वैशेषिक सूत्र वैदिक वृत्ति बनाया है उसमें अन्य सब सूत्रों की वृत्ति उत्तम लिखा है परन्तु छठव अध्याय के प्रथम आन्हिक के सूत्र १४ से १६ तक तीन सूत्रों का अर्थ वृत्ति में जो क्षात्र धर्म वर्णन में युद्ध करके हीन के वध करने आदिका किया है और त्याग शब्द का अर्थ वध करने का रक्खा है वह उत्तम नहीं है और पण्डित आर्यमुनि जी भी अपने वैशेषिक आर्यभाष्य में उक्त सूत्रों के अर्थ और व्याख्यान में पण्डित हरिप्रसाद जी के अनुगामी हुये है ॥

उक्त सूत्रों के अर्थ और व्याख्यान के उत्तम न होने के हेतु यह है कि कोई सम्बन्ध क्षात्र धर्म वा युद्ध का पूर्व से नहीं है। सिवाय इसके बिना युद्ध के यदि क्षत्रिय से भिन्न ब्राह्मण आदि किसी वर्ण के धर्मवान को कोई दुराचारी दुष्टात्मा भय व दबाव व लोभ देकाकर उससे अधर्म कराया चाहे तो उसको यह कर्तव्य नहीं हो सकता इससे सामान्यत धर्म के वर्णन में सब वर्णों के धर्मवानों को कर्तव्य है यही अर्थ ग्राह्य है। अन्य वर्णों के भी धर्म का वर्णन होता तो क्रम से क्षात्रधर्म का भी वर्णन मन्तव्य होता परन्तु वर्ण धर्म वर्णं का क्रम अथवा क्षात्र धर्म व युद्ध का कुछ सम्बन्ध नहीं

है। समान्यत धर्म वर्णन करने में यथार्थ आशय यह है कि प्रथम धर्माचरण व धार्मिकों के स्वीकार करने को वर्णन किया है फिर यह कहा है—

तथा विरुद्धानांत्यागः ॥ १३ ॥

अर्थ वैसाही विरुद्धों का त्याग है ॥ १३ ॥

आशय यह है कि जैसे धर्म कर्मों का अथवा धार्मिकों के सत्सङ्ग का स्वीकार करना उचित है वैसेही उसके विरुद्धों का अर्थात् अधर्म कर्मों का अथवा अधार्मिक अधर्म में प्रवृत्ति करनेवालों का त्याग उचित है अब इनहीं विरुद्धों के त्याग करने का विवरण अगले सूत्रों में वर्णन करते हैंकिस प्रकार से धर्म विरुद्धों का त्याग करना चाहिये।

हीनेपरेत्यागः ॥ १४ ॥ अर्थ-हीन में पर में त्याग है ॥

समआत्मत्यागः परत्यागोवा ॥ १५ ॥

अर्थ-बराबर में अपना त्याग अथवा पर का त्याग होना उचित है ॥

विशिष्टे आत्मत्यागः* ॥ १६ ॥

अर्थ—विशिष्ट में अपना त्याग प्राप्त करना अथवा शरीर त्याग करना उचित है ॥ १६ ॥

संक्षेप से इन तीनों सूत्रों का आशय यह है कि जो किसी धार्मिक को किसी कारण से किसी अधार्मिक के साथ सङ्ग्रह हो जाय तो क्या करना चाहिये यह विज्ञापन व उपदेश के लिये यह वर्णन किया है कि हीन में पर में त्याग है अर्थात् त्याग उचित है अर्थात् विशिष्ट समर्थ धार्मिक से पर के हीन होने में उस हीन का त्याग उचित है अर्थात् उसके सङ्ग्रह रखने से धार्मिक में दोष होना और उसके हृदय में अधर्म की बुद्धि उत्पन्न होना सम्भव होने से धार्मिक को उसका त्याग ही करना उचित है ॥१४॥

दुष्ट अपने समान सामर्थ्यवाला होने में किसी प्रकार से उससे आत्मत्याग (अपनात्याग) प्राप्त करने वा कराने योग्य है अथवा किसी प्रयत्न से प्राप्त हुये सामर्थ्य से पर का अर्थात् अपने से विरुद्ध अधार्मिक का त्याग करना चाहिये उसका सङ्ग्रह रखने योग्य नहीं है ॥१५॥

दुष्ट के विशिष्ट (प्रबल) होने में उस से भिन्न होने और उसके त्याग करने में अपनी शक्ति न होवे तो किसी प्रयत्न से अपने में उदासीनता वा वैमनस्य उत्पन्न कराके उससे अपना त्याग प्राप्त कराने योग्य है अथवा सर्वोत्तम इस लोक वा परलोक के सुख व सुगति के हेतु रूप धर्म की रक्षा के लिये आत्म त्याग (शरीरत्याग) करना उचित है। परन्तु निषिद्ध कर्म में प्रवृत्ति स्वीकार

---

* विशिष्टे सन्ति दुष्टे यन कन प्रयत्नेन स्वस्मिन्नुपेक्षा वैमनस्य वोत्पाद्यतेनात्मत्याग आत्मनस्त्याग स्वस्यत्याग प्रापयितव्य यद्वा धर्मसंरक्षणायात्मन शरीरस्यत्यागोमरणमुचित नहि, निषिद्धकर्मसु प्रवृत्ति स्वीकार्या इति विशिष्ट आत्मत्याग इत्यस्यसूत्रस्याशय।

करना उचित नहीं है ऐसा इन सूत्रों का व्याख्यान यथार्थ समझना चाहिये अब पक्षपात त्याग कर सुहृद भाव से वर्तने के लिये निवेदन यह है कि आर्य-समाजियों और पौराणिकों को यह समझना चाहिये कि स्वामी दयानन्द जी ने जिन ग्रन्थों को मन्तव्य और ऋषिप्रणीत होना स्वीकार किया है और कहीं कहीं अपने लेख में उनके वाक्यों को प्रमाण में भी लिखा है यथा गीता महाभारत मनुस्मृति आदि उनमें जो असम्भव और निश्चय जनक हेतु और अनुमान से प्रक्षिप्त निश्चित हों उतने अंश मात्र को प्रक्षिप्त समझना चाहिये। सामान्यतः स्वामी जी ने देवताओं को ईश्वर के समान उपास्य मानने का खण्डन किया है सर्वथा उनके होने व मानने के प्रतिषेध करने का यथार्थ आशय स्वामी का नहीं था क्योंकि संस्कार विधि नामक ग्रंथ जिसको स्वामी जी ने अपने शरीर त्याग से आठ ८ वर्ष पहिले निर्मित किया था और आपही ने द्वितीय वार संशोधन करके फिर छपवाया है उसमें नाम करण संस्कार विधि में यह लिखा है कि जिस तिथि नक्षत्रमें बालकका जन्म हुआ हो उस तिथि व तिथिके देवता नक्षत्र और नक्षत्र के देवताका नाम लेकर उनके लिये चार चार आहुति देना चाहिये और सब तिथियों नक्षत्रों और उनके देवताओं के पृथक २ नाम जैसा टिप्पणी में निम्न भाग में यहां लिख दिया है * स्वामी जीने संस्कार विधि में लिखा है। इस संस्कार विधि की व्याख्या व टीका संस्कार चन्द्रिका पण्डित भीमसेन आगरा निवासी ने किया है उन्होंने उसमें देवता शब्द का कोई अन्य अर्थ होना और कोई अन्य आशय होने का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु यह पुष्टि किया है कि स्वामी जी ने यह गोभिलीय गृह्यसूत्र ५०१ काड ८ सूत्र १० के प्रमाण से लिखा है। यदि स्वामीजी देवताओं को न मानते तो ऐसा न लिखते। इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर आर्य्य समाजी महाशयों से उपलब्ध नहीं हुआ कोई यह उत्तर देते हैं कि तिथि और नक्षत्रों के देवताओं के जो नाम हैं वे सब परमेश्वर के नाम हैं यह उत्तर इस हेतु से यथार्थ नहीं है कि जब अन्य का लेख नहीं है स्वयं स्वामी जी ने लिखा है तब जो परमेश्वर ही के नाम कहने का आशय था तो जितनी तिथियां हैं उनके साथ उतने परमेश्वर के नाम और २७ नक्षत्रों के साथ २७ परमेश्वर के नाम लेकर आहुतियाँ देवे ऐसा लिखना था तिथि और नक्षत्र के देवताओं को आहुति देवे ऐसा क्यों लिखा है इस से स्वामी जी के लेख में यह उत्तरयुक्त नहीं हो सकता अन्य के लेख में हो सकता था और इस हेतु से

---

* तिथि देवता-१-ब्रह्मन २ त्वष्ट ३ विष्णु ४ यम ५ सोम ६ कुमार ७ मुनि ८ वसु ९ शिव १० धर्म ११ रुद्र १२ वायु १३ काम १४ अनन्त १५ विश्वेदेव ३० पितर नक्षत्रदेवता १ अश्विनी-अश्वी २ भरणी-यम ३ कृत्तिका-अग्नि ४ रोहिणी-प्रजापति ५ मृगशीर्ष—सोम ६ आर्द्रा-रुद्र ७ पुनर्वसु-अदिति ८ पुष्य बृहस्पति ९ अश्लेषा-सर्प १० मघा-पितृ ११ पूर्वा फाल्गुणी भग १२ उत्तरा फाल्गुणी-अर्यमन १३ हस्त-सवितृ १४ चित्रा त्वष्टृ १५ स्वाति-वायु १६ विशाखा इन्द्राग्नी १७ अनुराधा-मित्र १८ ज्येष्ठ -इन्द्र १९ मूल-निर्ऋति २० पूर्वाषाढ-अप् २१ उत्तराषाढ-विश्वेदेव २२ श्रवण-विष्णु २३ धनिष्ठा-वसु २४ शतभिष- वरुण २५ पूर्वाभाद्रपदा-अजएकपाद २६ उत्तरा भाद्रपदा-अहिर्बुध्न २७ रेवती-पूषण।

भी मन्तव्य नहीं हो सकता कि कोई नाम परमेश्वर का हो परमेश्वर अपने किसी नाम से सब तिथिओं और नक्षत्रों का देवता और स्वामी होगा एक एक नाम से एक एक तिथि और नक्षत्र का देवता है बिना किसी हेतु विशेष के यह मन्तव्य नहीं हो सकता और इस में भी अयुक्त विदित होता है कि अश्लेषा का देवता सर्प पूर्वा फाल्गुणी का देवता भग लिखा है भग सर्प यह भी ईश्वर के नाम हैं ऐसा कहना भी जो यथार्थ होना माना जावे तो विना प्रमाणके जो मुख में आवे कह देवे कि बिच्छू कीडा सब ईश्वर के नाम हैं। कोई आर्य महाशय यह कहते हैं कि देवता शब्द से तिथि और नक्षत्रों के गुण कहने का आशय है परन्तु ऐसा उत्तर सर्वथा अयुक्तऔर निर्मूल प्रतीत होता है क्योंकि पूर्णमासी का देवता विश्वदेव अमावस्या का पितर तथा पूर्वा फाल्गुणी का भग अश्लषा का सर्प लिखा है पूर्णमासी आदि के विश्वदेव पितर भग सर्प कैसे गुण हैं और कैसे गुण माने जा सकते हैं इसमें कोई प्रमाण विदित नहीं होता। इस से यह ज्ञात होता है कि स्वामी जी देवताओं को मानते थे परन्तु कोई कोई विषय जिसका मानना विदेशी अङ्गरेज मुसलमान आदि विरुद्ध पक्ष वालों के मत के खण्डन में और उनके किये हुये आक्षेप के उत्तर में बाधक था और उनके पराजय करने में उपयोगी नहीं था उसको स्वामी जी ने नहीं माना। उक्त स्वामी ही जी ने ऐसा नहीं किया श्री स्वामी शङ्कराचार्य जी ने।जगत् व जीव के अनादि मानने वाले ईश्वर के न मानने वाले बौद्धमत वालों को पराजय करने और वैदिक मत में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये कुछ अंश में वेदविरुद्ध भी ब्रह्म से भिन्न जगत् के मिथ्या होने ब्रह्म और जीव में कुछ भेद न होने का प्रतिपादन करके ब्रह्म ही मय सब होने और ब्रह्म को जीव से पृथक् न मानने का उपदेश किया है और अन्य विद्वानों ने भी पूर्व काल में समय के अनुकूल अपने देश में प्राप्त हुये अनर्थ व हानि के निवारण के लिये उपदेश करना स्वीकार किया है यथा पण्डित काशीनाथ ने जब यह देखा व विचार किया कि मुसलमानों का राज्य है हम उनसे विरोध करके उन को रोक नहीं सकते न कुछ हमारा सामर्थ्य है और यह देखते हैं कि वे मु सलमान) अविवाहित युवा अवस्था को प्राप्त हुई स्वरूपवती कन्याओं को बलात्कार से लेलेते हैं यह बडा अनर्थ हो रहा है इससे बचने का उपाय यही सोचा कि यद्यपि बाल्यावस्था में विवाह उचित नहीं है तथापि इस समय में यही एक उपाय आर्य सत्पुरुषों की कन्याओं का यमनों (मुसल्मानों) से रक्षित होने का है कि युवा अवस्था प्राप्त होने से पहिले ही कन्या का विवाह कर दिया जावे वह अपने पति के गृह को चली जाय। इस विधि के प्रचरित होने के लिये उक्त पण्डित ने शीघ्रबोध नामक ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया और उसमें **अष्टवर्षाभवेद्गौरी नववर्षाचरोहिणी** इत्यादि

अर्थ—आठ वर्ष की कन्या गौरी सज्ञा होती है नव वर्ष की रोहिणी होती है इत्यादि लिखकर यह सूचित किया है कि दश वर्ष की अवस्था तक कन्या को

विवाह कर देना उत्तम है क्योंकि अधिक अवस्था हो जाने में जो कन्या को रजस्वला पिताके घरमें होना है तो पिता माता और जेठा भाई तीनों रजस्वला हुई कन्या को देख कर नरक गामी होते हैं ऐसा वचन पढ और शास्त्र की ऐसी आज्ञा मानकर सब आठ, नव, दश, वर्ष की अवस्था में कन्याओं का विवाह करने लगे। ऐसा करना उस समय के लिये उत्तम ही था अब ऐसा प्रचार हो जाने से यद्यपि ऐसा करना ऋषियों की सम्मति व शास्त्र से विरुद्ध है अनुचित है परन्तु जिनको शास्त्रज्ञान नहीं है और यह नहीं जानते कि किस कारण विशेष से ऐसे विवाह करने की पद्धति चलाई गई थी वे अब भी इसी पद्धति को उत्तम समझते हैं। अब ऐसा विवाह करना सर्वथा अनुचित है इससे सोलह वर्ष से न्यून कन्या और पचीस अथवा बीस वर्ष से कम पुरुष का विवाह न होना चाहिये अर्थात् शास्त्र व स्मृति की आज्ञा अनुसार विवाह होना चाहिये।* पण्डित काशिनाथ के समान स्वामी जीने भी समय के अनुकूल उक्त अर्थ साधन के प्रयोजन से विशेष विषयों को नहीं माना और जो पुराणों में अयुक्त और असम्भव गाथा हैं वह तो किसी को मन्तव्य नहीं हैं उनका न मानना यथार्थ ही है। यदि इसमें यह सन्देह हो कि उक्त प्रकार से स्वामी जी का आशय मानना यथार्थ नहीं है तो इसके प्रमाण के लिये एक दृष्टान्त हम लिखते हैं जिसके पढने और विचारने से स्पष्टता से यह निश्चित हो सकता है कि स्वामी जी ने अपने पक्ष के साधन में ऐसा किया है वह दृष्टान्त यह है कि कपिलाचार्य्य जिन्होंने साङ्ख्य दर्शन के सूत्रों को वर्णन किया है उन्होंने ईश्वर के जगत् के कर्ता होने का निषेध किया है प्रधान (प्रकृति) ही को जगत् का कारण होना माना है यद्यपि विचार करने से ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करना उक्त आचार्य्य का सिद्ध नहीं होता परन्तु उनके इस प्रकार के लेख से कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ईश्वर जगत् का कारण होना सिद्ध नहीं होता और निमित्त और उपादान दोनों प्रकार से ईश्वर के कारण होने का खण्डन किया है इससे प्रायः लोग उनको अनीश्वर वादी अर्थात् ईश्वर के न माननेवाले कहते हैं। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में यह सिद्ध करने के लिये कि कपिलाचार्य अनीश्वर वादी नहीं हैं यह लिखा है कि कपिलाचार्य ने ईश्वर के उपादान कारण होने मात्र का प्रतिषेध किया है निमित्त कारण होने का प्रतिषेध नहीं किया इससे जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वर वादी कहे वह अनीश्वर वादी है और कपिलाचार्य ने केवल ईश्वर के उपादान कारण होने का प्रतिषेध करते हैं निमित्त कारण होने का प्रतिषेध नहीं करते इसके प्रमाण के लिये इस प्रकार से अध्याय व सूत्र संख्या सहित अर्थ सहित निम्न लिखित साङ्ख्य सूत्रों को लिखा है (प्रश्न)

ईश्वरासिद्धेः ॥१॥ प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥२॥ सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥ ३ ॥ सां० सू०

*यद्यपि पण्डित काशीनाथ के दृष्टान्त को मैंने स्वयं निश्चित करके नहीं लिखा परन्तु विश्वास पात्र पुरुष मनुष्यों से सुनने और पुस्तकों में भी प्रमाण होने से लिखा है

अर्थ—प्रत्यक्ष न होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥ १ ॥

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष नहीं तो अनुमान आदि प्रमाण नहीं हो सकते ॥ २ ॥

और व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता पुन: प्रत्यक्ष अनुमान न होने से शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती (उत्तर) यहां ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है और पुरुष विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष और शरीर में शयन करने से जीवात्मा का भी नाम पुरुष है क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः ॥१॥ सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥२॥
श्रुतिरपिप्रधानकार्यत्वस्य ॥३॥ सांख्य सू०

अर्थ—यदि पुरुष को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्य रूप में सङ्गत हुई है वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय इस लिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है ॥ १ ॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्य युक्त है वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का प्रयोग होना चाहिये सो नहीं है इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है ॥ २ ॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहता है ॥३॥

जैसे अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः॥

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है-जो जन्म रहित सत्वरज तमोगुण रूप प्रकृति है वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजा रूप होजाती है अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाती है और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर में होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता है सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है इस लिये जो कोई कपिलाचार्य को [illegible] कहता है जानो वही अनीश्वर वादी है कपिलाचार्य नहीं ॥

कारण होने का प्रतिषेध किया है ईश्वरासिद्धे. यह सूत्र पहिले अध्याय में सख्या ६२ में है इसके साथ आगेके दो सूत्र अर्थात् सूत्र ६३ और ६६४ को छोड कर पाचवें अध्याय के सख्या ८ से १२तक के सूत्रों को मिलाया हे। मिलाने में उनका क्रम भी बदल दिया ह पहले अध्याय के उक्त सूत्र सख्या ६२ के साथ पांचवें अध्याय के सूत्र १० व ११ को मिलाकर पहिले १ से ३ सूत्र तक लिखा है। फिर पाचवें अध्याय के सूत्र ८, ६ और १२ इन तीन सूत्रों को १ से ३ स ख्या तक लिखा है अब हम ईश्वरासिद्ध इत्यादि को स्वामी जी के लेखानुसार और उनकी यथार्थ स ख्या को भी लिखकर इसके आगे के जो दो सूत्र ईश्वर के निमित्त कारण होने के प्रतिषेध में हं उनको अर्थ सहित लिखते हैं

ईश्वरासिद्धे. ॥१॥ यथार्थ सख्या सां० अध्याय ६ सू० ६२

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥२॥ यथार्थ सां० अ० ५-सू० १०

सम्बंधाभावान्नानुमानम् ॥३॥ यथार्थ स ० सां० अ० ५ सू० ११

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सगापत्तिः॥१॥ यथार्थ स ० सां० अ० ५ सू० ८

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥२॥ यथार्थ स ० सांख्य अ० ५ सू ६

श्रुतिरपिप्रधानकार्यत्वस्य ॥३॥ यथार्थ सख्या सां० अ० ५ सू० १२

ईश्वरासिद्धे' सां० अ० १ सू० ६२।

अर्थ—ईश्वर की सिद्धि न होने से॥

इतने सूत्र के अर्थ से वाक्य पूर्ण नहीं होता न कुछ आशय ज्ञान होता है इस से पूर्व सूत्र से न दोष शब्द की अनुवृत्ति आती है अदोष और न दोष दोनों का अर्थ एक ही है इससे अदोष शब्द की अनुवृत्ति ग्रहण करने से भी नदोष का अर्थ ग्राह्य हे जब न दोष शब्द की अनुवृत्ति ग्रहण की जाती हे तब सूत्र का अर्थ पूरा होता हे अनुवृत्ति लाने से न दोष शब्द सहित सूत्र का अर्थ यह होता है कि ईश्वर की सिद्धि न होने से दोष नहीं हे। इसका आशय यह है कि पहिले प्रत्यक्ष का लक्षण यह वर्णन किया हे कि इन्द्रिय के साथ यथार्थ सम्बन्ध को प्राप्त जो वस्तु है अर्थात् भ्रम विकार रहित इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध जो वस्तु है उसका जो तदाकार (जैसा ह वैसा ही) ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है यह लक्षण वर्णन करके यह शङ्का धारण करके कि योगीजन जो वस्तु दूर देश में है अथवा पृथ्वी आदि में गडी हे जिसमें नेत्र आदि इन्द्रियों का सबन्ध नहीं होता उसको भी योगी अपने योग से उत्पन्न हुये ज्ञान से जानते ह अर्थात् उसको प्रत्यक्ष करते हे।

उनके प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित न होने से लक्षण में दोष प्राप्त होगा, यह समाधान किया हे कि यह लक्षण जो कहा गया है सो साधारण लौकिक प्राणियों के लिये है योगीजन और उनका ज्ञान लौकिकजन और लौकिकजनों के

अर्थ—प्रत्यक्ष न होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥ १ ॥

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष नहीं तो अनुमान आदि प्रमाण नहीं हो सकते ॥ २ ॥

और व्याप्ति सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता पुन प्रत्यक्ष अनुमान न होने से शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती (उत्तर) यहा ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है और पुरुष विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष और शरीर में शयन करने से जीवात्मा का भी नाम पुरुष है क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः ॥१॥ सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥२॥ श्रुतिरपिप्रधानकार्यत्वस्य ॥३॥ साङ्ख्य सू०

अर्थ—यदि पुरुष को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्य रूप में सङ्गत हुई है वेसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय इस लिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है ॥ १ ॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जेसा परमेश्वर समग्रैश्वर्य युक्त है वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का प्रयोग होना चाहिये सो नहीं है इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है किन्तु निमित्त कारण है ॥ २ ॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहता है ॥३॥

जैसे अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजा सृजमानां स्वरूपाः ॥

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का वचन है—जो जन्म रहित सत्वरज तमोगुण रूप प्रकृति है वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजा रूप होजाती है अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाती है और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर में होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता है सदा कूटस्थ निर्विकार रहता है इस लिये जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वर वादी कहता है जानो वही अनीश्वर वादी है कपिलाचार्य नहीं ॥

ऐसा स्वामीजी का लेख सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ वैदिक यन्त्रालय प्रयाग सन् १८८९ में मुद्रित हुये में जो हमारे पास है लिखा है ॥

इस लेख में जो स्वामी जी ने अपने इस पक्ष के साधन में कि कपिलाचार्य ईश्वर के उपादान कारण होने मात्र का प्रतिषेध करते हैं यह चातुर्य्यता की है कि जो सूत्र कपिलाचार्य ने निमित्त कारण होने के प्रतिषेध में ईश्वरासिद्ध इस सूत्र के आगे ही दो सूत्रों में वर्णन किया है उनको अपने पक्ष के विरुद्ध जानकर छिपाना उचित समझकर छोड़ दिया है यद्यपि श्रुति प्रमाणसे सिद्ध ईश्वर के निमित्त कारण होने का प्रतिषेध कपिलाचार्य ने नहीं किया परन्तु लौकिक जनोंके प्रत्यक्ष अनुमान व तर्क के अनुसार उपादान व निमित्त दोनों

कारण होने का प्रतिषेध किया है ईश्वरासिद्धेः यह सूत्र पहिले अध्याय में सख्या ६२ में है इसके साथ आगेके दो सूत्र अर्थात् सूत्र ६३ और ६६४ को छोड कर पाचवें अध्याय के संख्या ८ से १२तक के सूत्रों को मिलाया है। मिलाने में उनका क्रम भी बदल दिया है पहले अध्याय के उक्त सूत्र सख्या ६२ के साथ पाचवें अध्याय के सूत्र १० व ११ को मिलाकर पहिले १ से ३ सूत्र तक लिखा है। फिर पाचवें अध्याय के सूत्र ८, ६ और १२ इन तीन सूत्रों की १ से ३ स ख्या तक लिखा है अब हम ईश्वरासिद्ध इत्यादि को स्वामी जी के लेखानुसार और उनकी यथार्थ स ख्या को भी लिखकर इनके आगे के जो दो सूत्र ईश्वर के निमित्त कारण होने के प्रतिषेध में हैं उनको अर्थ सहित लिखते हैं

ईश्वरासिद्धेः ॥१॥ यथार्थ सख्या सा० अध्याय ६ सू० ६२

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥२॥ यथार्थ सा० अ० ५-सू० १०

सम्बधाभावान्नानुमानम् ॥३॥ यथार्थ स० सां० अ० ५ सू० ११

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सगापत्तिः॥१॥ यथार्थ स० सा० अ० ५ सू० ८

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥२॥ यथार्थ स० सांख्य अ० ५ सू ६

श्रुतिरपिप्रधानकार्यत्वस्य ॥३॥ यथार्थ सख्या सा० अ० ५ सू० १२

ईश्वरासिद्धेः सा० अ० १ सू० ६२।

अर्थ—ईश्वर की सिद्धि न होने से॥

इतने सूत्र के अर्थ से वाक्य पूर्ण नहीं होता न कुछ आशय ज्ञात होता है इस से पूर्व सूत्र से न दोष शब्द की अनुवृत्ति आती है अदोष और न दोष दोनों का अर्थ एक ही है इसले अदोष शब्द की अनुवृत्ति ग्रहण करने से भी नदोष का अर्थ ग्राह्य है जब न दोष शब्द की अनुवृत्ति ग्रहण की जाती है तब सूत्र का अर्थ पूरा होता है अनुवृत्ति लाने से न दोष शब्द सहित सूत्र का अर्थ यह होता है कि ईश्वर की सिद्धि न होने से दोष नहीं है। इसका आशय यह है कि पहिले प्रत्यक्ष का लक्षण यह वर्णन किया है कि इन्द्रिय के साथ यथार्थ सम्बन्ध को प्राप्त जो वस्तु हैं अर्थात् भ्रम विकार रहित इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध जो वस्तु हैं उसका जो तदाकार (जैसा है वैसा ही) ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है यह लक्षण वर्णन करके यह शङ्का धारण करके कि योगीजन जो वस्तु दूर देश में है अथवा पृथ्वी आदि में गडी है जिसमें नेत्र आदि इन्द्रियों का संबन्ध नहीं होता उसको भी योगी अपने योग से उत्पन्न हुये ज्ञान से जानते हैं अर्थात् उसको प्रत्यक्ष करते हैं।

उनके प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित न होने से लक्षण में दोष प्राप्त होगा, यह समाधान किया है कि यह लक्षण जो कहा गया है साधारण लौकिक प्राणियों के लिये है योगीजन और उनका ज्ञान लौकिकजन और लौकिकजनों के

के ज्ञान की कोटि से पृथक् है इससे योगी जनों के अग्राह्य (जो वस्तु बाहर इन्द्रियों के संयोग के योग्य नहीं है) उसके प्रत्यक्ष होने से कुछ दोष नहीं है । यही दोष नहीं है का संबन्ध इसके आगे जो ईश्वर की सिद्धि न होने से यह सूत्र है इसमें प्राप्त है इससे ईश्वर की सिद्धि न होने से दोष नहीं है यह अर्थ होता है और यह आशय प्राप्त होता है कि जैसे योगियो के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष का लक्षण घटित न होने से दोष नहीं है प्रत्यक्ष का लक्षण घटित न होने पर भी योगियों का प्रत्यक्ष सत्य ही है उसको योगी ही जन जान सक्ते हैं अन्य नहीं । ऐसे ही ईश्वर की भी सिद्ध प्रत्यक्ष से न होने से दोष नहीं है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण ईश्वर की सिद्ध में घटित न होने से प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्ध न होने से ईश्वर के अस्तित्व में दोष नहीं है ईश्वर के अस्तित्व का भी यथार्थ ज्ञान योगियों के अग्राह्य प्रत्यक्ष के समान योगियों ही को होता है । लौकिक जनों को प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से नहीं हो सकता अब इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कि श्रुति व स्मृति में वर्णित ईश्वर की सिद्धि किस हेतु से न मानना चाहिये कपिलाचार्य न तर्क से ईश्वर सिद्ध न हो सकने के हेतु इस प्रकार से अगले सूत्रों मे वर्णन किया ॥

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्नतत्सिद्धिः ॥ ९३ ॥

अर्थ—मुक्त व बद्ध दो में से एक के न होने से उसकी सिद्धि नहीं होती॥९३॥

आशय यह है कि यदि ईश्वर माना जाता है तो यह ज्ञातव्य है कि वह क्लेशों से मुक्त है अथवा बद्ध (बधा हुआ) है क्योंकि चेतन आत्मा दो ही प्रकार का हो सकता है परन्तु ईश्वर दो में से किसी एक प्रकार का न होने से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती कैसे दो में से एक भी होना सिद्ध नहीं होना यह अगले सूत्र में वर्णन करते है ॥

उभयथाप्यसत्करत्वम् ॥ ९४ ॥

दोनों प्रकार से भी करनेवाला न होना सिद्ध है ॥ ९४ ॥

ईश्वर को मुक्त माने अथवा बद्ध दोनों प्रकार से सृष्टि करनेवाला सिद्ध नहीं होता क्योंकि मुक्त होने में अभिमान व राग आदि जो कर्म में प्रवृत्त होने के कारण होते है उनसे रहित होनेसे सृष्टि आदि में ईश्वर प्रवृत्त नहीं होसकता और बद्ध (अज्ञान से क्लेशों से बधा हुआ) होने में मोह वश अज्ञान मूढ होने से ऐसी विचित्र असख्य कार्य करण व नियम सम्बन्ध युक्त सृष्टि के करने में समर्थ नहीं हो सक्ता इससे ईश्वर सृष्टि का कर्ता सिद्ध नहीं होता ।

यहाँ निमित्त कारण ही के होने का प्रतिषेध किया है ॥

परन्तु यह निषेध केवल लौकिक जनों के प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष मूलक अनुमान अथवा उपमान से सम्बन्ध रखता है श्रुति वा आप्तवाक्य और योगज ज्ञान से नहीं, क्योंकि आप्त वाक्य का सम्बन्ध इन्द्रियजन्य ज्ञानसे नहीं है केवल श्रद्धा व सम्य होनेके विश्वास से है । इससे महात्मा सूत्रकार का आशय लौकिक जनों

के प्रत्यक्ष, अनुमान व तर्क से सिद्ध न होने का हेतु वर्णन करके यह सूचित करने का है कि उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष अनुमान से ईश्वर की सिद्धि न होनसे दोष नहीं है उक्त प्रकारसे ईश्वर सिद्ध न हो तो ईश्वर के अस्तित्वमें दोष प्राप्त नहीं होता अब ह प्रत्यक्ष के समान ईश्वर का ज्ञान योगज ज्ञान से योगियों को होता है उनके वाक्य और श्रुति प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि प्राप्त है जब प्रत्यक्ष व्याप्ति सम्बन्धी मात्र आक्षेप होने से उक्त प्रकार से युक्त व निर्दोष व्याख्यान हो सक्ता है तब अन्य प्रकार की कल्पना करने का आवश्यकता नहीं है। पंडित हरिप्रसाद स्वामी जी ने अपनी सांख्य वृत्ति में "ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्र के व्याख्यान में यह लिखा है कि जैनमाशङ्क्य निराचष्टे अर्थ जैन प्रति शङ्का करके खंडन करते हैं ऐसा अध्याहार करके सूत्र का अर्थ किया है पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति के सम्बन्धमें साधारण यथार्थ अर्थ ग्राह्य होने से ऐसा कल्पना का आवश्यक व युक्त होना प्रतीत नहीं होता और जो पांचवें अध्याय के सूत्र हैं वे अर्थ सहित लिख दिये गये हैं॥

अब पाठक महाशय विचार से निश्चय कर सकते हैं कि इन सूत्रों को जानते हुये अपने पक्ष साधन के लिये इन को छोड कर उक्त प्रकार से उपादान कारण मात्र होने का प्रतिषेध वर्णन करना स्वामी जी के सत्य प्रतिपादन की प्रतिज्ञा में भेद और कार्य साधकता नीति के ग्रहण करने को सूचित करता है। ऐसा ही अन्य भी असङ्गत दोष होना वेदभाष्य व अन्य लेख में कहीं कहीं ज्ञात होता है उक्त सांख्य सूत्रों को स्वामी जी के व्याख्यान से मिलान करने से पहिले स्वामी जी के विषय में हमारा दृढ विश्वास वैसा ही था जैसा हमने प्रथम वर्णन किया है और अब भी यह समझते हैं कि सामान्यतः स्वामी जी के द्वारा इस देश का अधिकांश हितही हुआ है विद्या और विचार की उन्नति हुई है। इसमें उनका परिश्रम देश के हित के लिये तन मन समर्पण करना कृतज्ञ होने व आदर करने योग्य है॥

श्रीस्वामी दयानन्द जी के मतावलम्बी आर्यसमाजी और पौराणिक महाशय जो एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष प्रतिपक्षास्थापन करते हैं इन दोनों महाशयों को चाहिये कि प्रतिपक्षवादी से कोई दोष आरोपण किया जावे तो विचार कर प्रथम अपने पक्ष के दोष का उद्धार करें फिर जो प्रतिपक्षवादी के पक्ष में यथार्थ दोष होना विदित हो उसके विषय में आक्षेप करें। बिना अपने पक्ष के दोष का उद्धार किये दूसरे के पक्ष में दोष आरोपण करना अपने पक्ष में दोष को स्वीकार कर लेना सिद्ध करता है अर्थात् यह सिद्ध होता है कि यदि समाधान हो सकता तो दोष का उद्धार करके समाधान किया जाता दोष के सत्य होने से उसका उद्धार नहीं होसका तब उत्तर न देकर प्रतिवादी के पक्ष में दोष आरोपण किया है जिसका आशय यह समझा जाता है कि हमारे पक्ष में दोष है तो तुम्हारे पक्ष में भी यह दोष है। प्राय आर्यसमाजी महाशयों से पुराणों में वर्णित असंभव व निर्मूल गाथाओं के विषय में किये

हुये आक्षेप का समाधान करना पौराणिक महाशयों के लिये अधिक कठिन ज्ञात होता है परन्तु एक का दूसरे के मत वा पक्ष में दोष आरोपण करनेमात्र से सत्य का निर्णय नहीं होता केवल परस्पर में विरोध होना मात्र होता है इससे उचित यह है कि जो अपने पक्ष में दोष निश्चित हो उसको मानकर परस्पर के विरोध जय और पराजय के लक्ष को त्यागकर जो निर्णय से सत्य निश्चित हो उसको ग्रहण करे ॥

और आर्यसमाजियों को ऐसा निर्मूल आक्षेप करना उचित नहीं है जैसा कि एक समय एक प्रतिष्ठित आर्यसमाजी ने यह श्लोक कहकर "असम्भव हेम मृगस्य जन्म तथापिरामो लुलुभेमृगाय प्राय. समापन्न विपत्तिकाले धियोऽपि पुसा मलिनाभवन्ति" ॥

अर्थ—सुवर्ण के मृग का जन्म असम्भव है तथापि रामचन्द्र मृग में लुभाये, बहुधा विपत्ति के समय आने पर पुरुषों की बुद्धियां मलिन होजाती हैं। रामचन्द्र के मनुष्य होने अज्ञान के समान आचरण करने का प्रतिपादन किया था परन्तु ऐसे कथन से विद्वानों की बुद्धि में रामचन्द्र जी पर तो, अज्ञानता का दोष होना सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट वर्णन है कि मृग मारने के लिये चलने के समय में राम से लक्ष्मणजी ने कहा कि यह मृग नहीं है राक्षस है रामचन्द्र जी ने कहा कि मैंने राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा की किया है राक्षसीमाया है तो यह मुझसे वध करने योग्य है इससे जाता हूं। यह श्लोक हितोपदेश में पण्डित विष्णु शर्मा ने कहा है जिसने अनेक जन्तुओं पक्षी आदि की मिथ्या कथाओं को राजपुत्रों के चित्त लगाने के लिये अपनी चातुर्य से कल्पना करके अपने प्रयोजन सिद्ध के लिये वर्णन किया है ऐसे का वाक्य प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता प्रमाण के लिये ऐसे वाक्य के कहने वाले की अज्ञानता सिद्ध होती है ॥

अब वेद विहित मन्तव्य होने व उसके विरुद्ध मन्तव्य न होने के विषय में यह सिद्धान्त ग्राह्य है कि जो वेद विरुद्ध है उसको अमन्तव्य मानना यथार्थ है परन्तु जो वेद में वर्णित नहीं है अथवा संक्षिप्त नाममात्र वर्णित है ऐसे पदार्थों का वर्णन जो महात्मा विद्वान् ऋषि मुनि धार्मिकों ने किया है जिसका पारमार्थिक वा लौकिक फल उत्तम प्राप्त होना निश्चित है वह सब मन्तव्य व कल्याणकारक है क्योंकि वेद की पूर्वोक्त प्रकार से बहुत शाखायें अधिक थीं उनमें से कुछ शेष हैं और सब इस समय में लुप्त हैं उन लुप्त शाखाओं में किन किन विद्याओं का और किन किन पदार्थों का वर्णन था यह ज्ञात नहीं हो सकता। मन्त्र संहितामात्र वेद से कोई उन विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। यथा यह दृष्टान्त के लिये लिया जाता है कि ऐसा मान लिया कि सब विद्याओं का मूल वेद है और अनेक विद्याओं में से एक तार विद्या है जिसका मूल मन्त्र यह है।

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः शर्यैरभिद्युं

पृतनासुदुष्टरंचर्कृत्युमिन्द्रमिवचर्षणीसहम् ॥ ८ ॥

ऋ० अष्ट० १ अ० ८ व० २१ म० १० ।

अर्थ—हे मनुष्यो (युव) तुम (पुरुवार) वहुत विद्वानों से स्वीकार करने योग्य वा वहुत गुण युक्त (श्वेत) अग्नि गुण विजुली रूप शुद्ध धातु से निर्मित (अभिद्यु) प्राप्तहुय विद्युत का प्रकाशक (पृतनासुदुष्टर) राजा के सेना के कार्यों में जो दुस्तर हैं वह (चर्कृत्य) वार वार सव क्रियाओं में योजित करने योग्य (तरुतार) शीघ्र गामीनार को अर्थात् तार नामक यन्त्र को वनाओ किन गुणों से युक्त (शर्य) वार वार मारने और प्रेरणा करने के गुणों से युक्त किस लिये वनाओ (वेद्वे व्यवहार वा कार्यों की सिद्धि प्राप्ति के लिये । किस प्रकार का (स्पृधा) शत्रुओं के पराजय और अपने विजय के लिये उत्तम और कैसा (चर्षणी सहम्) मनुष्यों की सेना के कार्य में सहन शील और (इन्द्रमिव) सूर्य के समान अर्थात् सूर्य के समान दूर स्थान में प्राप्त को भी व्यवहारों के प्रकाश करने में समर्थ (अश्विनौ (दुवस्यथ) पृथिवी और विद्युत् से सिद्ध कर तार यन्त्र को नित्य सेवन करै ॥

इस मन्त्र को स्वामी जी के लेख अनुसार अथवा अपनी ही बुद्धि से तार विद्या के मूल होने के प्रमाण में मान लेवे तो सिवाय यह कहने के कि यह मन्त्र तार विद्या का मूल है तार विद्या का होना सूचित करता है तार विद्या से कार्यों के करने का उपदेश करता है, इसके जानने से न कोई तार विद्या का ज्ञाता हो सकता है न तार को बना सकता है न तार से काम ले सकता है जो यह कहा जाय कि हमारे यहा वेद की शाखाओं में अनेक विद्यायें थीं परन्तु अव वह गुप्त हो गई हैं तो यह ऐसा ही कहना होगा जैसे कोई निर्धन कहे कि हमारे पितामह प्रपितामह राजा या वडे धनवान थे यद्यपि ऐसा कहना व अभिमान करना भी इसलिये अच्छा है कि दूसरों को यह विदित होता है कि यह उत्तम प्रतिष्ठित वंश का है और कहने वाला जो यह विचार करैगा कि मैं ऐसे श्रेष्ठ कुल का होकर ऐसी निकृष्टदशा को प्राप्त हू तो अपनी उन्नति प्राप्त होने का यत्न करेगा परन्तु ऐसे हमारे पूर्वज थे इतना कहने से उसको धनवान होने का कुछ सुख नहीं प्राप्त हो सकता उसको धन का सुख तभी होगा जव किसी प्रयत्न से अपने को अपने पूर्वजों के समान धनवान गुणवान व प्रतिष्ठित बना वेगा। ऐसे ही हमारे यहा विद्याओं के ग्रंथ थे इस कथन से हम उन विद्याओं के विद्वान् नहीं हो सकते जिनका नाम मात्र वेद में वर्णित है उनके विशेष व्याख्यान के ग्रंथ नहीं हैं परन्तु अगरेज़ विदेशी पुरुष जो वेद को नहीं जानते इस मन्त्र व अन्य वेद मन्त्र को नहीं देखा है न सुना है वे तारविद्या के विद्वान हैं और अनेक प्रकार के कार्यों को तार के द्वारा सिद्ध करते हैं और लाभ उठाते हैं ऐसे ही रेल गाडी आदि में सामान्य है। अवतार निर्माण आदि विद्या जिनका प्रत्यक्ष लौकिक व्यवहारों की सिद्धि में उत्तम फल प्राप्त होना सिद्ध है वेद के

अवयव या शाखाओं के समान मन्तव्य और सेवन के योग्य है क्योंकि वेद मूल मन्त्र मात्र से न लाभ होता है न हो सकता है जो उक्त विद्याओं के जानने से हो सकता है।

यथार्थ वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है इससे जो वेद में वर्णित हैं वह और जो किसी धार्मिक योगी विद्वान् के निर्मल शुद्ध अन्तःकरण में सत्य ज्ञान प्रकट हो और वह उपदेश करे वह वेद की शाखा के समान मन्तव्य है उत्तम विचारवान् ज्ञानी के लिये यह संसार ही महान् वेद ग्रंथ है इसके अनेक विचित्र कार्य और नियम युक्त रचनाओं के विचार करने में जो परमात्मा के अद्भुत कारीगर होने अनन्त शक्तिमान् अनन्तज्ञानवान् अनुपम होने का ज्ञान होता है और ऐसे ज्ञान से श्रद्धा प्रेम युक्त हो उसके ध्यान में चित्तको स्थिर करना है यही इस वेद ग्रंथ का पढ़ना है। इससे जो प्रमाण से सत्य उत्तम फल दायक ज्ञान निश्चित हो वह वेद ही की शाखा के या वेद के समान मन्तव्य है अब इसके आगे जो इस काल में कर्म संस्कारों की विधि में अनेक कुसंस्कार कुरीतियां और मिथ्या व्यवहार प्रचरित हो गये हैं उनके विषय में समीक्षा की जायगी॥

इतिश्रीतत्वमार्तण्डेश्रीस्वामीप्रभूतानन्दनिर्मितेश्रीस्वामिदयानन्दतदनुयायिनांमतसम्बंधितत्कृतव्याख्यानविशेषसम्बंधिसमीक्षाविषयेषष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इतितत्वमार्तण्डे पूर्वार्द्धः



अथ उत्तरार्द्धः

अथ वर्तमान समय प्रचरित कर्म संस्कार विधि विषयक समीक्षा प्रारम्भ

वर्तमान समय में कर्मकाड की विधि देखने से विदित होता है कि पूर्व में जैसे ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के अनुसार जिस प्रकार से गर्भाधान से लेकर मरण पर्यन्त शरीर के षोडश संस्कार किये जाते थे उस प्रकार से आर्ष ग्रन्थों से ऋषियों की सम्मति अनुसार संस्कार नहीं किये जाते। स्वार्थ साधक जनों से निर्मित ग्रन्थ जो श्रुति सम्मति से रहित पाखण्ड जाल रूप हैं परन्तु वेद शास्त्र के ज्ञान रहित यजमानों को जैसा पुरोहितों ने जिस समय ये ग्रंथ प्रचरित किये गये हैं विश्वास करा दिया है तब से अब तक यजमान के वंश के उन ग्रंथों को सत्य वेदशास्त्र के अनुसार होना मानते चले आते हैं और उन्हीं के लेख से पुरोहित कर्म कराते हैं आर्ष ग्रंथों का व शास्त्रों का पठन पाठन छूट जाने व विद्या की न्यूनता होने से प्राय पुरोहित और अन्य जो अपने को पंडित मानते हैं वे आप ही आर्ष ग्रंथों को नहीं जानते इससे वह सत्य असत्य का निर्णय नहीं कर सके क्योंकि नाम मात्र के पंडित होते हैं वेदशास्त्र को नहीं जानते हैं कथा कहने व विवाह श्राद्ध करानेही से पंडित होजाते हैं प्राय पुरोहित ऐसे विद्वान् देखे जाते हैं कि जो अक्षर भी शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते न शब्द व अर्थ का उनको ज्ञान होता है परन्तु पुरोहित व आचार्य कहे जाते हैं। जब मूर्ख यजमान हुये तब मूर्ख पुरोहितों को मिथ्या ग्रंथों के प्रचार करने का अवकाश मिला और क्रमसे उन का प्रचार होगया यथार्थ कर्मों के करने का व संस्कारों की विधि का ज्ञान ब्राह्मण ग्रंथों से मीमांसा दर्शन से और ऋषियों के बनाये गृह सूत्रों और कल्प सूत्रों से होता है इन ग्रंथों से कर्मकाड का यथार्थ ज्ञान हो सकता है और इन ही के अनुसार कर्म करना चाहिये। गर्भ में शरीर स्थित होने से मरण पर्यन्त शरीर के षोडश संस्कार होते हैं इन षोडश संस्कारों की विधि जैसा आश्वलायन गृह्य सूत्र। पारस्कर गृह्यसूत्र गोभिलीय गृह्य सूत्र शौनक गृह्य सूत्रों में वर्णित है उस प्रकार से करना चाहिये। कहीं इन सूत्रों में भी आधुनिक ग्रंथ कारोंने कुछ प्रक्षिप्त वाक्यों को मिलाया है परन्तु विचारने और अन्य ऋषियों के सूत्रों और आशय से मिलान करने से प्रक्षिप्त का निश्चय हो जाता है आधुनिक ग्रंथकारों ने प्राय कुछ संस्कारों को छोड कर दश संस्कारों की विधि

रक्खा है और कहीं अधिक बढ़ा दिया है। यथार्थ में षोडश संस्कार कर्तव्य है अब षोडश संस्कार कौन कौन हैं उनको संक्षेप से लिखकर जो वर्तमान में उनमें मिथ्या और अनुचित संस्कारों की विधि को मिलाया है उसकी समीक्षा की जाती है षोडश संस्कार येहैं १ गर्भाधान स्त्रीके गर्भाशय में यथा विधि पुरुष के वीर्य स्थापन को गर्भाधान संस्कार कहते हैं गर्भाधान की विशेष विधि इस लिये है कि जैसे क्षेत्र (खेत) और बीज के उत्तम व पुष्ट होने से अन्न इक्षु (ऊष) आदि जो बोये जाते हैं वे उत्तम उत्पन्न होते हैं ऐसे ही स्त्री व पुरुष के बलवान होने में विधि से गर्भाधान करने से सन्तान पुष्टाङ्ग बुद्धिमान् बलवान् उत्पन्न होते हैं इससे पुरुष और कन्या सत्सङ्ग में रहकर विद्या अभ्यास करते हुये ब्रह्मचर्य का पालन करें कुवृत्तियां और दुराचरों से बचे हुये अपने आत्मा को पवित्र रक्खै। इस प्रकार से ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त विद्या का भ्यास करते हुये कम से कम १६ वर्ष के वय तक कन्या और २५ वर्ष के वय तक पुरुष व्यतीत करें फिर उनका विवाह किया जावे ऐसी १६ वर्ष की विवाहित स्त्री में पुरुष गर्भाधान करै क्योंकि इससे न्यून वय में गर्भाधान करने के लिये सुश्रुत में दोष वर्णन के साथ इस प्रकार निषेध किया है।

ऊंनषोडश वर्षायामप्राप्तः पञ्च विंशतिम यद्याधत्ते पुमान गर्भं कूक्षिस्थः सविपद्यते ॥१॥
जातोवानचिरंजीवेज्जीवेद्वादुर्बलेन्द्रियः तस्मादत्यन्तबालाया गर्भाधानं नकारयेत ॥२॥ सुश्रुते शरीरस्थाने अ० १०

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून स्त्री में पचीस वर्ष से न्यून वय का पुरुष जो गर्भाधान करता है तो वह गर्भ उदर ही में बिगड जाता है गर्भपात हो जाता है ॥ ॥

और जो उत्पन्न होता है तो बहुत काल तक नहीं जीता अल्प आयु होता है जो कोई जीता है तो शरीर व इंद्रियों से निर्बल होता है इस से न्यून अवस्था की स्त्री में गर्भाधान न करै अर्थात् न करना चाहिये ॥

गर्भाधान की विधि यह है कि रजो दर्शन के दिन से लेके सोलहवें दिन तक स्त्रियों का ऋतु समय है उनमें से जिस दिन स्त्री रजस्वला हो उस दिन से ४ दिन निन्दित हैं चार रात्रिया तक पुरुष स्त्री को स्पर्श न करे और जैसे चार रात्रि व दिन पहिले के निन्दित हैं ऐसे ही ग्यारहवीं और बारहवीं रात्रियाँ भी निन्दित हैं बाकी रहीं दश रात्रिया पाच से दश तक और तेरह से सोलह तक ये ऋतुदान देने में उत्तम हैं इनमें गर्भाधान करना चाहिये। जिस रात्रि में गर्भाधान करने की इच्छा हो उससे पहिले दिन में उक्त गृह्य सूत्रों में लिखे हुये अनुसार अग्नि में आहुतिया मन्त्रों से दे देवें हवन करने के समय में पत्नी पति के वाम भाग में बैठे और ऋत्विज भी चारों दिशाओं में बैठे प्रथम बीस

मंत्रों से जैसा गृह्य सूत्रों में लिखा है अथवा जैसा स्वामी दयानन्द जी के निर्मित संस्कार विधि में लिखा है आहुति देवे बीस आहुति करने से जो कुछ घी बचे वह कांस के पात्र में ढांक के रख देवें फिर एक चांदी वा कांस के पात्र में भात रख कर उसमें घी दूध शक्कर मिलाकर उसकी आहुति देवे और श्रुवा में जो शेष रहे आगे रक्खे हुये कांस के जल पात्र में छोड़ता जावे फिर लिखी हुई विधि से आज्याहुति और मोहनभोग की आहुतियाँ देवे और घृत की आहुतियां देवे। प्रत्येक आहुति के देते समय में श्रुवा में बचे हुये घी को जो आगे धरे हुये कांस के पात्र में छोड़ते जाने से इकट्ठा हुआ हो सब आहुतिया के हो जाने के पश्चात् उसको वधू स्नान घर में ले जाकर नख से सिर पर्यन्त लगा कर सब अङ्गों में मलकर स्नान करे फिर शुद्ध वस्त्र से अङ्गों को पोंछ शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आवे फिर दोनों वर और वधू कुण्ड का प्रदक्षिण करके सूर्य का दर्शन करें फिर जो मन्त्र संस्कार विधि में लिखे हैं उन मन्त्रों को कहकर पति को नमस्कार करे फिर अपने श्वसुर सास और जो अपने से मान नीय स्त्री व पुरुष हों उन सब की वन्दना करे फिर पति और पत्नी दोनों शुभासन में पूर्व दिशा को मुख करके वेदी के पश्चिम भाग में बैठकर वामदेव्य मन्त्रों का गान करें यथोक्त भोजन करे फिर पुरोहित आदि सब मण्डली को यथाशक्ति भोजन कराके आदर सत्कार पूर्वक विदा करे इसके पश्चात् रात्रि में जब दोनों प्रसन्न व प्रेम युक्त हों उस समय गर्भाधान क्रिया को करें गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि व्यतीत होने के पीछे प्रहर रात्रि रहे तक है गर्भ स्थापन करने का प्रकार भी लिखा है उस प्रकार से क्रिया करके गर्भस्थापन करके कुछ ठहर के स्त्री स्नान करे शीतकाल हो तो पहिले केसर कस्तूरी जायफल जावित्री छोटी इलायची डालकर दूध गर्म कर रक्खे उसको पहिले शीतल करके पान करके पृथक् शयन करें। जो गर्भ स्थित होजाने का निश्चय हो जावे तो दूसरे दिन, नहीं महीने के आरम्भ में जब रजस्वला न होने से गर्भ रहने का निश्चय हो जाय तब फिर लिखे हुये मन्त्रों से आहुति देवे और स्त्री के उचित भोजन छादन का अच्छा नियम करे। नशा करने वाली रेचन करने वाली खट्टी वहु कडु रूखी वस्तुओं का भोजन न करे॥

घी, दूध, पुष्टिकारक मीठी पथ्य वस्तुओं को भोजन के लिये देना चाहिये। इस प्रकारसे यह गर्भाधान संस्कार किया जाता है यह संक्षेप से लिख दिया है विशेष विधि जिन ग्रन्थों में विधि का वर्णन है उनमें वर्णित है। उनमें सब मन्त्र औषधियाँ भोजन के लिये पदार्थों के नाम लिखे हैं॥

दूसरा संस्कार पुंसवन होता है—पुंसवन-गर्भस्थित हो जाने के समय से दूसरे या तीसरे महीने में पुंसवन संस्कार करना चाहिये। पुंसवन संस्कार इस लिये किया जाता है कि गर्भस्थ सन्तान में पुरुषत्व प्राप्त हो और वह वीर्यवान् (बलवान्) हो। गर्भ के दूसरे तीसरे महीने वट वृक्ष की जटा या उसकी पत्ती लेकर स्त्री को दक्षिण नासापुटमें सुंघावे और अन्य पुष्ट और रोग रहित

करनेवाले पदार्थों को यथा गुडच ब्राह्मी आदि ओषधियों को खिलावे । ऐसा आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा पारस्कर, गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में लिखा है । जैसा संस्कार विधि में लिखा है उस प्रकार से यज्ञशाला यज्ञ कुण्ड यज्ञ की समिधा होम के द्रव्य पाकस्थली आदि करके मन्त्रों से आहुति देकर एकान्त में पति पत्नी के हृदय में हाथ धर कर "ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्त" इत्यादि इस मन्त्र को पढ़े फिर सामवेद आर्चिक और महावामदेव्य का गान करके सब आये पुरुषों को विदा करे फिर वट वृक्ष के कोमल कोपल और गिलोय को महीन बांट कपड़े में छान गर्भिणी स्त्री के दाहिने नासा पुट में सुंघावें इसके पश्चात् विशेष कर गुडच ब्राह्मी औषधी और सोंठ को दूध के साथ थोड़ी २ खाया करे अधिक सोना अधिक देर तक बोलना अधिक खारा खट्टा कडुवा रेचक आदि न खाय चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे शुभाचरण करे यह पुंसवन संस्कार है ॥ २ ॥

तीसरा ३ सीमन्तोन्नयन संस्कार—यह इस लिये होता है कि स्त्री का मन सन्तुष्ट शरीर निरोग गर्भस्थिर व उत्कृष्ट होवे प्रतिदिन बढ़ता जावे गर्भमास से चौथे महीने में शुक्ल पक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे और पारस्कर गोभिलीय शौनक गृह्य सूत्रों में पुंसवन के समान छठवें वा आठवें महीने में भी पूर्वोक्त पक्ष व नक्षत्र युक्त चन्द्रमा के दिन भी सीमन्तोन्नयन संस्कार के करनेकी विधि है इसमें प्रथम वेदी के चारों ओर जल सींचे फिर आठ आहुति करे फिर खिचड़ी बनाकर बहुत घी डालकर मन्त्रों को पढ़कर आठ आहुतियां देवें फिर अधिक आहुतिया विधि में लिखे हुये अनुसार देवें । फिर मन्त्रों को पढ़कर पति अपने हाथ से अपनी स्त्री के बालों में सुगन्धित तेल डाल हाथ में उदुंबर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका या कुशा की मृदु छीपी वा सेही के कांटे से अपनी स्त्री के केशों को साफकर पट्टी निकाल जूडा बांधकर यज्ञशाला में आवै उस समय वीणा बजाकर सामवेद का गान करे फिर हवन से बची हुई खिचड़ी को लेवै और उसमें बहुत सा घृत छोडे जिसमें प्रतिबिम्ब देख पड़े उस घी में पत्नी अपना प्रतिबिम्ब देखे पति पूछे क्या देखती है स्त्री उत्तर देवै सन्तान व पुत्र को देखती हूं फिर गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खाय जो ब्राह्मणी अथवा अन्य मान्य स्त्री होवें वे आशीर्वाद देवें फिर सत्कार करके सब स्त्री पुरुष विदा किये जावें । यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है ॥ ३ ॥

चौथा ४ जातकर्म संस्कारविधि—उत्पन्न हुये बालक और स्त्री के प्रसव के समय में किये हुये संस्कार को जातकर्म संस्कार कहते हैं पारस्कर गृह्यसूत्र और आश्वलायन और शौनक गृह्य सूत्रों में लिखा है कि जब प्रसव होने का समय आवे तब अमुक मन्त्रों से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे । जब पुत्रका जन्म होय तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर और मुख नासिका आदि अङ्गों के मल को निकालकर

कोमल वस्त्र से पोंछ सुद्धकर पिता की गोद में बालक को देवें पिता एक बीता नाडी को छोड़कर सूत से बांधकर उसके ऊपर से नाडी छेदन करके कुछ गरम पानी से बालक को स्नान करावे फिर पोंछकर नवीन वस्त्र धारण करावे जिस घर में लड़का उत्पन्न हुआ है उससे बाहर जो घर में कुण्ड बना रक्खा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा रखकर अग्नि को जलाकर शुभासन पर पुरोहित बैठे और बालक का पिता पश्चिम के ओर आसन बिछा कर पूर्व को मुख करके बैठे फिर हवन करने के लिये पुरोहित को वरण करे पुरोहित आसन पर बैठकर जो मन्त्र विधि में लिखे हैं उन मन्त्रों से आज्याहुति करके वामदेव्य का गान करके ईश्वर की उपासना व ध्यान करे पीछे घी और मधु बराबर मिलाकर एक सोने की सलाका पहिले बनवा रक्खे उससे बालक की जीभ पर ओम् यह अक्षर लिखकर उसके दक्षिण कान में "वेदोऽसि" अर्थात् तू वेद है ऐसा कहकर लिखे हुये मन्त्रों से घी और मधु को थोड़ा थोड़ा सोने की शलाका से चटावे फिर पिता बालक के कान में जोमंत्र कहने को लिखे हैं उन मन्त्रों को कान में कहे पहिले दाहिने कान में कहे फिर बायें कान में कहे फिर कंधे पर हाथ धरकर मन्त्रों को पढ़े फिर मार्जन करने के लिये लिखे हैं उन मन्त्रों से प्रसूता स्त्री के शरीर को सुगंधित जल से मार्जन करे फिर आशीर्वाद के मन्त्रों से पुत्रको आशीर्वाद देवें फिर माता बालक के मुख में पहिले दाहिना स्तन फिर बाम स्तन मन्त्रों को पढ़कर देवे। यह जातकर्म संस्कार है। किसी आचार्य और ऋषिने अपने कर्मकाण्ड विधायक सूत्र में गोबर की गोरी बनाकर व कलश रखकर गोरी गणेश का पूजन, कच्ची हल्दी पीसकर कच्चे यव के आटा (पिसान) में मिलाकर उसके पिण्डे पितरों के लिये देने को नहीं लिखा। मूर्ख यजमानों के प्रसन्न करने को ब्राह्मण पुरोहितों ने यह प्रसिद्ध कर रक्खा है कि पुत्र उत्पन्न होने में पितर अपने कुलकी वृद्धि देखकर बड़े आनन्दित होते हैं यह भी सुना गया है कि कोई कहते हैं कि अति आनन्द से नादा के समान फैला हुआ पितरों का मुख होता है इसी से नान्दीमुखश्राद्ध कहते हैं। यदि यजमान मूर्ख अज्ञान न होते कर्मकाण्ड विषयक आर्ष ग्रन्थ पढ़ते और सुनते अथवा अपनी बुद्धिही से विचार करते तो कभी ऐसी मिथ्या और उन्मत्त के प्रलाप के समान कही लिखी हुई बातों को न मानते और विचार से यह निश्चय करते कि जिन सम्बन्धियों और कुटुम्बियों का संबंध जिस शरीर के साथ रहता है जब जीव उस शरीर को त्याग करता है तब उस शरीर ही के त्याग के साथ सब संबंधियों के सम्बन्ध का अन्त हो जाता है और अपने कर्म अनुसार जीव अन्य शरीर को अवश्य प्राप्त होता है अन्य शरीर प्राप्तहुये को न पूर्व जन्म के पुत्र आदि के पुत्रादि होने का ज्ञान हो सकता है और न वह वहां आ सकता है यदि ऐसा ज्ञान हो सकता और जीव आ सकता तो पुरोहित और यजमान जो जातकर्म में पितरों के लिये पिण्डदान कराता और करता है तब वो भी अपने पूर्व जन्म के पुत्र पौत्रों के पुत्र आदि होने का ज्ञान

करनेवाले पदार्थों को यथा गुडच ब्राह्मी आदि औषधियों को मिलावे । ऐसा आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा पारस्कर, गोभिलीय और शौनक गृह्यसूत्रों में लिखा है। जैसा संस्कार विधि में लिखा है उस प्रकार से यज्ञशाला यज्ञ कुण्ड यज्ञ की समिधा होम के द्रव्य पाकस्थली आदि करके मन्त्रों से आहुति देकर एकान्त में पति पत्नी के हृदय में हाथ धर कर "ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्त." इत्यादि इस मन्त्र को पढ़े फिर सामवेद आर्चिक और महावामदेव्य का गान करके सब आये हुओं को विदा करे फिर वट वृक्ष के कोमल कोपल और गिलोय को महीन बांट कपड़े में छान गर्भिणी स्त्री के दाहिने नासा पुट में सुघावें इसके पश्चात् विशेष कर गुडच ब्राह्मी औषधी और सोंठ को दूध के साथ थोडी २ खाया करें अधिक सोना अधिक देर तक बोलना अधिक खारा खट्टा कडुवा रेचक आदि न खाय चित्त को सदा प्रसन्न रक्खे शुभाचरण करे यह पुंसवन संस्कार है ॥ २ ॥

तीसरा ३ सीमन्तोन्नयन संस्कार—यह इस लिये होता है कि स्त्री का मन सन्तुष्ट शरीर निरोग गर्भस्थिर व उत्कृष्ट होवे प्रतिदिन बढता जावे गर्भमास से चौथे महीने में शुक्ल पक्ष में जिस दिन मूल आदि पुरुष नक्षत्रों से युक्त चन्द्रमा हो उसी दिन सीमन्तोन्नयन संस्कार करे और पारस्कर गोभिलीय शौनक गृह्य सूत्रों में पुंसवन के समान छठवें वा आठवें महीने में भी पूर्वोक्त पक्ष व नक्षत्र युक्त चन्द्रमा के दिन भी सीमन्तोन्नयन संस्कार के करने की विधि है इसमें प्रथम वेदी के चारों ओर जल सींचे फिर आठ आहुति करे फिर खिचडी बनाकर बहुत घी डालकर मन्त्रों को पढकर आठ आहुतियां देवें फिर अधिक आहुतियां विधि में लिखे हुये अनुसार देवे। फिर मन्त्रों को पढकर पति अपने हाथ से अपनी स्त्री के बालों में सुगन्धित तेल डाल हाथ में उदुंबर अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीवी वा सेही के कांटे से अपनी स्त्री के केशों को साफकर पट्टी निकाल जूडा बांधकर यज्ञशाला में आवे उस समय वीणा बजाकर सामवेद का गान करे फिर हवन से बची हुई खिचडी को लेवे और उसमें बहुत सा घृत छोडे जिसमे प्रतिबिम्ब देख पडे उस घी में पत्नी अपना प्रतिबिम्ब देखे पति पूछे क्या देखती है स्त्री उत्तर देवे सन्तान व पुत्र को देखती हूं फिर गर्भिणी स्त्री उस खिचडी को खाय जो ब्राह्मण की अथवा अन्य मान्य स्त्री होवें वे आशीर्वाद देवें फिर सत्कार करके सब स्त्री पुरुष विदा किये जावें। यह सीमन्तोन्नयन संस्कार है ॥ ३ ॥

चौथा ४ जातकर्म संस्कारविधि—उत्पन्न हुये बालक और स्त्री के प्रसव के समय में किये हुये संस्कार को जातकर्म संस्कार कहते हैं पारस्कर गृह्यसूत्र और आश्वलायन और शौनक गृह्य सूत्रों में लिखा है कि जब प्रसव होने का समय आवे तब अमुक मन्त्रों से गर्भिणी स्त्री के शरीर पर जल से मार्जन करे। जब पुत्र का जन्म होय तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग बालक के शरीर और मुख नासिका आदि अङ्गों के मल को निकालकर

कोमल वस्त्र से पोंछ पुछकर पिता की गोद में बालक को देवें पिता एक वीता नाडी को छोड़कर सूत से बांधकर उसके ऊपर से नाडी छेदन करके कुछ गरम पानी से बालक को स्नान करावे फिर पोंछकर नवीन वस्त्र धारण करावे, जिस घर में लडका उत्पन्न हुआ है उससे बाहर जो घर में कुण्ड बना रक्खा हो अथवा तांबे के कुण्ड में समिधा रखकर अग्नि को जलाकर शुभासन पर पुरोहित बैठे और बालक का पिता पश्चिम के ओर आसन बिछा कर पूर्व को मुख करके बैठे फिर हवन करने के लिये पुरोहित को वरण करे पुरोहित आसन पर बैठकर जो मन्त्र विधि में लिखे हैं उन मन्त्रों से आज्याहुति करके वामदेव्य का गान करके ईश्वर की उपासना व ध्यान करे पीछे घी और मधु बराबर मिलाकर एक सोने की सलाका पहिले बनवा रक्खे उससे बालक की जीभ पर ओम् यह अक्षर लिखकर उसके दक्षिण कान मे "वेदोऽसि" अर्थात् तू वेद है ऐसा कहकर लिखे हुये मन्त्रो से घी और मधु को थोड़ा थोड़ा सोने की शलाका से चटावे फिर पिता बालक के कान में जो मन्त्र कहने को लिखे है उन मन्त्रों को कान में कहे पहिले दाहिने कान में कहे फिर बायें कान में कहे फिर कंधे पर हाथ धरकर मन्त्रों को पढ़े फिर मार्जन करने के लिये लिखे है उन मन्त्रों से प्रसूता स्त्री के शरीर को सुगन्धित जल से मार्जन करे फिर आशीर्वाद के मन्त्रों से पुत्रको आशीर्वाद देवे फिर माता बालक के मुख में पहिले दाहिना स्तन फिर बाम स्तन मन्त्रों को पढकर देवे। यह जातकर्म संस्कार है। किसी आचार्य और ऋषिने अपने कर्मकाण्ड विधायक सूत्रों में गोबर की गौरी बनाकर घी कलश रखकर गौरी गणेश का पूजन, कच्ची हल्दी पीसकर कच्चे यव के आटा (पिसान) में मिलाकर उसके पिण्डे पितरों के लिये देने को नहीं लिखा। मूर्ख यजमानो के प्रसन्न करने को ब्राह्मण पुरोहितों ने यह प्रसिद्ध कर रक्खा है कि पुत्र उत्पन्न होने में पितर अपने कुलकी वृद्धि देखकर बड़े आनन्दित होते है यह भी सुना गया है कि कोई कहते हैं कि अति आनन्द से नादा के समान फैला हुआ पितरों का मुख होता है इसी से नान्दीमुखश्राद्ध कहते हैं। यदि यजमान मूर्ख अज्ञान न होते कर्मकाण्ड विषयक आर्ष ग्रन्थ पढ़ते और सुनते अथवा अपनी बुद्धिही से विचार करते तो कभी ऐसी मिथ्या और उन्मत्त के प्रलाप के समान कही लिखी हुई बातों को न मानते और विचार से यह निश्चय करते कि जिन सम्बन्धियों और कुटुम्बियों का सम्बन्ध जिस शरीर के साथ रहता है जब जीव उस शरीर का त्याग करता है तब उस शरीर ही के त्याग के साथ सब सम्बन्धियों के सम्बन्ध का अन्त हो जाता है और अपने कर्म अनुसार जीव अन्य शरीर को अवश्य प्राप्त होता है अन्य शरीर प्राप्त हुये को न पूर्व जन्म के पुत्र आदि के पुत्रादि होने का ज्ञान हो सकता है और न वह वहां जा सकता है यदि ऐसा ज्ञान हो सकता और जीव जा सकता तो पुरोहित और यजमान जो जातकर्म में पितरों के लिये पिण्डदान कराता और करता है उन को भी अपने पूर्व जन्म के पुत्र पौत्रों के पुत्र आदि होने का ज्ञान

व स्मरण होता और वे वहा जाते परन्तु जब ऐसा नहीं होता तब अपने पुत्र होने में अपने मरे हुये और अन्य शरीरों में प्राप्त हुये पूर्वजों के आने और पिण्ड ग्रहण करने का निश्चय करना केवल अज्ञान ही हे जो पितृलोक और पितरों का वर्णन आर्ष ग्रंथों में है वह पितृ लोक सब मनुष्यों के मरे हुये पिता पिता मह जो पितृ शब्द से वाच्य होते हैं उनका लोक नहीं है देवलोक से न्यून पितृ लोक भी एक उत्कृष्ट लोक विशेष हे उत्तम धर्माचरण करने वाले और यज्ञ विशेष करने वाले सहस्त्रों और लाखों में से कोई मनुष्य उस पितृलोक को प्राप्त होता है अन्य सब मरने पर अपने पुण्य व पाप कर्म अनुसार उत्कृष्ट व निकृष्ट योनियों में जन्म धारण करते हैं। यह कहना केवल पाखण्ड जाल है कि मरे हुये पितर पिण्ड ग्रहण करने को आते हैं और ऐसा मानना महा मूर्खता है। यदि जातकर्म के पिण्डदान करने वाले जेसा विश्वास करते हैं वही सत्य होता तो भी जैसा जातकर्म में पिण्डदान किया जाता है यह केवल यजमान को मूर्ख बनाकर अनुचित कर्म कराना है क्योंकि कच्ची हरदी मिलाकर कच्चे आटा पिसान) और बेर के पिण्ड जो पितरों को दिये जाते हैं यही भोजन पिण्डदान करनेवाले और पुरोहित को कराया जाय तो सम्भव हे कि वे वमन करदेवें यह पितरों का कितना बड़ा निरादर है कि पुत्र के जन्म में आप और पुरोहित उत्तम भोजन करें और पितरों को ऐसा निकृष्ट भोजन दिया जाय । पितरों को आनन्द क्या होता होगा ऐसे भोजन को पाकर और अपना निरादर समझकर महा दुःख को प्राप्त होते होंगे। निकृष्ट द्रव्य गोबर की गौरी अर्थात् श्रेष्ठ पूज्य महादेव जी की स्त्री बनाई जाती है श्रेष्ठ की मूर्ति श्रेष्ठ पदार्थ की होना चाहिये निकृष्ट वस्तु की बनी हुई अपनी मूर्ति को देखकर पार्वती जी सिवाय अप्रसन्न होने के प्रसन्न नहीं हो सकती ऐसे मूर्खता के कर्म त्यागने ही योग्य हैं कर्तव्य नहीं हैं॥

इति जात कर्म व्याख्यानम्

पांचवाँ नाम करण संस्कार है जिसमें उत्पन्न हुये बालक वा कन्या का नाम रक्खा जाता हे जन्म के दिन से दश दिन के पश्चात् ग्यारहवें दिन या बारहवें नाम रक्खे जिस दिन नाम करण करना हो उस दिन अपने मित्र हितैषी सम्बन्धियों को बुला सत्कारकर बालक का पिता और ऋत्विज (यजमान के लिये यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण) क्रिया का प्रारम्भ करें ईश्वरोपासन स्वस्तिवाचन शान्तिकरण करके अग्न्याधान करके यथा विधि आहुति करे इसके पश्चात् बालक को स्नान करा शुद्ध वस्त्र धारण कराके उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से दक्षिण के भागसे आकर बालक का शिर उत्तर दिशामें रखकर बालक को लेकर बेठे फिर हवन करे "ओं प्रजापतये स्वाहा" यह कह कर एक आहुति देकर पीछे जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक उत्पन्न हुआ हो उस तिथि नक्षत्र और तिथि नक्षत्र के देवताओं के नाम लेकर चार २ घी की आहुतियां देवे फिर स्विष्ट कृत मन्त्र से एक आहुति और यथा विधि जैसा संस्कार विधि में

लिखा है आहुतियों को देकर पिता बालक के नासिका से निकलते हुये वायु का स्पर्श करके संस्कार विधि में लिखे अनुसार यजुर्वेद के मन्त्र को पढ़कर जो नाम ठहराया गया हो वह नाम रक्खे नाम ठहराने और रखने की विधि यह है कि जो पुत्र हो तो दो चार छ पूरे अक्षरों का नाम रक्खे और उस नाम में क-वर्ग आदि जो पाँच वर्ग ह उन वर्गों के पहिले और दूसरे अक्षरों को छोड कर तीसरा चोथा पांचवां अक्षर नाम में अवश्य आना चाहिये और ब्राह्मण हो तो नाम के पीछे शर्मा क्षत्रिय हो तो वर्मा वेश्य हो तो गुप्त और शूद्र हो तो दास कहना चाहिये जो स्त्री हो तो एक तीन पाच ऊन अक्षरका नाम रखना चाहिये॥

नामकरण के पश्चात् वाम देव्य का गान करे फिर आये मनुष्यों को आदर सत्कार करके विदा करे चलते हुये सब लोग ईश्वर की स्तुति करके बालक को आशीर्वाद देवे ॥

इससे अन्यथा और अधिक करने की विधि प्रक्षिप्त मन. कल्पित है वह कर्तव्य नहीं है॥

छठवा निष्क्रमण संस्कार विधि—इस संस्कार में बालक को घर से बाहर निकाल कर जहा शुद्ध वायु का स्थान हो वहां भ्रमण कराना होता है इसका समय जब अच्छा देखे तब करे आश्वलायन आचार्य ने चोथे महीना में करने को लिखा है पारस्कर आचार्य ने तीसरे महीना शुक्लपक्ष की तृतीया को अथवा चौथे महीनामें जिस तिथि को बालक का जन्म हुआ हो उस दिन यह संस्कार करने को लिखा है॥

इस संस्कार के दिन प्रात काल सूर्य के उदय होने के पश्चात् बालक को स्नान करा कर अच्छे वस्त्र पहिनावे फिर माता यज्ञशाला में लावे फिर यथा विधि आहुति देवें फिर मन्त्रों को पढ़कर पुत्र के शिर को स्पर्श करे और जो मन्त्र कान में जपने के लिये लिखे हैं उनको बालक के दाहिने कान में फिर बायें कान में जपे फिर बालक को सूर्य का दर्शन करावे और उस समय मन्त्र पढे मन्द मंद पढ़ थोडा सा घुमा कर यज्ञशाला में ला सब लोग त्वजीवशरदः शतंवर्धमानः यह कह कर आशीर्वाद देवे फिर आये हुयों का सत्कार करके विदा करें फिर रात्रि को चन्द्रमा के प्रकाश में संस्कार विधि में लिखे हुये अनुसार माता बालक को उत्तर दिशा को शिर करके पिता को देवे और अंजलि में जल भर के चन्द्रमा के सन्मुख होकर मंत्र पढकर जल को पृथ्वी में छोड देवे॥ यह निष्क्रमण संस्कार है

सातवा ७ अन्नप्राशन विधि है—इसमें बालक को अन्न भोजन कराया जाताहै आश्वलायन गृह्य सूत्र में लिखा है कि छठवें महीना बालक को दही मधु (शहद) घी मिला हुआ अन्न खिलावे अर्थात् भात में दही घी और मधु मिलाकर अन्न प्राशन करावे अन्नप्राशन इस विधि से करावे।कि चावलों को शुद्ध करके पका-

पहिले मन्त्रों को पढ़कर घी मिलाकर आहुति देवे यथाविधि आहुतियां के देने के पश्चात् बालक को खिला के उसका मुख धो देवे उसके पश्चात् जो आये हों वे त्वमन्नपतिरन्नादोभूयाः यह कह कर आशीर्वाद देवे ॥

अठवां ८ चूड़ा कर्म संस्कार विधि है—इसी को मुंडन संस्कार भी कहते हैं यह संस्कार गृह्य सूत्रों में एक वर्ष से वा तीसरे वर्ष में उत्तरायण काल व शुक्ल पक्ष में करने को लिखा है इसमें यथाविधि हवन करके मन्त्रों से आहुतियों को देकर फिर मन्त्र को पढ़ कर नाऊ से बालक के शिर के केशों का मुण्डन करावे यथायोग नाई को धन और वस्त्र देवे और नाई बाल कुशा समीपत्र और गोबर लेकर गड्ढा खोद कर जङ्गल में गाड देवे मुंडन के पश्चात् वामदेव का गान करे और सब लोग बालक को आशीर्वाद देवें ॥

नवां ९ कर्णवेध संस्कार विधि है—इसमें बालक के कान छेदे जाते हैं इसमें जिस दिन कर्णवेध कराना हो उस दिन बालक को शुद्ध जल से स्नान कराके वस्त्र धारण कराके माता यज्ञशाला में लावें वहां लिखे हुये विधि से आहुति देवे फिर बालक के सामने कुछ खाने का पदार्थ और खिलौना धर के अच्छे वैद्य से जो नाडी बचा कर छेदन करे कर्णवेध वा नासिका वेध करावे पहिले मन्त्र पढ कर दाहिने कान में फिर बायें कान का मन्त्र पढ़कर बायें कान में कर्ण वेध करावे फिर वैद्य उसमें ऐसी औषधी लगावे जिसमें कान जल्द अच्छे हो जावें ॥

दशवां १० उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार है—यह संस्कार ब्राह्मण को जन्म से अथवा गर्भ से आठवें वर्ष क्षत्रिय को ग्यारहवें वर्ष वैश्य को बारहवें वर्ष करना चाहिये किसी कारण से इन उक्त कालों में न हो सके तो ब्राह्मण का सोलह वर्ष तक क्षत्रियका बाईस २२ वर्ष तक और वैश्य का चोबीस वर्ष तक अवश्य यज्ञोपवीत होना चाहिये इतने काल में न हो तो उनको पतितवर्ण से भ्रष्ट मानना चाहिये ऐसा आश्वलायन गृह्य सूत्र और पारस्करादि गृह्य सूत्रों में वर्णन है मनुस्मृति में यह लिखा कि जिसको शीघ्र विद्या और व्यवहार में उन्नति करने की इच्छा हो और बालक बुद्धि में तीव्र होना विदित हो तो ब्राह्मण के बालक का जन्म अथवा गर्भ से पांचवे तथा क्षत्रिय के बालक का छठवें वैश्य के आठवें वर्ष यज्ञोपवीत करे प्रमाण यह है ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यंविप्रस्यपंचमे राज्ञोबलार्थिन. षष्ठेवैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

अर्थ—ब्रह्म तेज की इच्छा करने वाले ब्राह्मण का पांचवें वर्ष में बल की इच्छा करने वाले राजा का (क्षत्रिय का) छठवे वर्ष व्यवहार की इच्छा करने वाले वैश्य का आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करे ॥

यज्ञोपवीत करे यह अर्थ पूर्व सम्बन्ध से ग्रहण किया जाता है । ब्राह्मण का

वसन्त क्षत्रिय का ग्रीष्म वैश्य का शरद ऋतु में यज्ञोपवीत प्रात काल के समय में करना चाहिये यह विशेष काल है और अन्य ऋतुओं में भी हो सकता है॥

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि जिस दिन यज्ञोपवीत हो उससे पहिले तीन व्रत वा एकही व्रत बालक को कराना चाहिये। ब्राह्मण का बालक व्रत में दुग्ध पान करके रहे दुग्ध एकवार वा कईवार पान कर सकता है। क्षत्रिय का बालक यवागू पीकर व्रत करे यवागू यव के आटा व गुड का कढ़ी के समान बनाया जाता है वैश्य का बालक आमिक्षा को पान करके व्रत करे आमिक्षा दूध के साथ दूध से चोगुना दही और यथा योग्य शक्कर केशर डाल के कपडे में छान कर बनाया जाता है। यज्ञोपवीत के दिन हवन की सब सामग्री शुद्ध करके इकट्ठी कर रक्खे। प्रात काल बालक के बाल बनवा कर स्नान करा के शुद्ध वस्त्र धारण कराके यज्ञमण्डप में कुछ मिष्ठान भोजन कराके पिता वा आचार्य वेदी के पास बालक को पश्चिम भाग में पूर्व को मुख किये हुये बैठावे फिर यथाविधि आहुति करावें और आचार्य बालक को मन्त्र पढा कर यज्ञोपवीत धारण करावे और जेसा विधि में लिखा है उस प्रकार से आचार्य और बालक प्रतिज्ञा करें व करावें। इसी उपनयन संस्कार में वेदारंभ संस्कार होता है इसमें वेद के पढने का आरंभ किया जाता है गायत्री मन्त्र से लेकर साङ्गोपाङ्ग चारो वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण किया जाता है जिस दिन यज्ञोपवीत होना है उसी दिन वेदारंभ भी किया जाता है उस दिन न हो तो उसके दूसरे दिन करना चाहिये किसी कारण से न हो सके तो वर्ष के भीतर करना चाहिये। वेदारंभ यज्ञोपवीत के साथ ही किया जाता है इससे पृथक नहीं समझा जाता और जो किसी कारण से पृथक किया जाता है तो संख्या में सत्तरह संस्कार हो जाते है नहीं सोलह संस्कार होते हैं जिस दिन वेदारंभ करना हो उस दिन प्रात काल स्नान करा शुद्ध वस्त्र धारण कराके पिता वा आचार्य बालक को वेदी के पास लाकर बैठे ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना स्वस्ति वाचन शान्तिकरण करके मन्त्रों को पढ़कर अग्न्याधान (अग्नि स्थापन) समिदाधान (लकडियों का स्थापन) करे मन्त्रों को पढ़ कर वेदी के चारो ओर जल सींचे फिर आहुतियों को देवे अर्थात् आघारावाज्यभागाहुति आज्याहुति स्विष्टकृत आहुति प्रजापत्याहुति इन आहुतियों को बालक से दिलाना चाहिये यथाविधि हवन करके बालक आचार्य से उपदेश करने को प्रार्थना करे तब आचार्य प्रथमवार ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् इतने टुकडे के एक एक पद को शुद्ध उच्चारण बालक से कराके दूसरी वार ओम् भूर्भुव. स्व । तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि इतना एक एक पद यथावत् धीरे धीरे उच्चारण करवा के तीसरी वार ओ भूर्भुव स्व तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न. प्रचोदयात् धीरे २ कहलाकर इसका अर्थ भी

आदि और यज्ञ के सब पात्र रख लेवें समावर्तन के दिन ऋत्विज यज्ञ कुण्डके पास बैठ कर ईश्वर का स्मरण ध्यान स्वस्ति वाचन शान्तिकरण करें फिर अग्न्याधान करके आघारावाज्यभागाहुति आदि आहुतियों को देवें फिर सुगंध आदि औषधि युक्त जल से भरे आठ घडे वेदी के उत्तर भाग में जो पहिले ही रख दिये जावें उनमें से ओं ये अप्स्वन्तरग्नय. इत्यादि मन्त्र को पढकर एक घडे को ग्रहण करके उस में से जल लेके ओं तेन मामभिषिञ्चामि इत्यादि मन्त्र से ब्रह्मचारी स्नान करे फिर उसी मन्त्र को पढकर दूसरे घडे को ले उसमें से लोटा में जल लेकर दूसरे मन्त्रसे जो संस्कार विधि में लिखा है स्नान करे इसी प्रकार मन्त्रों को पढकर सब घडों से स्नान करे फिर ब्रह्मचारी ओं उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमम् ॥ इत्यादि इस मन्त्र को बोल के अपनी मेखला और दण्ड को छोड देवे और सूर्य्य के सम्मुख खडा होकर परमात्मा का उपस्थान स्तुति करके कुछ दही व तिल खा कर जटा लोम और नखों को कटावें केशों को छुरे से साफ करावे फिर दातौन कर सुगंधद्रव्य शरीर पर मलकर शुद्ध जलसे स्नान कर शरीरको पोंछकर धोती या पीताम्बर धारण करे फिर सुगंध युक्त चन्दन आदि लगा कर हाथ में जल लेकर अपसव्य व दक्षिण मुख होकर मन्त्र पढकर जलभूमि में छोडकर सव्य हो के फिर ओं चक्षुरसि चक्षुर्भ्यां इत्यादि मन्त्र का जप करके अन्य ओं परिधास्यै इत्यादि मन्त्रों को पढकर उत्तम वस्त्र माला पगडी दुपटा छत्र जूता आदि को धारण करे फिर जब अपने घरमें आवे उसके माता व पिता अति आनन्द से बडे मान्यप्रतिष्ठा उत्साह से घर लावें और आचार्य को बुला उसके माता व पिता उत्तम आसन पर बैठा कर माला वस्त्र गोदान धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देवें ॥

बारहवां १२ विवाह संस्कार है—जो सन्तानोत्पत्ति स्त्री व पुरुष संयोग जन्य सुख और अपने अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिये स्त्री व पुरुष का परस्पर की प्रतिज्ञासे प्रतिज्ञाके अनुकूल रहने से सम्पूर्ण आयु के लिये दृढ सम्बंध होता है उसको विवाह कहते हैं आश्वलायन और गोभिलीय गृह्य सूत्र में उत्तरायण सूर्य में शुक्लपक्ष में पुण्य नक्षत्र में विवाह करने को लिखा है कोई कोई आचार्यों का ऐसा मत है कि सब काल में विवाह होना चाहिये परन्तु यह मत प्रचरित नहीं है जिस अग्नि का स्थापन विवाह में होता है उसको आवसथ्य कहते हैं जिस दिन विवाह नियत हो उस दिन जैसा ऋषियों की सम्मति के अनुकूल विवाह की विधि गृह्य सूत्र आदि व वेद मन्त्रों में वर्णित है उस प्रकार से मण्डप में यज्ञ कुण्ड में आहुतियों को देकर विवाह संस्कार करके पति स्त्री का पाणिग्रहण करे और स्त्री व पति दोनों पतिव्रत और पत्नीव्रत धर्म निर्वाह करने की प्रतिज्ञा करे विवाह

संस्कार का बहुत विस्तार है यह ग्रन्थ कर्मकाण्ड व संस्कारों के वर्णन का नहीं है केवल ऋषियों की सम्मति के अनुसार षोडश संस्कार कौन कौन हैं यह विज्ञापनमात्र के लिये षोडश संस्कारों के नाम और संक्षेप से उनके विधि का वर्णन करदिया गया है विवाह संस्कार प्रसिद्ध कर्म है जो प्राय लोक में करना पडता है इस संस्कार में केवल उतना अंश त्याग देना चाहिये जो आधुनिकों ने अपने मन की कल्पना से कोई विधि अधिक करदिया है और जो विधि कम करदिया हो उसको संस्कार में योजित करना चाहिये अयुक्त और मिथ्या संस्कार की विधि इस प्रकार की त्याग करने के योग्य है जैसे गोबर की गौरी की मूर्ति स्थापन करके पूजना कलश गणेश की पूजा करना योगिन से सोहाग लेने की विधि जो इस देश में अनुचित प्रचरित होगई है इत्यादि—

तेरहवां १३ गृहाश्रम संस्कार विधि है—यह वह संस्कार है जो सांसारिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये विवाह करके यथाशक्ति परोपकार में प्रवृत्त होने और नियत काल में ईश्वर की उपासना और गृह कृत्य करने धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति और धर्माचरण करने के नियम पालने के लिये किया जाता है गृहाश्रम में स्थित अपने आत्मा को किन उत्तम गुण व कर्मों के संस्कार से युक्त करै उनको संक्षेप में वर्णन करते हैं—गृहस्थ को पञ्च यज्ञ नित्य करना चाहिये अर्थात् ब्रह्मयज्ञ १ देवयज्ञ २ पितृ यज्ञ ३ अतिथियज्ञ ४ भूतयज्ञ ५ ये पांच यज्ञ करना चाहिये यज्ञ शब्द का अर्थ देवपूजा संगति करना और दान देना होता है। ब्रह्म वेद व परमात्मा का नाम है इससे वेद पढना और सन्ध्योपासन में ब्रह्म परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करना ब्रह्मयज्ञ है सन्ध्योपासन इस प्रकार से करना चाहिये कि प्रथम प्रात काल उठकर परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करै फिर शौच दन्तधावन मुख प्रक्षालन स्नान करके सन्ध्योपासन करै। प्रात काल व सायंकाल दोनों को सन्ध्या कहते हैं क्योंकि रात्रि के व्यतीत होने और दिन होने में जब तक सूर्य का उदय अच्छे प्रकार से नहीं होजाता तब तक दोनों के मेल व बीच का समय होने से सन्ध्या समय वाच्य होता है ऐसेही सायंकाल में जब तक पूर्णता से रात्रि न होजाय कुछ भी प्रकाश रहने तक कुछ दिन का भी मेल रहने से सन्ध्या समय कहा जाता है इन समयों में परमात्मा का उपासना करना सन्ध्योपासन कहा जाता है। सन्ध्योपासन की विधि यह है कि दक्षिण हाथ में पहिले जल लेकर ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ ओ३म् सत्यंयशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक एक से एक एक आचमन कर दोनों हाथ धो कान नेत्र नासिका आदि को स्पर्श कर पवित्र स्थान व आसन पर बैठकर प्राणायाम करै अधिक न होसके तो तीन प्राणायाम अवश्य करै और हृदय में परमात्मा की स्तुती प्रार्थना करके ओ३म् शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये

र्भ्यंयोरभिस्रवन्तु न' ॥ यजु० अ० ३६ इस मन्त्र को पढकर तीनवार आचमन करे फिर जो जलपात्र रक्खा हो उसमें मध्यमिका अनामिका अंगुलियों से जल का स्पर्श करके दाहिने फिर बायें भाग के इन्द्रियों और अङ्गों को निम्न लिखे प्रकार से स्पर्श करे ओ वाक् वाक् इस मन्त्र से मुख के दक्षिण और वाम भाग को ओ प्राण. प्राण. इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र को ओ चक्षु चक्षु इससे क्रम से नेत्रों को ओ श्रोत्रं श्रोत्रम् इससे कानों को ओ नाभि इससे नाभि को ओं हृदयम् इससे हृदय को वैसेही ओं कण्ठ. से कण्ठ ओं शिर से शिर ओं बाहुभ्यां यशोबल से दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध को ओ करतल कर पृष्ठे से दोनों हाथों के ऊपर व नीचे करके मार्जन करे ओ भू' पुनातु शिरसि इससे शिर पर मार्जन करे ऐसे ही ओ भुव पुनातु नेत्रयो. इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ओ स्व: पुनातु कण्ठे इससे कण्ठ पर ओ मह' पुनातु हृदये इससे हृदय पर ओं जन. पुनातु नाभ्याम् इससे नाभि पर ओ तप पुनातु पादयोः इससे दोनों पदों पर ओं सत्यं पुनातु पुन' शिरसि इससे फिर मस्तक पर ओ स्व. पुनातु सर्वत्र इससे सब अङ्गों पर कुशा से जल के छींटे देवै फिर प्राणायाम करे और आगे लिखे हुये मन्त्र का जप भी करता जाय ओंभू ओं भुव. ओं स्व' ओं मह. ओजन ओं तप ओं सत्यम् इसी प्रकार से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करै फिर सर्व व्यापक परमात्मा न्यायकारी को सब का अन्तर्यामी कर्मफल दाता सर्वज्ञ जानकर सदा धर्म युक्त रहे और अधर्म से भय करता रहैं और वेद मन्त्रों के लेखानुसार श्रद्धा व भक्ति से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति व प्रार्थना करे और ऐसे ही सदा परमेश्वर को सब स्थान में व्यापक व द्रष्टा निश्चय करके उत्तम आचरण व परमेश्वर की उपासना मे निष्ठ रहना चाहिये ॥

उक्त प्रकार से सन्ध्योपासन और परमेश्वर को नमस्कार करके उक्त आचमन के मन्त्र से तीनवार आचमन करके अग्निहोत्र का आरभ करे ॥

प्रात काल व सायंकाल दोनों समय में अग्नि होत्र करना यह दूसरा देव यज्ञ है अग्निहोत्र करने के मन्त्र पञ्चमहायज्ञ विधि में लिखे हैं उनका पढकर होम करे तीसरा पितृ यज्ञ है जीते हुये पिता माता पितामह आदि अपने मान्य सेवनीय गुरु जनो की सेवा सत्कार करना उनको प्रसन्न रखना आज्ञापालन करना यही पितृ यज्ञ है जैसे आये हुये सत्पुरुष विद्वान् धर्मात्मा ब्रह्मचारी वान-

संस्कार का बहुत विस्तार है यह ग्रन्थ कर्मकाण्ड व सस्कारों के वर्णन का नहीं है केवल ऋषियों की सम्मति के अनुसार षोडश सस्कार कौन कौन हैं यह विज्ञापनमात्र के लिये षोडश सस्कारों के नाम और स क्षेप से उनके विधि का वर्णन करदिया गया है विवाह सस्कार प्रसिद्ध कर्म है जो प्रायः लोक में करना पडता है इस सस्कर में केवल उतना अंश त्याग देना चाहिये जो आधुनिकों ने अपने मन की कल्पना से कोई विधि अधिक करदिया है और जो विधि कम करदिया हो उसको सस्कार में योजित करना चाहिये अयुक्त और मिथ्या सस्कार की विधि इस प्रकार की त्याग करने के योग्य है जैसे गोबर की गौरी की मूर्ति स्थापन करके पूजना कलश गणेश की पूजा करना धोबिन से सोहाग लेने की विधि जो इस देश में अनुचित प्रचरित होगई है इत्यादि—

तेरहवां १३ गृहाश्रम स स्कार विधि है—यह वह सस्कार है-जो साँसारिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति के लिये विवाह करके यथाशक्ति परोपकार में प्रवृत्त होने और नियत काल में ईश्वर की उपासना और गृह कृत्य करने धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति और धर्माचरण करने के नियम पालने के लिये किया जाना है गृहाश्रम में स्थित अपने आत्मा को किन उत्तम गुण व कर्मों के सस्कार से युक्त करैं उनको सक्षेप में वर्णन करते हैं-गृहस्थ को पञ्च यज्ञ नित्य करना चाहिये अर्थात् ब्रह्मयज्ञ १ देवयज्ञ २ पितृ यज्ञ ३ अतिथियज्ञ ४ भूतयज्ञ ५ ये पाच यज्ञ करना चाहिये यज्ञ शब्द का अर्थ देवपूजा सगति करना और दान देना होता है। ब्रह्म वेद व परमात्मा का नाम है इससे वेद पढना और सन्ध्योपासन में ब्रह्म परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करना ब्रह्मयज्ञ है सन्ध्योपासन इस प्रकार से करना चाहिये कि प्रथम प्रात काल उठकर परमेश्वर की उपासना और प्रार्थना करै फिर शौच दन्तधावन मुख प्रक्षालन स्नान करके सध्योपासन करै। प्रात काल व सायकाल दोनो को सन्ध्या कहते हैं क्योकि रात्रिके व्यतीत होने और दिन होने में जब तक सूर्य का उदय अच्छे प्रकार से नहीं होजाता तब तक दोनों के मेल व बीच का समय होने से सन्ध्या समय वाच्य होता है ऐसेही सायकाल में जब तक पूर्णता से रात्रि न होजाय कुछ भी प्रकाश रहने तक कुछ दिन का भी मेल रहने से सन्ध्या समय कहा जाता है इन समयों में परमात्मा का उपासना करना सन्ध्योपासन कहा जाता है। सन्ध्योपासन की विधि यह है कि दक्षिण हाथ में पहिले जल लेकर ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ ओं सत्यंयशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक एक से एक एक आचमन कर दोनों हाथ धो कान नेत्र नासिका आदि को स्पर्श कर पवित्र स्थान व आसन पर बैठकर प्राणायाम करै अधिक न होसके तो तीन प्राणायाम अवश्य करै और हृदय में परमात्मा की स्तुती प्रार्थना करके ओंशन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये

शंयोरभिस्रवन्तुनः ॥ यजु० अ० ३६ इस मन्त्र को पढकर तीनवार आचमन करे फिर जो जलपात्र रक्खा हो उसमें मध्यमिका अनामिका अंगुलियों से जल का स्पर्श करके दाहिने फिर बायें भाग के इन्द्रियों और अङ्गों को निम्न लिखे प्रकार से स्पर्श करे ओं वाक् वाक् इस मन्त्र से मुख के दक्षिण और वाम भाग को ओं प्राणः प्राणः इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र को ओं चक्षु चक्षु इससे क्रम से नेत्रों को ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् इससे कानों को ओं नाभि इससे नाभि को ओं हृदयम् इससे हृदय को ऐसेही ओं कण्ठः से कण्ठ ओं शिरः से शिर ओं बाहुभ्यां यशोबलं से दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध को ओं करतल कर पृष्ठे से दोनों हाथों के ऊपर व नीचे करके मार्जन करे ओं भूः पुनातु शिरसि इससे शिर पर मार्जन करे ऐसे ही ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर ओं स्वः पुनातु कण्ठे इससे कण्ठ पर ओं महः पुनातु हृदये इससे हृदय पर ओं जनः पुनातु नाभ्याम् इससे नाभि पर ओं तपः पुनातु पादयोः इससे दोनों पदों पर ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि इससे फिर मस्तक पर ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र इससे सब अङ्गों पर कुशा से जल के छींटे देवै फिर प्राणायाम करे और आगे लिखे हुये मन्त्र का जप भी करता जाय ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम् इसी प्रकार से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करै फिर सर्व व्यापक परमात्मा न्यायकारी को सब का अन्तर्यामी कर्मफल दाता सर्वज्ञ जानकर सदा धर्म युक्त रहे और अधर्म से भय करता रहै और वेद मन्त्रों के लेखानुसार श्रद्धा व भक्ति से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति व प्रार्थना करे और ऐसे ही सदा परमेश्वर को सब स्थान में व्यापक व दृढ़ निश्चय करके उत्तम आचरण व परमेश्वर की उपासना में निष्ठ रहना चाहिये ॥

उक्त प्रकार से सन्ध्योपासन और परमेश्वर को नमस्कार करके उक्त आचमन के मन्त्र से तीनवार आचमन करके अग्निहोत्र का आरंभ करे ॥

प्रातःकाल व सायंकाल दोनों समय में अग्नि होत्र करना यह दूसरा देव यज्ञ है अग्निहोत्र करने के मन्त्र पञ्चमहायज्ञ विधि में लिखे हैं उनको पढकर होम करे तीसरा पितृ यज्ञ है जीते हुये पिता माता पितामह आदि अपने मान्य सेवनीय गुरु जनों की सेवा सत्कार करना उनको प्रसन्न रखना आज्ञापालन करना यही पितृ यज्ञ है जैसे आये हुये सत्पुरुष विद्वान् धर्मात्मा ब्रह्मचारी वान-

अर्थ—शूरता (संग्राम में निर्भय होना) तेज (प्रगल्भता) अर्थात् प्रतापी होने से किसी से दीन न होना धृष्ट रहना धृति अर्थात् धैर्य होना विपत्ति व क्लेश में कभी न घबराना दाक्ष्य (चातुर्यता) होना अर्थात् संग्राम न्याय व विचारमें अति चतुर बुद्धिमान होना युद्ध में कभी मुंह न फेरना दान देना और ईश्वर भाव होना अर्थात् मैं समर्थ मन प्रजाओं का स्वामी हूं सब मेरी प्रजा है इनकी रक्षा व इनका पालन करना मेरा धर्म है अथवा मुझे उचित है यह समझ न्याययुक्त सत्पुरुषों का सत्कार दुराचारियों का दण्ड देना ऐसा जो स्वभाव से उत्पन्न कर्म है वह क्षात्र कर्म है आशय यह है कि पूर्व जन्म के संस्कार से जिसकी चित्त की वृत्ति ही ऐसे कर्म को धारण करती है अर्थात् जो क्षत्रिय अपने चित्त के भाव ही से शौर्य आदि गुण कर्म को धारण करता है वह क्षात्र कर्म है और जो केवल देखाव व प्रतिष्ठा के लिये ऐसे कर्म में प्रवृत्त होना है वह क्षात्र कर्म नहीं है ऐसे ही ब्राह्म कर्म वैश्य कर्म सब में जानना चाहिये ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेवच वणिकपथंकुसीदञ्च वैशस्यकृषिमेवच ॥१॥ मनु०

अर्थ—पशुओं का पालन दान देना अग्निहोत्र आदि यज्ञ करना वेद आदि का अध्ययन करना वणिकपथ अर्थात् अनेक देशों में जाना आना व्यापार करना कुसीद अर्थात् ब्याज का लेना खेती करना आदि ये वैश्य के गुण व कर्म हैं ॥१॥

अथ शूद्र स्वरूप लक्षण

एकमेवहि शूद्रस्यप्रभु.कर्मसमादिशत एतोषामेववर्णानांसुश्रूषा-मनुसूयया ॥ १ ॥

अर्थ—प्रभुने अर्थात् परमेश्वर ने शूद्र को एक यही इन उक्त तीनों वर्णों की निन्दा रहित सेवा करना कर्म के लिये आज्ञा दी है अर्थात् जो मूर्ख विद्या हीन सिवाय सेवा करने के अन्य किसी उत्कृष्ट कर्म के योग्य नहीं है ऐसा जो सेवा करने वाला है वह शूद्र है ॥

अब मनुस्मृति व महाभारत में जैसे सब ब्राह्मण आदि गृहस्थों को अपने धर्म व कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिये वह वर्णन करते हैं—

वेदोदित स्वकंकर्मनित्यंकुर्यादतन्द्रितः ।

तद्धिकुर्वन्यथाशक्तिप्राप्नोति परमांगतिम् ॥ १ ॥

अर्थ—मनुष्य को चाहिये कि जैसा वेद में वर्णित है उस प्रकार से अपने कर्म को आलस्य छोड़कर नित्य किया करे वह इस प्रकार से यथाशक्ति करते हुये परम गति को प्राप्त होता है—

नेहेतार्थान्प्रसंगेननविरुद्धेनकर्मणा न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपियतस्ततः ॥ २ ॥

अर्थ—गृहस्थ किसी दुष्ट के प्रसङ्ग से और किसी विरुद्ध कर्म से धन प्राप्त करने व संचय करने की चेष्टा न करै। न पदार्थों के विद्यमान होते हुये उनको गुप्त रखकर दूसरे से छल से लेवे और चाहै कितनाही दुःख पडे अधर्म से जहां तहाँ से द्रव्य संग्रह न करै॥

इन्द्रियार्थेषुसर्वेषु न प्रसज्जेतकामतः अतिप्रसक्तिंचैतेषांमनसा सन्निवर्तये ॥ ३ ॥ सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वध्यायस्यविरोधिन यथातथाऽध्यापयं- स्तु साह्यस्य कृतकृत्यता ॥ ४ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में काम से कभी न फसे और विषयों के अति प्रसंग मनसे अच्छे प्रकार से दूर करता रहे॥

जो स्वाध्याय के (वेदाभ्यास वा प्रणव के जप के) विरोधी व्यवहार व पदार्थ है उन सब को छोड देवै जिस किसी प्रकार से विद्या का पढाते रहना ही गृहस्थ की कृतार्थता है॥ ४॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानिहितानिच नित्य शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥ ५ ॥

अर्थ—हे मनुष्यों तुमको चाहिये कि जो शास्त्र शीघ्रही बुद्धि की वृद्धि करनेवाले व धनके बढाने वाले व हितकारी हैं उनको और वेद सम्बन्धी विद्याओं को नित्य देखा करे॥

यथायथाहि पुरुष शास्त्रसमधिगच्छति तथातथाविजानाति विज्ञानंचास्य रोचयते ॥ ६ ॥

अर्थ—जैसा जैसा मनुष्य शास्त्र को विचार कर अच्छे प्रकार से जानता है वैसे २ वह शास्त्र को अधिक जानता जाता है और ज्ञान में उसकी प्रीति अधिक होती है॥ ६॥

न संवसेच्चपतितैर्न चाण्डालैर्नपुक्कशैः। नमूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७ ॥

अर्थ—सत्पुरुष गृहस्थों को चाहिये कि वह कभी पतितों (दुष्टकर्म करने वालों) चाण्डालों कञ्जरों मूर्खों मिथ्या अभिमानियों नीच निश्चयवालों (नीच वित्त वृत्तिवालों) के साथ वास न करै इनके सङ्ग से दूर रहै॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः आमृत्योः श्रियमन्विच्छन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥८॥

अर्थ—यदि कोई विपत्ति हो जाय पहिले धनवान होकर निर्धन होजाय तो गृहस्थ अपने आत्मा का अपमान न करे अर्थात् यह न सोचे कि मैं बड़ा भाग्य हीन हों इत्यादि किन्तु मरण पर्य्यन्त लक्ष्मी प्राप्त होने का प्रयत्न करे और प्रयत्न करने में लक्ष्मी (धन) प्राप्त होने को दुलभ न समझे ॥ ८ ॥

सत्यंब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम् प्रियञ्चनानृतंब्रूयादेष धर्म. सनातन. ॥९॥

अर्थ—मनुष्य को चाहिये कि सत्य बोले प्रिय बोले अर्थात् जो सत्य हृदय को दु ख प्राप्त करे अप्रिय हो उस सत्य को न कहे और प्रिय असत्य को न कहे अर्थात् दूसरे को प्रिय हो इसलिये अर्थात् दूसरे के प्रसन्न होने के लिये झूँठ न कहे यह सनातन धर्म है ॥ ९ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्चदद्याच्चैवासनस्वकम्कृताञ्जलिरुपासीत गच्छत.पृष्ठतोऽन्वियात् ॥१०॥

अर्थ—जो अपने बड़े हों अर्थात् विद्या पद व वय में बड़े हों उनको अभिवादन करे अर्थात् प्रणाम वा नमस्कार करे जो पास आवें तो अपने आसन को देवे अर्थात् उठ कर अपने आसन पर बैठावे हाथ जोड़ कर आप समीप बैठे जाते हुये उनके पीछे जावे ॥ १० ॥

आचाराल्लभतेह्यायुराचारादीप्सिता' प्रजाः आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥११॥

अर्थ—आचार से अर्थात् धर्माचरण से दीर्घायु को प्राप्त होता है और धर्माचरण ही से जेसा चाहता है उत्तम प्रजा (सन्तान) अक्षय धन को मनुष्य प्राप्त होता है और धर्माचरण निकृष्ट लक्षणों का नाश करता है ॥ ११ ॥

दुराचारोहिपुरुषोलोके भवतिनिन्दितः दु.खभागीच सततं व्याधितोऽल्पायुरेवच ॥१२॥

अर्थ—निश्चय से दुराचार (अधर्म) करने वाला पुरुष लोक में निन्दित होता है सदा दु ख को प्राप्त होता है और व्याधिसे अल्पायु (थोड़ी आयुवाला) भी होता है अर्थात् रोग से पीडित हो शीघ्र मर जाता है ॥ १२ ॥

यद्यत्परवशंकर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् । यद्यदात्मवशंतुस्यात्तत्तत्सेवेद्यत्नत. ॥

अर्थ—जो जो परवश (पराधीन) कर्म हो उस उसको यत्न से त्याग करे जो जो आत्मवश अर्थात् अपने अधीन हो उस उसको प्रयत्न से सेवनकरे ॥१३॥

सर्वं परवशदुःखंसर्वमात्मवशं सुखम् । एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१४॥

अर्थ—सब जितना परवश है वह दुःख है और सब जितना अपने वश है यह सुख है यही सक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जाने ॥ १४ ॥

अधार्मिको नरोयोहि यस्यचाप्यनृतंधनम् हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥१५॥

जो मनुष्य अधार्मिक है और जिसका धन असत्य से सचित किया गया है और जो सदा हिंसा में (पर को दुःख देने में) रत है अर्थात् प्रवृत्त रहता है वह इस लोक व परलोक में सुख को नहीं प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

नाधर्मश्चरितोलोकेसद्यः फलतिगौरिव शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानिकृन्तति ॥ १६ ॥

अर्थ—किया गया अधर्म लोक में पृथिवी के समान जल्दी फलको नहीं देता है अर्थात् जैसे पृथिवी में जो अन्न बोया जाता है उसका फल पृथिवी शीघ्र नहीं देती कुछ कालान्तर में फल को उत्पन्न करती है ऐसेही अधर्म का फल शीघ्र नहीं होता धीरे धीरे अपने कर्ता के सुखों को रोकता हुआ कर्ता की जड़ों को अर्थात् कर्ता के सुख के मूलों (जड़ों) को काटता है ॥ १६ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौस्यातांधर्मविवर्जितौ धर्मंचाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेवच ॥ १८ ॥

अर्थ—धर्म से रहित जो धन आदि पदार्थ और काम (कामनायें) हैं उनको त्याग करना चाहिये जो धर्म अन्त में दुःखदायक है और लोगों को निन्दित कर्म में प्रवृत्ति करनेवाले धर्म हैं उनको भी त्याग करे ॥

अन्त में दुःखदायक धर्म का दृष्टान्त इस प्रकार से समझना चाहिये जैसे अपने वित्त से अधिक ऋण लेकर दान देना रूप धर्म करना जो वास्तविक अधर्म है दुःखफलदायक है परन्तु अज्ञान से धर्म समझते हैं ऐसे धर्म दुःख फलदायक का भी त्याग करे ॥ १८ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह निनीषु कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ १९ ॥

अर्थ—अपने कुल को उत्तमता में प्राप्त करने की इच्छा करनेवाला अधम

अधम पुरुषों को त्याग करे नित्य उत्तम उत्तम पुरुषों के साथ सम्बन्ध और संग को करे धर्मात्मा ज्ञानियों से संवन्ध बढाता जाय ।

वाच्यार्थानियता सर्वेवाङ्मूलावाग्विनिसृतः तान्तुयःस्तेनयेद्वाचं सर्वस्तेय कृन्नरः ॥ २० ॥

अर्थ—जितने अर्थ और व्यवहार हैं सब वाणी में नियत हैं सब की मूल वाणी ही है वाणी ही से सब निकले हैं क्योंकि सब व्यवहार परस्पर की वार्ता और एक दूसरे के कहे हुये शब्दों के विश्वास से सिद्ध होते हैं जो कोई उस वाणी को चोराता है अर्थात् मिथ्याभाषण करता है सत्कार नहीं करता वह सब चोरी का करनेवाला है अर्थात् सब पापों का करनेवाला है सब अधर्म असत्य ही से होते हैं इससे असत्य का त्याग करना चाहिये सत्य ही बोलना चाहिये ॥२०॥

अब मनुजी ने जो धर्म निर्णय के लिये दश सत्पुरुषों की सभा राजाओं से नियुक्त किये जाने को लिखा वह वर्णन करते हैं ॥

त्रैविद्योहैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः त्रयश्चाश्रमिणा पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १ ॥

अर्थ—(त्रैविद्या) ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद इन तीनों वेदों के विद्वान् चौथा हैतुक अर्थात् कारण अकारण का ज्ञाता पांचवा तर्की अर्थात् न्यायशास्त्र का जाननेवाला छठवां नैरुक्त अर्थात् निरुक्त का जाननेवाला सातवां धर्मशास्त्र का जाननेवाला और पहिले आश्रमों के पुरुष अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ इन दश पुरुषों की सभा होना चाहिये ॥ १ ॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेवच त्र्यवरापरिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ २ ॥

अर्थ—यदि दश विद्वानों की सभा न हो तो धर्म में संशय होने में निर्णय करने के लिये ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद के जाननेवाले तीन विद्वान् पुरुषों की सभा होना चाहिये ॥ २ ॥

एकोऽपिवेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः सविज्ञेय परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ३ ॥

अर्थ—एक भी उत्तम ब्राह्मण वेद का जानने वाला जिसको धर्म निश्चय करे वह श्रेष्ठ धर्म है और जो सहस्रों लाखों अज्ञानी मनुष्यों से कहा गया हो वह धर्म नहीं है आशय यह है कि जो सभा न हो तो जो एक भी श्रेष्ठ विद्वान् धर्मात्मा वेदज्ञ निर्णय करे वह परम धर्म मन्तव्य है परन्तु सहस्रों मूर्खज्ञान रहित जिसको धर्म कहा हो अथवा कहें वह धर्म नहीं है उसको धर्म न मानना चाहिये ॥ ३ ॥

धर्म क्या वस्तु है यह विज्ञापन के लिये धर्म के यह लक्षण वर्णन किये हैं ॥

धृति. क्षमादमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्यासत्यमक्रोधोदशकं धर्मलक्षणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—धृति (धैर्य्य) अर्थात् सुख दुःख हानि लाभ में अति आसक्त और व्याकुल हो कर धर्म को परित्याग न करके दृढ़ स्थिर रहना क्योंकि बिना धैर्य व दृढ़ता के लौकिक और परलौकिक कार्य सिद्ध नहीं हो सकते (क्षमा) कोई अपमान और अपराध भी करे उस पर क्रोध न करना शान्तिचित्त रहना (दम) मन को वश में रखना अधम में प्रवृत्त न होने देना (अस्तेय) चोरी न करना अर्थात् मन कर्म और वचन से अधर्म और अन्याय से पराये वस्तु को ग्रहण न करना (शौच) पवित्रता अर्थात् रागद्वेष मोह आदि अन्य कुवृत्तियों को त्याग करने से आत्मा व मन को पवित्र और जल आदि से मल को दूर करके शरीर को पवित्र रखना (इन्द्रिय निग्रह) श्रोत्र और नेत्र आदि इन्द्रियों को अधर्म से निवृत्त और धर्म में प्रवृत्त रखना (धी) बुद्धि से सत असत का विवेक करना सत्संग से बुद्धि व विचार की उन्नति करना (विद्या) वेद शास्त्र विद्याओं का अध्ययन करना और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना (सत्य) सत्य बोलना सत्य मानना सत्य करना धर्म के सब लक्षणों में से सत्य सब में उत्कृष्ट है क्योंकि जितने अधर्म कम होते ह वह सब असत्य की सहायता की अपेक्षा करते ह बिना असत्य के नहीं होते सत्य के धारण करने से नहीं हो सकते इस से सत्य उत्कृष्ट है (अक्रोध) क्रोध रहित होना ये दश लक्षण धर्म के हैं इनके धारण करने से मनुष्य धर्मवान् होता है इनके विरुद्ध जो लक्षण हैं वे अधर्म के हैं अर्थात् धैर्य न होना क्षमा न होना विषयात्मक होना चोरी करना इत्यादि ॥

सभांवानप्रवेष्टव्यं वक्तव्य वा समञ्जसम् अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरोभवति किल्विषी ॥ ५ ॥

अर्थ—या तो सभा में प्रवेश न करना चाहिये अर्थात् सभा में न जाय यदि जाय तो फिर यथोचित सत्य ही कहे जो सभा में बैठा हुआ अनुचित अन्याय को सुन कर मौन रहे अथवा सत्य धर्म के विरुद्ध कहे तो मनुष्य पापी होता है ॥ ५ ॥ महाभारत में ऐसा वर्णन है ।

नसासभायत्र न सन्तिवृद्धा वृद्धा. नतेयेनवदन्तिधर्मम् नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति नतत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥६॥

अर्थ—वह सभा नहीं है जिसमें वृद्ध पुरुष नहीं हैं और वे वृद्ध नहीं है जो धर्म को नहीं कहते हैं आशय यह है कि वृद्ध से वय से वृद्ध कहने का प्रयोजन नहीं है वृद्ध वे हैं जो धर्म को कहें जो धर्म न कहें वे वृद्ध नहीं हैं। वह धर्म नहीं है जिसमें सत्यनहीं है वह सत्य नहीं है जो छल से युक्त है ॥ १ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मोहतोऽवधीत् ॥६॥

अर्थ—नाश किया हुआ अर्थात् त्याग किया हुआ धर्म ही नाश करता है और रक्षा किया गया धर्म रक्षा करता है तिससे धर्म नाश करने के योग्य नहीं है अर्थात् त्याग के योग्य नहीं ऐसा भय मन में रक्खे कि नष्ट हुआ धर्म हमको नाश न कर देवे।

महाराज भर्तृहरि जी ने लिखा है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदिवास्तुवन्तु लक्ष्मीस्समाविशतुगच्छतु वा यथेष्टम् अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वान्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा ॥१॥

अर्थ—चाहे नीति निपुण पुरुष अर्थात् सांसारिक चतुर मनुष्य जो अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये जिस प्रकार से प्रयोजन सिद्ध हो उस नीति में प्रवृत्त होते हैं वे निन्दा करें चाहें स्तुति करें लक्ष्मी चाहे गृह में प्रवेश करे चाहे जाय अर्थात् प्राप्त हो अथवा न रहे चाहे आज मरण हो जावे चाहे युगान्तर में मरण प्राप्त होवे परन्तु धीर पुरुष अर्थात् धैर्यवान ज्ञानी पुरुष न्याय मार्ग से अर्थात् धर्म मार्ग से एक पद भी पृथक् वा विरुद्ध नहीं चलते॥

इन उक्त गुण कर्मों को धारण करके गृहस्थ अपने गृहाश्रम धर्म में प्रवृत्त हो॥

चौदहवां १४ वानप्रस्थ संस्कार है—वानप्रस्थाश्रम की विधि यह है कि प्रथम ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ आश्रम में रह कर सन्तानोत्पत्ति करे जब पुत्र उत्पन्न हो और पुत्र के भी पुत्र होजावे तब घर को त्याग कर वन में वास कर आत्म विचार परमात्मा की उपासना में तत्पर हो इसके प्रमाण में यह शतपथ ब्राह्मण का वाक्य है

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद्गृही भूत्वावनी भवेद्वनीभूत्वा प्रव्रजेत् ॥१॥

अर्थ—ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ हो गृहस्थ होकर वनी (वन का रहने वाला) हो अर्थात् वानप्रस्थ हो वानप्रस्थ होकर फिर सन्यास को धारण करे॥१॥

वानप्रस्थ आश्रम के विषय में भी मनुजी ने ऐसा वर्णन किया है

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः वनेवसेत्तुनियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार गृहाश्रम में रहकर विधिवत् स्नातक हुआ द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय हो यथावत् (यथाविधि वा यथोचित) वन में बसे ॥१॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वली पलितमात्मनः अपत्यस्यैवचापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥२॥

अर्थ—गृहस्थ जब अपने देह का चमडा ढीला और केश श्वेत हुये देखे और पुत्र के भी पुत्र हुआ देखे तब वन का आश्रय लेवे अर्थात् गृह को त्याग कर वन में जाकर बसे ॥१॥

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वश्चैव परिच्छदम् पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्यवनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥

अर्थ—ग्रामों में उत्पन्न या बने हुये पदार्थों का भोजन और घर की सब सामग्री छोड कर अपनी स्त्री को पुत्रों के पास छोडकर अर्थात् पुत्रों को सौंप कर अथवा स्त्री सहित वन को जाय ॥ ३ ॥

स्वाध्याये-नियुक्तःस्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः । दाता नित्य मनादातासर्वभूतानुकम्पकः ॥४॥

अर्थ—स्वाध्याय में अर्थात् वेदादि शास्त्रों के देखने पढने व पढाने में मन लगाये हुये रहे (दान्त) इन्द्रियों को दमन किये हुये अर्थात् जो स्त्री साथ भी जाय तो उससे सिवाय सेवा कराने के विषय भोग का प्रसङ्ग न करे सब से मित्र भाव रक्खे एकाग्रचित्त हो नित्य देनेवाला हो और किसी से कुछ न लेवे और सब प्राणियों पर कृपा रखने वाला हो इस प्रकार से वान प्रस्थवन में वास करे ॥ ४ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषुयात्रिकभैक्ष्यमाहरेत गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषुवनवासिषु ॥५॥ एताश्चान्याश्च सेवेतदीक्षा विप्रोवनेवसन्-विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥६॥

अर्थ—वन में जाते हुये वन में रहने वाले तापस ब्राह्मण गृहस्थ अन्य जो धर्मात्मा विद्वान् क्षत्रिय वैश्य हों उनके घरों में भिक्षा ग्रहण करे ॥ ५ ॥ इस प्रकार वन में रहता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का ब्राह्मण वन में बसते हुये सेवन करे आत्मा व परमात्मा के यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् (ब्रह्मज्ञान व उपासन विद्या) सम्बन्धी श्रुतियों के अर्थों का विचार करता रहे । जब तक सन्यास धारण न करे तब तक इस प्रकार से वानप्रस्थ रहै ॥

जब गृह को छोडकर वन को जाने लगे तब यज्ञ कुण्ड के पास हवन की सब सामग्री इकट्ठा करके अग्न्याधान करके वानप्रस्थ सस्कार के लिये जो मन्त्र

ओंकायस्वाहा कस्मै स्वाहा इत्यादि लिखे हैं उनसे यथा विधि आहुति देकर सामगान करके पुत्र आदिकों को घर सौंप इष्ट मित्रों से मिल कर अग्नि होत्र की सामग्री सहित वन में जाकर एकान्त निवास कर योगाभ्यास और महात्माओं का संग करके आत्मा और परमात्मा के साक्षात् होने के प्रयत्न में प्रवृत्त रहें—

पन्द्रहवां १५ सन्यास संस्कार-सांसारिक पदार्थों और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर राग द्वेष मोह से रहित सब विषय वासनाओं और उनके सग्रह को त्याग कर केवल आत्मज्ञान व परमात्मा के ध्यान व उपासन में रत होना सन्यास है यह सन्यास धर्म जिस में हो वह सन्यासी है सन्यासी शब्द का अर्थ सस्कृत में इस प्रकार से व्याख्येय है ॥

सम्यङ्न्यस्यन्ते सर्वा विषयैषणा अधर्माचरणानिच येनवा सम्यङ्नित्यं ब्रह्मध्यान आस्ते स्थिरीभवतियेन स सन्यास. सन्यासो विद्यते यस्य स सन्यासी ॥

अर्थ—आशय इसका वही है जो प्रथम वर्णन कर दिया है।

सन्यास सस्कार की विधि यह है कि जिस दिन सन्यास लेना चाहै उससे पहिले प्रथम तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास करे भूमि में शयन करे और प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप किया करे चौथे दिन जिस दिन सन्यास लेना हो प्रहर रात्रि से उठ कर शौच स्नान आदि आवश्यक कर्म करके प्राणायाम ध्यान और प्रणव का जप करता रहे सूर्य उदय होने के समय में धार्मिक विद्वानों का वरण कर यथा विधि यज्ञ कुण्ड में वेद मन्त्रों से हवन करे आज्याहुति देने के पश्चात् सन्यास लेने वाला पाच छ केशों को छोड कर डाढी मूछ के केशों को बनवा कर स्नान करे तदनन्तर सन्यास लेने वाला अपने शिर में पुरुष सूक्त के मन्त्रों से एक सौ आठ बार अभिशेक करे फिर आचमन और प्राणायाम करके हाथ जोड वेदी के सामने नेत्र बन्द कर मन से **ओं ब्रह्मणेनमः** इत्यादि मन्त्रों का जप कर आज्याहुति देकर फिर मन्त्र पढकर पूर्णाहुति करके अन्त में शिखा के लिये पांच छ. केश जो रक्खे थे उनको नाभि मात्र जल में पूर्वाऽभिमुख खडा हो एक एक उखाडे और यज्ञोपवीत उतार हाथ में ले जल की अंजली भर फिर मन्त्र को पढ शिखा के वाल और यज्ञोपवीत सहित जलांजली को जल में छोड देवै फिर आचार्य सन्यास धारण करने वाले शिष्य को जल से निकाल के कषाय वस्त्र की कोपीन व कटि वस्त्र उपरस्त्र अगोछा देवे फिर वह सन्यासी परमात्मा के उपासन और आत्म विचार में सदा लगा रहे सन्मान से विष के सन्मान डरता रहै अपमान को अमृत के समान चाहता रहे यम और नियमों को सेवन करता हुआ ब्रह्म के ध्यान व समाधि मे तत्पर रह कर परम आनन्द को प्राप्त हो जैसा कि कठवल्ली उपनिषद् में वर्णन किया है ॥

समाधिनिर्धूत मलस्य चेतसोनिवेशितस्यात्मनियत्सुखं भवेत्
नशक्यतेवर्णयतुं गिरातदा स्वयंतदन्त. करणेनगृह्यते ॥

अर्थ—समाधि से निर्मल हुये और परमात्मा में लगाये हुये चित्तवाले को जो सुख होता है वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता वह आप केवल अन्त करण से ग्रहण करता है अर्थात् वह सुख अन्त करण मन ही से जाना जाता है वाणी से कहने योग्य नहीं है ॥

इस प्रकार से ब्रह्मज्ञान व उपासन के सुखको अनुभव करता हुआ सन्यासी सत्यज्ञान और धर्म के उपदेश में प्रवृत्त रहै ॥

सोलहवां १६ अन्त्येष्टि संस्कार है। जीव से त्याग किये हुये मृत शरीर का संस्कार जो शरीर के अन्त का संस्कार है अर्थात् शरीर के दाह करने का संस्कार है उसको अन्त्येष्टि संस्कार कहते हैं इसी को नर मेध नर याग व पुरुष मेध पुरुष याग भी कहते हैं भस्मान्तम् शरीरम् य० अ० ४ म० १५ ॥

अर्थ—भस्म होने व भस्म करने पर्यन्त शरीर का संस्कार व शरीर का सम्बन्ध है यह यजुर्वेद का वाक्य है। जब कोई मर जावे तब जो स्त्री हो तो उसको स्त्री पुरुष हो तो उसको पुरुष स्नान करावे चन्दन आदि सुगन्धित वस्तु का लेप कर नवीन वस्त्र धारण करावे फिर सामर्थ्य अनुसार घी चन्दन और सुगन्धित वस्तु अगर तगर कपूर आदि और पलास आम्र की लकड़ी शरीर के भार से दूनी सामग्री श्मशान में पहुँचावे श्रीमान लोग शरीर के तोल की बराबर चन्दन पहुँचावें और जै सेर घी हो उतनी रत्ती कस्तूरी उतने मासे केसर और अगर आदि सुगन्धित वस्तु डाले और जो कोई निर्धन मरे तो श्री मान व पंचजन के उसके दाह के लिये घी जितना हो सकै पहुँचा देवें बीस सेर तक हो सकै तो अच्छा है नहीं जितना हो सके श्मशान में सामग्री पहुंच जाने पर मृतक को वहाँ ले जाय जो पहिले की प्राचीन वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदे श्मशान की वेदी बस्ती से दक्षिण दिशा में अथवा नैर्ऋत्य वा आग्नेय कोण में होना चाहिये ऊपर को हाथ उठाकर खड़े हुये मनुष्य का जितना परिमाण होता है उतनी वेदी की लम्बाई और उत्तर दक्षिण की ओर हाथ फैलाने का जितना परिमाण होता है उतनी वेदी की चौड़ाई होना चाहिये और छाती की बराबर वेदी गहरी होना चाहिये ऊपर तीन हाथ चौड़ी और नीचे पद की ओर एक बीता चौड़ी रहना चाहिये शिर की ओर कुछ ऊंची पदकी ओर कुछ नीची बनाना चाहिये वेदी को गोबर से लिपा देवें गोबर न हो तो पानी सींच देवे फिर ईंटों की तरह लकड़ी आस पास चुन देवें अर्थात् जमाकर रख देवें बीच में मृतक का शरीर रखदे वेदी इस प्रकार की बनाव कि मृतक का शिर उत्तर ईशान वा वायव्य कोण में और पद दक्षिण नैर्ऋत्य वा आग्नेय कोण में रहें चारों ओर वेदी खाली रहें फिर पीछे चारों ओर और ऊपर चन्दन और पलाश आदि की लकड़ी रख

देवै जब तक यह क्रिया हो तब तक अलग चूल्हे में अग्नि को जला घी को तपा व छानकर पात्रों में रक्खे उसमें सब सुगंधित पदार्थ मिलावे फिर लम्बी लम्बी लकडियों में चार चमसों को चाहे वे लकडी के हों चाहे धनवान पुरुषों के चांदी सोने व अन्य धातु के हों जिस चमसा में छटाकभर या आधी छटाक घी आवे के दृढ बंधन से बांध देवे फिर घृत का दीपक जलाकर कपूर में लगाकर शिर से आरंभ करके पाद पर्य्यन्त बीच बीच में अग्नि प्रवेश कराके ओ अग्नयेस्वाहा। ओ सोमाय स्वाहा। ओ लोकाय स्वाहा। ओ अनुमतये स्वाहा ओ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा। इन पांच मन्त्रों से आहुतियों को देकर अग्नि को प्रज्वलित होने दे फिर चार मनुष्य पृथक् २ खडे होकर वेदों के मन्त्र से आहुति देते जाय जहाँ स्वाहा शब्द आवे वहाँ आहुति छोडदेवे। इस से आगे और मन्त्र लिखे हैं जो ओं अग्नये स्वाहा से लेकर ओंमृतवे स्वाहा तक एकसौ इकीस मन्त्र होते हैं और एक एक मनुष्य का १२१ आहुति से हवन करने से चार मनुष्यों की ४८४ और जो दोहो आहुति देवै तो ९६८ होती है यदि घृत अधिक हो तो फिर इन्हीं मन्त्रों से आहुति देवे जब तक शरीर भस्म न होजाय आहुति देते जाय शरीर भस्म हो जाने पर वस्त्र धोवे और स्नान करके जिसके घरमें मृतक की मृत्यु हुई हो उसके घरको लिपा पोता और मार्जन से शुद्ध करके स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण का पाठ कर जहाँ मन्त्र पूरा हो वहां स्वाहा शब्द का उच्चारण कर सुगंधित पदार्थ युक्त घृतकी आहुतियां घर में देवै जो उस दिन रात्रि हो जाय तो थोडी आहुतियाँ देवें फिर दूसरे दिन स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुतियाँ देवे जब तीन दिन हो जावै तब मृतक का पुत्र वा अन्य सम्बन्धी श्मशान में जाकर चितासे अस्थि उठाकर श्मशान भूमि में ऐसे स्थान में जो वर्षा होने पर पानी से डूबती न हो गड्ढा खनकर गाड देवै। आश्वलायनसूत्र में यह लिखा है कि दाह करके तीन दिन लवण व क्षार वस्तु न खाय और महा गुरुजन के मृतक होने में बारह दिन अशौच मानै दान देना वेद का अध्ययन न करै बारह दिनके उपरान्त शुद्ध होता है फिर दान वेदाध्ययन आदि करने का अधिकार है अस्थि सञ्चय का वर्णन करके फिर मृतक के लिये कोई संस्कार व कर्म नहीं लिखा पीछे पार्वणश्राद्ध और एकोद्दिष्ट को इस प्रकार से वर्णन किया है कि उक्त श्राद्ध में श्रुतिशील व्रत सम्पन्नब्राह्मण और जो ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके स्नान किया है ऐसे स्नातक आदि उत्तम गुणवान् धर्मशील ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर और बोलाकर उत्तर मुख बैठाकर उत्तम पिण्ड अर्थात् लड्डू के भोजन व जल से सत्कार करे पिण्ड पारकर तडाग में फेंकने और मरे हुए पिता पितामह आदि के बुलाने को कुछ नही लिखा। इतना लेख और कुछ आगे का भाग प्रक्षिप्त होना विदित होता है क्योंकि मरने पर जब मुख्य संस्कार मृतक का करना उचित है वहां कुछ भी पिण्डदान दशगात्र षोडशी पितरों के साथ सपिण्डन करने आदि

के पिण्ड पारने का नाममात्र भी उक्त सूत्रों में नहीं है और सामान्यतः तीन दिन और अधिक से अधिक महा गुरुजनों के मृतक होने में बारह दिन में शुद्ध होना वर्णन किया है इससे अधिक कुछ नहीं कहा इससे यह अनुमित होता है कि स्वार्थ साधकों ने पीछे से उक्त सूत्रों में पार्वण और एकोदिष्ट श्राद्ध को मिलाकर फिर थोड़ा सा और अयुक्त लेख को मिलाया है क्योंकि जहाँ तक हो सका है स्वार्थसाधकों ने अवश्य कुछ न कुछ अपने दम्भजाल के प्रमाण के लिये आर्षग्रन्थों में अपने अनुकूल वाक्यों को मिलाया है यदि इतना लेख जैसा ऊपर लिखा है सत्य भी मान लिया जाय तौ भी जैसा आजकल मिथ्या दम्भजाल से प्रचरित अयुक्त पाखण्डमय क्रियायें व संस्कार जो जन्म मरण विवाह आदि में कराये जाते हैं वे कभी ऋषि वाक्यों के प्रमाण व युक्ति से यथार्थ व सत्य सिद्ध नहीं हो सकते। यथार्थ न होने के विषय में निम्न लेखानुसार समीक्षा की जाती है-प्रथम बालक उत्पन्न होने में वर्तमान समय में पुरोहित किसी बालक को उत्तम मुहूर्त में जन्म होना बताते हैं किसी को निकृष्ट मुहूर्त मूल नक्षत्रों में उत्पन्न होना कहते हैं मूल नक्षत्रों में उत्पन्न होने में माता पिता आदि के लिये अनिष्टफल होना अर्थात् विघ्न होना वर्णन करते हैं विघ्न निवृत्त होने के लिये मूल शान्ति कराते हैं जिसको केवल अपने लाभ के प्रयोजन से प्रचरित किया है उसमें तीर्थों का जल औषधियां मंगाते हैं और शान्ति कर्म करनेवाले पिता आदि को जैसा अधिक धनवान देखते हैं वैसाही दान व भोजन आदि में अधिक विस्तार करते हैं सत्ताइसवें दिन जब जिस मूल नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ है वही नक्षत्र प्राप्त होता है तब शान्ति कराते हैं उस दिन चौकपूर कर दम्भ रचित बहुत कृत्य कराकर बालक को पिता के कन्धे पर से तेल में झकाते हैं पिता पुत्र के मुख की छाया प्रथम तेल में देखता है। क्योंकि विघ्न होने के भय से सीधे बिना तेल के नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं देख सकता फिर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है जिससे विघ्न की शान्ति हो जाय। यह मूल शान्ति कर्म सर्वथा मिथ्या व कल्पित है यह कभी पूर्वकाल में नहीं होता रहा किसी आर्ष ग्रंथों में इसका विधान नहीं पाया जाता आश्वलायन गृह्यसूत्र गोभिलीय गृह्यसूत्र शौनक गृह्य सूत्र पारस्कर गृह्य सूत्र कल्प सूत्र किसी ऋषि प्रणीत कर्मकाण्ड सम्बन्धी ग्रन्थों में नहीं है गृहस्थों के लिये हितकारी कर्त्तव्य कर्मों के लिये आश्वलायन आदि ऋषियों ने गृह्य सूत्रों को बनाया है उनमें षोडश संस्कारों को जो पूर्व ही वर्णन किये गये हैं उनको वर्णन किया है यदि मूल नक्षत्रों में अनिष्ट फल होता तो जातकर्म के समान मूलशान्ति भी एक संस्कार करने के लिये आर्ष ग्रन्थों में वर्णन किया जाता क्योंकि गृह्य शब्द का अर्थ जो गृह के लिये हित हो अर्थात् गृहस्थ के लिये हित हो भावि विघ्न को शान्ति करना ही हित है इस से मूल शान्ति को अवश्य वर्णन करते परन्तु नहीं किया इसमें प्रमाण के योग्य व मन्तव्य नहीं है उत्तम मुहूर्त म उत्पन्न होने में पितरों के पिण्डदान कराने की विधि मिथ्या कल्पित अधिक बढ़ाया

है उसके विषय में जात कर्म संस्कारके वर्णन में पूर्वही व्याख्यान कर दिया गया है इससे यहा पुनर्वार समीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है मूल नक्षत्रों का अनिष्टकारक न होना और उनकी शान्ति करने की विधि का मिथ्या होना उक्त आर्षग्रन्थों में न होने ही से सिद्ध है इस के सिवाय एक विशेष प्रमाण यह है कि अस्वनी अश्लेषा मघा ज्येष्ठा मूल और रेवती इन छः नक्षत्रों को मूल कहते हैं इनमें से किसी एक में जन्म होने से मूल में जन्म होना मानते हैं और मूलशान्ति कराते हैं श्री महाराज रामचन्द्र के भ्राता श्री लक्ष्मण जी और श्री शत्रुघ्न जी का जन्म अश्लेषा नक्षत्र में हुआ है इससे इन दोनों का विघ्नकारक मूल नक्षत्र में जन्म होना सिद्ध होता है परन्तु किसी रामायण में अर्थात् वाल्मीकि रामायण अध्यात्मरामायण में और हनुमान्नाटक आदि अन्य संस्कृत ग्रन्थ जिनमें रामचन्द्र महाराज के चरित्रका वर्णन है उनमें और भाषामें स्वामी तुलसीदास कृत रामायण में कहीं लक्ष्मण और शत्रुघ्न का मूल में जन्म होने और मूल शान्ति किये जाने का वर्णन नहीं है-महर्षि वसिष्ठ जी का ज्योतिष विद्या में ज्ञान न होना अथवा दशरथ महाराज का निर्धनता से न कर सकना इन दो में से कोई एक कारण मूल शान्ति न किये जाने का कोई स्वी॰ कार नहीं कर सकता वसिष्ठ ऐसे परम विद्वान् यदि मूल का जन्म अनिष्टफल दायक व मूल शान्ति करना यथार्थ समझते तो दशरथ महाराज से अवश्य मूल शान्ति कराते परन्तु नहीं कराया इससे मूल शान्ति कर्म का मिथ्या होना सिद्ध होता है लक्ष्मण जी और शत्रुघ्न जी का जन्म अश्लेषा नक्षत्र में होने के प्रमाण में यह वाल्मीकि रामायण का श्लोक है

पुष्ये जातस्तु भरतोमीनलग्ने प्रसन्नधीः सार्पेजातौतु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदितेरवौ ॥

अर्थ—पुष्य नक्षत्र मीन लग्न में निर्मल बुद्धि वाले भरत उत्पन्न हुये और और अश्लेषा नक्षत्र कर्क लग्न में मध्यान्ह के समय में सुमित्रा के दो पुत्र अर्थात लक्ष्मण और शत्रुघ्न उत्पन्न हुये यद्यपि साधारण शब्द के अर्थ से अभ्युदितेरवौ का अर्थ सूर्यके उदय होने में यह होता है परन्तु अभ्युदित का अर्थ यहां उदय हुये का ग्राह्य नहीं है क्योंकि चैत्र के महीना में जब जन्म हुआ है मीन लग्न में सूर्य का उदय होता है उदय होने के समय में कर्क लग्न का होना असम्भव है इससे अभ्युदित शब्द का अर्थ इस प्रकार से मध्याह में प्राप्त का ग्राह्य है अभिमवत उदतिर्थयेनेतोगतो प्राप्त अभ्युदित उन्नति प्राप्त तस्मिन्नभ्युदिते मध्याह्नगते प्राप्ते रवावित्यर्थ सूर्योदयान्मध्याह पर्यन्त सूर्य तेजस उन्नतिर्जायते तत उत्तरे प्रकाशस्य ह्रास्यमारभते तस्मात्पूर्ण प्रकाशोन्नतसमयमध्याह गत अभ्युदित तस्मिन्नभ्युदिते रवौ कुलीरे कर्क लग्ने सौमित्री सुमित्रायाः द्वौ पुत्रौ जातावुत्पन्नावित्यर्थ इस व्याख्यान का भावार्थ यह है कि जब दोपहर के समय में सूर्य प्राप्त हुवे तब कर्क लग्न में दु

मित्रा के दो पुत्र उत्पन्न हुये इसमें स्पष्ट अश्लेषा जो मूल नक्षत्र है उसमें जन्म होना वर्णित है यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि सम्भव है कि मूलशान्ति किया हो परन्तु वर्णन करने की आवश्यकता न समझ कर वर्णन नहीं किया तो इस शङ्का का समाधान मूल शान्ति के न होने का निश्चय नाम करण में वर्णन किये हुये श्लोकों से हो जाता है नाम करण में यह वर्णन किया है।

अतीत्यैकादशाहन्तु नामकर्म तथाऽकरोत ज्येष्ठरामं महात्मान भरत कैकेयीसुत ॥ सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपर तथा वसिष्ठ परमप्रीतो नामान्यकरोत्तदा ॥ २ ॥

अर्थ—ग्यारह दिन व्यतीत होने पर अर्थात् बारहवें दिन परमप्रीति युक्त वसिष्ठ मुनि जी ने नाम कर्म किया महात्मा ज्येष्ठ पुत्र का नाम राम रक्खा जैसे बारहवें दिन राम का नाम करण किया तथा (वैसाही) बारहवें दिन कैकेयी के पुत्र का नाम भरत और सुमित्रा के एक पुत्र का नाम लक्ष्मण और दूसरे का नाम शत्रुघ्न रक्खा ॥ २ ॥

इस बारहवें दिन नाम करण करने ही से मूल नक्षत्रों का विघ्न कारक न मानना और मूल शान्ति न करना सिद्ध है क्योंकि मूल शान्ति २७ दिन से कम में नहीं की जाती है और मूल शान्ति कर्म करने के पीछे नामकरण किया जाता है मूलों में जन्म होने में बिना मूल शान्ति कर्म किये कोई अन्य नाम करण आदि कर्म नहीं किया जाता लक्ष्मण व शत्रुघ्न के जन्म में मूल न माने जाने वसिष्ठ ऐसे महर्षि वेद शास्त्र व सब विद्याओं के परम ज्ञाता के मूल शान्ति न कराने तथा किसी आर्ष ग्रन्थ में मूल नक्षत्रों के शान्त किये जाने का वर्णन न होने से यह निश्चित सिद्धान्त है कि मूल नक्षत्रों का अनिष्ट कारक होना और उनके शान्त करने का वर्णन सर्वथा असत्य है दान लेने भोजन करने के लिये स्वार्थसाधक पुरोहितों ने आधुनिकग्रन्थों में अपनी कल्पना मात्र से लिख दिया है इससे मूल नक्षत्र विषयक लेख तथा मूलशान्ति कर्म-मन्तव्य व कर्तव्य नहीं हैं किन्तु सर्वथा त्याज्य ही है ॥

अन्य युक्ति व हेतु यह भी विचारणीय है कि यदि मूल नक्षत्र अनिष्ट फलके कारण अशुभ होते तो सब मनुष्यों के लिये होते क्योंकि परमात्माने जैसे सूर्य चन्द्र सब वर्णों सब प्राणियों को प्रकाश और शीत उष्णता आदि समान प्राप्त करने के लिये एकही एक बनाया है ऐसेही नक्षत्रों को भी सबके लिये एकही एक बनाया है, मुसलमान अंगरेज पारसीआदि मनुष्यों के लिये अन्य अन्य नक्षत्र नहीं बनाया इससे आर्य्यावर्त देशवासी मनुष्यमात्र के लिये समान फलदायक हो सकते हैं भिन्न भिन्न फल होने का कोई हेतु नहीं हो सकता यदि सूर्य चन्द्र के प्रकाश आदि में भेद होना निश्चित होता तो अन्य नक्षत्र के गुणों में भी भेद होने का अनुमान किया जाता परन्तु भेद होने का कोई हेतु निश्चित न होने से

वा प्राप्त कीजिये अथवा इष्ट का अर्थ यज्ञ और पूर्त उसका फल है यह दोनों यज्ञ के करने और आपसे उसके फल दिये जाने से किये व प्राप्त किये जावे (अस्मिन्त्सधस्थे) इस लोक और शरीर में (अध्युत्तरस्मिन्] परलोक में और दूसरे जन्म में (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) सब विद्वान् ज्ञानी और यजमान उन विद्वान् महात्माओं का सेवा सत्कार करने वाला आपकी कृपा से सदा उत्तम सत्सङ्ग व धर्म में वर्ते ॥

इस मन्त्र में बुध का नाम या सम्बन्ध व हेतु नहीं है इस से यह बुध का मन्त्र कहने योग्य नहीं है ॥

बृहस्पति मन्त्रत्वेन प्रसिद्धस्यमन्त्रवाक्यस्यार्थः

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद्द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु ।
यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥

य० अ० २६ म० ३ ।

अस्यार्थ—(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक (ऋतप्रजात) सत्य-वेद विद्याप्रतिपादित जगदीश्वर त्वं (जनेषु) यज्ञ कारकेषु विद्वज्जनेषु लोके लोकान्तरेषु वा (क्रतुमत्) भूयासः क्रतवो भवन्तियस्मिन्तत् (दीदयच्छवस) दानयोग्य शवसो बलस्यप्रापक (यदर्यो अर्हात्) येन धनेन युक्तः सन् आर्य्यः स्वामी राजा वणिग् जनो वा धार्मिकेषु जनेषु(विभाति) प्रकाशते (चित्रम्) यद्धनमद्भुत (अस्मासु द्रविण धेहि) तदस्मदधीन द्रविण धन कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वर, प्रार्थ्यते ॥

भावार्थ—(बृहस्पते) हे सब बडे ऐश्वर्य वालों के पति स्वामी अथवा वेदों के अर्थात् वेद विद्या के रक्षक (ऋतप्रजात) सत्यवेद विद्या से उत्पन्न है ज्ञान जिसका अर्थात् वेद विद्या प्रतिपादित जगदीश्वर आप (तदस्मासु द्रविण धेहि चित्र) वह चित्र अर्थात् अद्भुत धन हम में अर्थात् हमारे अधिकार में धारण कीजिये अर्थात् कृपा करके स्थापन कीजिये कैसा वह धन है (द्युमत) प्रकाश वाला अर्थात धार्मिक जनों में सत्य व्यवहार का प्रकाश विद्यमान होता है जिसमें (क्रतुमत) बहुत यज्ञ होते हैं जिसमें (यद्दीदयच्छवस) जो दान योग्य बलका प्राप्त करने वाला है (यदर्यो अर्हात) जिससे अर्थात जिस धन से अर्य्य स्वामी अर्थात धनका स्वामी राजा या वणि जन (जनेषु)धार्मिक जनों में (विभाति) प्रकाशित होता है अर्थात शोभा प्रतिष्ठा ऐश्वर्य रूप प्रकाश से प्रकाशित होता है ऐसे धन को प्राप्त कीजिये इस मन्त्र से ऐसी प्रार्थना की जाती है । बृहस्पति ग्रह व ग्रह पीडा निवारण से कुछ सम्बन्ध नहीं है ।

अथ शुक्रमन्त्रनाम्ना प्रसिद्धस्या मन्त्रवाक्यस्यार्थः

अन्नात्परिस्रुतोरसं ब्रह्मणा । व्यपिवत्क्षत्रम्पयः सोमं प्रजा-

पँति । ऋतेनं सुत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धंस । इन्द्रस्ये-न्द्रियमिदंपयोऽमृतं मधुं ॥ य० अ० १९ म० ७५ ।

अस्यार्थ—(प्रजापति) प्रजापालको राजा यज्ञ कर्ता अन्नाद्धोऽज्यातपदार्थात्परित सर्वत स्रुत अर्थात्परिस्रुत सुब्व्यत्ययाद्द्वितीयास्थाने प्रथमा प्रयुक्तेतिबोध्यम् तथा भूत रस पय अमृतात्मक सोम सोमोपधिसम्पादित रस (ब्रह्मणा) चतुर्वेदविद्ब्रह्माख्येनमुख्येनऋत्विजासह क्षत्र क्षत्रियकर्म यथा यज्ञे तथा यदा पिबति तदा ऋतेन कर्म फलेनार्थादुत्तमयथार्थ पुण्यकर्म फलेन यथार्थ सत्यवेदविज्ञानेन वा (सत्यमिन्द्रिय) यथार्थ विद्या धर्मयुक्तमिन्द्रियमन्त करणं मनो जायते (अन्धस) अन्नादर्थाद् यज्ञे सस्कृताच्छुद्धादन्नाद्विपान विविध भोग (शुक्र) वीर्यबलमुत्पद्यते । (इन्द्रस्यन्द्रियमिदमित्यादि) इन्द्रस्यैश्वर्ययुक्तस्य राज्ञो नरेन्द्रस्य यज्ञ कर्तु रेवेद सत्यमिन्द्रिय जायते सत्यामृतममृतात्मक मधु सौमाद्यौषधि सारमय सुखकर सुस्वादु प्रिय पय रस उपलभते नान्यस्यायज्ञकर्तुर्वैदिकज्ञानकर्मरहितस्य सत्येन्द्रियत्वलाभ इत्याशय ॥

भापार्थ—प्रजापति अर्थात् प्रजापालक यज्ञ कर्ता राजा (अन्नात्) भोजन के योग्य पदार्थ से (परिस्रुत) निकला हुआ रस (पय) दुग्ध रूप अथवा अमृत रूप अमृत के समान सोम को अर्थात् सोम वा सोम आदि औषधियों से सम्पादित रस को (ब्रह्मणा) ब्राह्मण सहित अर्थात् चार वेद के ज्ञाता ब्रह्मा नामक मुख्य ऋत्विज सहित (क्षत्र) क्षत्रियकर्म अर्थात् यज्ञ में विहित क्षत्रियराजा के कर्म के अनुसार जब पीता है तब (ऋतेन) कर्म फल से अर्थात् उत्तम यथार्थ यज्ञ रूप पुण्य कर्म फल से अथवा यथार्थ वेद के विज्ञान से (सत्यमिन्द्रिय) यथार्थ विद्या धर्म प्रवृत्तियुक्त इन्द्रिय अन्त करण मन होता है (अन्धस) अन्न से अर्थात् यज्ञ में सस्कार किये हुये शुद्ध अन्न से अन्न के भोजन से नाना प्रकार का उत्तम भोग (शुक्र) बल वीर्य उत्पन्न होता है (इन्द्रस्येन्द्रियमिदम् इत्यादि) ऐश्वर्ययुक्त नरेन्द्र जो यज्ञ करनेवाला राजा है उसी का ऐसा उक्त प्रकार का सत्य अन्त करणरूप इन्द्रिय मन होता है और उसी को सोमरस की प्राप्ति होती है अन्य जो वैदिक कर्म यज्ञ और वैदिक ज्ञान से रहित हैं उसको उस प्रकार से सत्य इन्द्रिय और सोमरस की प्राप्ति नहीं होती यह आशय है ॥

यह शुक्र ग्रह का मन्त्र नहीं है ।

अथ शनिश्चरमन्त्रनाम्नाप्रसिद्धस्य मन्त्रवाक्यस्यार्थः ॥

शन्नोदेवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

य० अ० ३६ म० १२ ॥

अस्यार्थ—आप्लृव्याप्तौ अस्माद्धातोरप् शब्द सिध्यति सनियत स्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । दिवु क्रीडाद्यर्थ (देवी) देव्य आप अभीष्टये इष्टानन्द प्राप्तये

(पीतये) तृप्तये पूर्णानन्द भोगेन तृप्तये न आस्मभ्य शं कल्याणरूपाः कल्याण कारिका भवन्तु ता आपोदेव्य न अस्माकमुपरि अस्मभ्य वा (सयोरभि स्रवन्तु सर्वत सुखस्य वृष्टि कुर्वन्तु ॥ अस्मिन्मन्त्रे आप शब्द सर्वव्यापकस्य परमश्वरस्यवाचको ग्राह्य. अत्र प्रमाणम् यत्रलोकांश्च कोशाश्चापो ब्रह्मजनाः विदु । अथर्व का० १० अ० ४ व० २२ म० १० अस्यायमथ यत्र यस्मिन्परमे श्वरे सर्वान् लोकान्कोशान्निधीश्च जानतितद्ब्रह्मापशब्द वाच्य जना विद्वज्ज नाविदु अर्थात् विद्वज्जना आपो ब्रह्मणो नामाऽस्तीति जानन्ति । अनेनवेद मन्त्र प्रमाणेनाप्शब्देन परमात्मा गृह्यते । एव स्थितेऽय मन्त्र एव व्याख्येय देव्य आप सर्व प्रकाशक सर्वानन्दप्रद सर्वव्यापक ईश्वर अभीष्टये इष्टानन्दप्राप्तये (पीतये) तृप्तये अर्थात्पूर्णानन्द भोगेन तृप्तये न अस्मभ्य शकल्याणरूपा कल्या ण कारिका भवन्तु ता आपो देव्य सर्वेश्वरोऽस्माकमुपरि (शयोरभिस्रवन्तु) सर्वत सुखस्य वृष्टि करोति । यास्काचार्य्यो निरुक्ते शयो शब्दमेव व्याख्या- तवन्त शयो शब्दे शयो द्वितीयन्ते द्वे पदे ज्ञातव्ये श शमनार्थं योर्यावनार्थम् अर्थात् रोगानाशमन भयानां यावनम् पृथक् करणम् दूरी करणम् न अस्मभ्य मभिस्रवन्तु सर्वतः प्रापयन्तु एवमर्थो वाच्य । अपशब्दो जलार्थं वाचकोऽस्त्य- तोजलार्थपक्षेऽप्येव व्याख्योऽस्ति देव्यआप अभीष्टये इष्टसुखप्राप्तये पीतये तृप्तये पानायवा न अस्मभ्य श सुखकारिका वा सुखप्रदा भवन्तु इत्यादि परन्तु पूर्वार्थं एवोत्तमो ग्राह्य इति

भावार्थ—इस मन्त्र में आप शब्द ब्रह्म परमात्मा का वाचक है आप ब्रह्म का नाम है इसमें सस्कृत में अथर्व वेद के मन्त्र का प्रमाण दिया गया है मन्त्र का अर्थ यह है कि सर्वव्यापक होने से जिस ब्रह्म में-सब लोकों को और सब धनों को विद्वान जन जानते हैं उस ब्रह्म को आप जानते हैं अर्थात् आप यह ब्रह्म का नाम है ऐसा जानते हैं आप ब्रह्म का नाम होने में मन्त्र का अर्थ इस प्रकार से वर्णन के योग्य है कि (देव्यआप) सब का प्रकाशक सब आनन्द का देने वाला सर्वव्यापक परमात्मा ब्रह्म (अभीष्टये) इष्ट जो आनन्द है उसके प्राप्त होने के लिये (पीतये) तृप्ति के लिये अर्थात् पूर्ण आनन्द भोग करने से तृप्ति प्राप्त होने के लिये (न) हमारे लिये (श) कल्याण करने वाला हो और वे आप अर्थात् वही जगदीश्वर (शयोरभिस्रवन्तु न) हमारे ऊपर सुख की वृष्टि करे यास्काचार्य ने निरुक्त में शयो शब्द को इस प्रकार से वर्णन किया है कि शंयो जो एक शब्द होना विदित होता है इसमें श और यो दो पद समझना चाहिये श का अर्थ शमन और यो का अर्थ यावन अर्थात् दूरी करना है अर्थात् रोगों का शमन और भय का दूर करना व होना इनको हमारे लिये सब ओर से प्राप्त कीजिये । अप शब्द का अर्थ जल है जल का अर्थ ग्रहण करनेमें भी इसका व्याख्यान इस प्रकार से हो सकता है कि देवी जल रूप इष्ट सुख प्राप्त होने के लिये (पीतये) तृप्ति होने के लिये अथवा पान करने के लिये हमारे लिये सुख की करने वाली वा सुख की देने वाली हों इत्यादि परन्तु प्रथम वर्णन किया हुआ अर्थ अधिक और उत्तम ग्राह्य है ॥ यह शनिश्चर का मन्त्र नहीं है ।

अथराहुमन्त्रनाम्नाप्रसिद्धस्यवाक्यस्यार्थ

कयानश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा कया शचिष्ठया वृता ॥ य० अ० २७ मं० ३९

अस्यार्थ.–(कया) कया उपासनारीत्या (सचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठान प्रकारया (वृता) शुभ गुणेषु वर्तमानया (कया) विधया (चित्र) अद्भुतानन्त शक्तिमान (सदावृध) सदावृद्धि प्राप्त महान् जगदीश्वर (न) अस्माकं सखा सन् यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) रक्षको भवेत् अर्थात् कृपया सदा सहायकरणेन रक्षको भवेत् इत्यत्रधार्म्यासोकोपासनारीत्यादिनास्माभिः प्रेम-भक्तया परमेश्वर सेव्य इत्याशय

भावार्थ—[कया] किस उपासनारीति से (सचिष्ठया) उत्तम कर्म के अनुष्ठान वाली से (वृता) शुभगुण वर्तमान हैं जिसमें उससे (कया) किस विधा से (चित्र) विचित्र अर्थात् अद्भुत शक्तिमान (सदावृध) सदा बड़ाई को प्राप्त अति श्रेष्ठ परमात्मा जगदीश्वर, (न) हमारा सखा मित्र (आभुवत) सन्मुख होकर अर्थात अनुग्रह करने वाला होकर [ऊती] रक्षा करने वाला होवे वा होगा। आशय यह है कि ऐसा विचार कर वेद और आप्त वाक्यों में वर्णित उपासना की रीति आदि साधनों से प्रेम भक्ति से हमको परमेश्वर की उपासना और सेवा करना चाहिये।

अथकेतुमन्त्रनाम्ना प्रसिद्धस्य मन्त्रवाक्यस्यार्थः

केतुं कृण्वन्नं केतवे पेशो मर्य्या अपेशसे समुषद्भिरजायथाः । य० अ० २९ मं० ३७

अस्यार्थ

हे मर्य्या मनुष्या उषद्भि परमेश्वर कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्तमानैर्विद्वद्भिः सह समागमें हते सत्येव [अकेतवे] अज्ञान निवाशय [केतु] प्रज्ञानं [अपेशसे] दारिद्र् विनाशाय [पेश] धनमर्थात् सुखसंपादकं राज्यादि धनं कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वर [अजायथा] प्रसिद्धोभवतीति वेदितव्यम्।

भावार्थ—[मर्य्यो] हे मनुष्यो [उषद्भि] परमेश्वर से प्रेम रखने वाले उसकी आज्ञा में वर्तमान विद्वान महात्माओं के सत्य संगति करनेहारों से [अकेतवे] अज्ञान के विनाश के लिये [केतु] उत्कृष्ट ज्ञान को [अपेशसे] दरिद्रता के विनाश के लिये [पेश] राज्यादि धन को [कृण्वन्] करता हुआ परमात्मा [अजायथा] प्रसिद्ध होता है या विदित होता है॥ यह केतु का मन्त्र नहीं है।

इससे मिथ्या कल्पित दम्भमात्रसे प्रचरित होने से प्रमाण के योग्य और मन्तव्य नहीं है॥

विवाह के निमित्त जो वर और कन्या के जन्म पत्रों में दोनों के गुणोंका मिलान करके विवाह करने योग्य अथवा न करने योग्य होने का विचार करते हैं इसमें बहुतसा पाखण्ड जाल फैलाया है जन्म पत्रों में वर्ग वर्णगण योनि नाड़ी आदि छत्तीस गुणों को मिलाते हैं और वर्ग योनि आदि के मिलानका प्रकार और कथन सुननेही से बुद्धिमानको अयुक्त और मिथ्या होना निश्चित होता है विचार करने से तो असत्य होना सिद्ध होता ही है प्रथम वर्गाष्टक के मिलाने में आठ वर्गों को इस प्रकारसे वर्णन करते हैं अवर्ग में गरुड कवर्ग के अक्षरों में बिडाल (बिलार) च वर्ग के अक्षरों में सिंह टवर्ग में कुकुर (कुत्ता) तवर्ग में सर्प पवर्ग में मूषक (मूस) य वर्ग में अर्थात् य र ल व में मृग श वर्ग में मेष (मेढा) वर्ग होता है और मीन वृश्चिक कर्क राशिको ब्राह्मण मेष सिंह धनुराशि को क्षत्रिय कन्या, वृष, मकर को वैश्य मिथुन तुला कुंभ को शूद्र वर्णन करते हैं अश्वनी धनिष्ठा को अश्व योनि रेवती भरणी को गज योनि पुष्य कृतिका को छाग रोहिणी मृगशिरा को नाग आर्द्रा मूल को श्वान (कुत्ता) पूर्वा फाल्गुणी व मघा को मूषक (मूष) योनि इत्यादि प्रकार से योनियों को वर्णन करते हैं। अश्वनी आदि* नव नक्षत्रों को देवता गण पूर्वाषाढ़ पूर्वभाद्रपद पूर्वाफाल्गुणी आदि को मनुष्य गण तथा कृतिका मघा अश्लेषा आदि को राक्षसगण कहते हैं। इस प्रकार से अनेक मिथ्या बातों को आधुनिक कल्पित ग्रंथों में लिखकर जन्म पत्रों के मिलाने में कहते हैं कि वर और कन्या दो में से एक राक्षसगण है एक मनुष्य गण है अथवा देवगण है इससे मरजाना अथवा कलह होना फल होनेसे विवाह करने योग्य नहीं है अथवा वर बिलार वर्ग कन्या मूसवर्ग है इससे विवाह करने योग्य नहीं है कहीं विप्रवर्ण के राशि की कन्या और शूद्रवर्ण के राशि का पति हुआ तो कहते हैं कि कन्या अवश्य विधवा हो जायगी इससे विवाह करने योग्य नहीं है इस प्रकार से अनेक मिथ्या बातों का जाल फैलाकर सब को अपने अधीन कर रक्खा है और अधीन रखते हैं जब तक पुरोहित जन्म पत्र मिलाकर विवाह करने योग्य होने की सम्मति न देवें तब तक विवाह नहीं किया जाता इसमें बड़ी हानि यह होती है कि एक उत्तम गुणवान व धनवान पुरुष के जन्म पत्र से कन्या के जन्म पत्र का मेल न होने से और उससे न्यून अवस्था व गुण वाले पुरुष के साथ मेल होना कहने से उत्तम को त्याग कर निकृष्ट के साथ मूर्खता से पुरोहित के बचन पर विश्वास करके अपनी कन्या का विवाह कर देते हैं। इससे जन्म पत्र का मिलान उक्त मिथ्या कल्पित विधि से कराना त्याग कर उत्तम गुण विद्या और धन युक्त पुरुष के साथ तथा उत्तम गुण रूप कुल वाली कन्या के साथ यथा समय अपने पुत्र और कन्या का विवाह पिता और माता को करना चाहिये उक्त प्रकार से जन्म पत्र का मिलान करना सर्वथा

---

* अश्वनी, मृगशिरा रेवती, हस्त पुष्य,पुनर्वसु, अनुराधा, श्रवण स्वाती ये नव नक्षत्र देवगण है पूर्वाषाढ़ उत्तराषाढ,पूर्वाफा०,उत्तराफा०,पूर्वाभाद्र०, उत्तराभा०,आर्द्रा, रोहिणी, भरणी मनुष्यगण कृतिका, मघा, अश्लेषा, विशाखा, शतभिषा, चित्रा, ज्येष्ठा, धनिष्ठा, मूल, ये नव राक्षसगण है।

त्याग करना चाहिये क्योंकि वह सर्वथा दम्भजाल मात्र है उसमें वास्तविक फल कुछ नहीं है यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि राजाओं के यहां प्रतिष्ठित अनेक ज्योतिर्विदों के मिलान किये जन्मपत्रों के अनुकूल विवाह की हुई राजकन्या व राजस्त्रियां विधवा हो गई हैं और यवन जो बिना जन्मपत्र के मिलान विवाह करते हैं उनकी स्त्रियां सुख पूर्वक सौभाग्यवती रह कर शरीर त्याग करती हैं और जन्म पत्र मिलान करने वालों की स्त्रियों से अधिक विधवा और दुःख भोग करने वाली नहीं होतीं। जन्म पत्र के मिलान के असत्य व दम्भजाल होने के हेतु यह है कि पूर्वकाल में विवाह स्वयंवर से होते रहे हैं जिसमें कन्या आप जिसको स्वीकार करती रही उसके साथ विवाह होता रहा स्वयंवर में राशि वर्ग आदि मिलाने का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता रहा इसके सिवाय जो विवाह बिना स्वयंवर होते थे पिता अपने विचार से उत्तम गुण व कुल वाले के साथ अपनी कन्या का विवाह करता था जन्मपत्र के साथ राशि वर्ग वर्ण योनि नाडी आदि का मिलान नहीं कराता था न कोई विद्वान् पण्डित पुरोहित मिलान करता था इसका एक यही उत्तम दृष्टान्त है कि महाराज जनक जी ने श्री जानकी जी का तो स्वयंवर से विवाह किया था परन्तु जानकी जी के सिवाय श्री महाराज जनकजी ने अपनी दूसरी कन्या उर्मिला का और उनके भ्राता कुशध्वज ने अपनी माण्डवी और श्रुति कीर्ति दो कन्याओं का श्री वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों मुनिवरों की सम्मति के अनुसार श्रीदशरथ महाराज के तीन पुत्र लक्ष्मण भरत और शत्रुघ्न के साथ एकही दिनमें एकही मण्डपमें उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र में बिना जन्म पत्रों के मिलान विवाह करदिया है। आज कल प्रचरित शीघ्र बोध आदि में वर्णित वर्ग वर्ण योनि गण आदि के अनुसार राम पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुये देवता गण और सीता जी राक्षस गण होती हैं क्योंकि सीता जी का नक्षत्र शतभिष होता है देवता व राक्षस गण होने से राम और सीता जी में कलह रहना चाहिये था परन्तु इसके विपरीत सीता जी परम सती पतिव्रता थीं इससे उक्त ग्रन्थों के अनुसार वर कन्या के जन्मपत्र का मिलान पाखण्ड जाल मात्र निरर्थक है अन्य हेतुओं से भी राम और सीता तथा भरत और माण्डवी आदि के जन्मपत्रों का आधुनिक ग्रन्थों के लेख अनुसार मिलान नहीं होता यदि आधुनिक ग्रन्थों का लेख सत्य और प्राचीन समय में ऋषि मुनियो की ऐसी सम्मति होती तो वसिष्ठ सतानन्द विश्वामित्र परम ज्ञानवान विद्वान् उक्त चारों कन्याओं का चार महाराज कुमारों के साथ एकही दिन में बिना जन्मपत्रों के मिलान किये विवाह करने की आज्ञा न देते। इसके सिवाय पुराण और इतिहासों में सैकड़ों विवाहों का वर्णन है कहीं जन्मपत्रों के मिलान करने का वर्णन नहीं है और अब भी पुरोहित ब्राह्मण और ■ घरवाले ब्राह्मण जो इस देश में उत्तम व बड़े घरवाले कहे जाते हैं वे जब अपना और अपने घर में विवाह करते हैं तब जन्मपत्रों का मिलान नहीं करते जब अन्य वर्ण यजमान के यहां विवाह होता है तब छत्तीस गुणों का विचार व मिलान करने लगते हैं कहीं किसी की कन्या को मङ्गली कहदिया तो बरसों कन्या का पिता वर के अन्वेषण

(तलाश) में फिरता है अनेक जन्मपत्र मांगता है तब किसी मंगली पुरुष के साथ जन्मपत्र मिलता है तब कन्या का विवाह होता है यह दशा होती है। अब अपने यहाँ बड़े कुल वाले ब्राह्मण विचार नहीं करते किया तो नाड़ी मात्र का किया करते हैं तो यह सिद्ध है कि वे आपही नहीं मानते ऐसेही दूसरों को भी न मानना चाहिये युक्ति से विचार करने से भी उक्त प्रकार से वर्ग वर्ण योनिआदि का होना अयुक्तऔर प्रमाण विरुद्ध होना प्रतीत होता है क्योंकि ब्राह्मण आदि कुल में मनुष्य जाति में उत्पन्न पुत्र और कन्या को कुत्ता सिंह सांप मूस आदि वर्ग तथा अश्व गज, नाग, श्वान, मार्जार, गौ, व्याघ्र, वानर आदि योनियां होना और ब्राह्मण को क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण होना इसी प्रकार से अन्य वर्ण और कुल में उत्पन्न हुये को नक्षत्रों में नियत अक्षरों का नाम के अक्षरों के साथ सम्बन्ध लगाकर और नक्षत्रों के साथ राशियों का और राशियों के साथ ब्राह्मण आदि वर्णों का सम्बन्ध लगाकर अन्य वर्ण को अन्य वर्ण होना वर्णन करते हैं अर्थात् सिंह धनुराशिवाले ब्राह्मण को क्षत्रिय वृष मीन कर्क वृश्चिक राशिवाले क्षत्री वैश्य व शूद्र को ब्राह्मण वर्ण होना कहते हैं इत्यादि उनके ऐसे वर्णन करने का यथार्थ आशय निश्चित नहीं होता किन्तु उन्मत्त के प्रलाप के समान विदित होता है क्योंकि जो हम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हैं तो क्षत्रिय आदि नहीं हो सकते इसी प्रकार से किसी एकवर्णमें उत्पन्न हुआ मुख से कथन मात्र से अन्य वर्ण नहीं हो सक्ता और अब प्रत्यक्ष से हम अपने को मनुष्य जानते हैं और अन्य मनुष्य भी सब मनुष्य ही जानते हैं तब हम अपने को बिलार मूस सॉप वानर सिंह आदि वर्ग वा योनि होना कैसे मान लेवें। इसको सिवाय मूर्ख बना कर कुछ लेने के लिये माया जाल फैलाने के क्या समझा जा सकता है यदि हम लौकिक जन ऐसा मान लेवें कि हम पूर्व जन्म में जो योनि रहे होंगे वह योनि व वर्ण नक्षत्रों के सम्बन्ध से विदित होते हैं तो यह भी कल्पना सत्य व मन्तव्य नहीं हो सकी क्योंकि उक्त प्रकार से विचारने से रामचन्द्र मृग वर्ग व देव गण और सीता जी मेढा वर्ग राक्षस गण हैं और पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुये राम मार्जार [बिलार] योनि होते हैं। सामान्य मनुष्यों में यह कल्पना की जा सकी है कि नक्षत्रों के सम्बन्ध से पूर्व जन्म व योनि की सूचना होती होगी परन्तु पुराण और वाल्मीकि रामायण से यह विदित होता है कि श्री महाराज रामचन्द्र विष्णु के अवतार हैं इससे उनका पूर्व जन्म में मृग व बिलार होना मन्तव्य नहीं हो सक्ता इसी प्रकार से सीता जी के विषय में तथा भरत आदि के योनि के विषय में समझना चाहिये इनका भी पूर्व जन्म में सिंह और बकरा होना मन्तव्य नहीं है। इस प्रकार से आधुनिक ग्रंथों में वर्णित वर्ग वर्ण योनि आदि इस जन्म और पूर्व जन्म में किसी में सत्य होना सिद्ध न होने से किसी प्रकार से मन्तव्य नहीं है आधुनिक ग्रंथों के अनुसार जो जो अक्षर नक्षत्र और राशियों के नियत हैं और उनके अनुसार नाम करण में राशिका अक्षर पहिले में रख के नाम रक्खा जाना

है राम भरत आदि के नाम उनसे पृथक् हैं उनके अनुसार नहीं है रामचन्द्र जी का जन्म पुनर्वसु नक्षत्र कर्क लग्न और भरत का पुष्य नक्षत्र व मीन लग्न का है इन नक्षत्रों और लग्नों तथा कर्क और मीन राशियोंका कुछ सम्बन्ध प्रकार और प्रकार से नहीं है इससे भी आधुनिक ग्रंथा की कल्पना यथार्थ होना निश्चित् नहीं होती किन्तु असत्य रूप प्रतीत होती है इससे विवाह में जन्म पत्र के मिलान कराने की मूर्खता को परित्यागकरना चाहिये वर और कन्या के गुण कर्म कुल नीरोगता को देखकर विवाह करना उचित है॥

अब इसके अनन्तर मृतक कर्मों के विषय में जो महा माया जाल स्वार्थ साधकों ने फैलाया है मिथ्या होने के हेतुओं से युक्त उसका व्याख्यान किया जाता है॥

प्रथम शरद ऋतु में कुवार के महीना में जो कृष्ण पक्ष में पितृ पक्ष मानकर भादों की शुक्ल पक्ष की पूर्णमासी सहित सोलह दिन पर्य्यन्त श्राद्ध और पिण्ड दान करते हैं यह सर्वथा निर्मूल और प्रमाण रहित है किसी ऋषि प्रणीत ग्रंथ में पितृ पक्ष में पिंड दान व श्राद्ध करने की विधि का पता नहीं लगता इससे यह अनुमान किया जाता है कि वर्षा ऋतु में गौ और भैंसे अच्छी प्रकार से घास चर कर अधिक दूध देने लगती हैं यह विचार कर वर्षा के अंत में कुवार के महीना में घृत और दुग्ध की अधिकता होने व वर्षा भी गत हो जाने के समय में १६ दिन तक श्राद्धों में यजमानों के यहां कुछ धन और खीर पूरी आदि अच्छे भोजन प्राप्त करने के लिये पितृ पक्षों में पितरों के श्राद्ध करने की विधि प्रचरित किया है और उसके अनुकूल श्राद्ध विधि की पुस्तक भी बना लिया है॥

प्रथम तो पितृ पक्ष के श्राद्ध के होने का प्राचीन समयमें कहीं वर्णन नहीं है और न किसी आर्ष ग्रंथ में उक्त पक्ष की श्राद्धों की विधि पाई जाती है इससे कर्त्तव्य मानने योग्य नहीं है कोई कहते हैं कि राजा करण ने चलाया है यदि यह सत्य हो तो किसी व्यक्ति विशेष के प्रचरित करने से कोई कार्य प्रमाण के योग्य व मन्तव्य नहीं हो सकता इससे मन्तव्य नहीं है॥

विचार से युक्ति और हेतु से भी यथार्थ होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि जिस महीना तिथि में किसी का देहान्त होता है वह क्षयदिन होने से क्षयाह कहा जाता है परन्तु अन्य महीनाओं में मृतक हुये का कुँवार के महीना के साथ कुछ सम्बध प्रतीत नहीं होता कि फाल्गुन चैत्र आदि में मृत्यु को प्राप्त हुये पिता पितामहों का श्राद्ध कुँवार में क्यों करना चाहिये। दूसरे स्त्रियों के लिये एक तिथि नियत किया है उस में सब अपनी मृतक माताओं का श्राद्ध करते हैं यदि सब स्त्रियों के लिये एक तिथि नियत है तो सब पुरुषों के लिये भी एक तिथि होना चाहिये था दो ही तिथियाँ पर्य्याप्त होतीं यदि पुरुष के लिये पृथक्२ तिथिया हैं तो स्त्रियों के लिये पृथक् २ तिथिया होना चाहिये था और जो स्त्री और पुरुष दोनों मृत्यु को प्राप्त हुये होते तो पतिके मृत्यु के दिन पति के साथ स्त्री का भी श्राद्ध किया जाता तो एक प्रकार से युक्त होना भी कहा ता था परन्तु विना किसी हेतु के भेद होना जैसे अन्य महीना में

(तलाश) में फिरता है अनेक जन्मपत्र मांगता है तब किसी मंगली पुरुष के साथ जन्मपत्र मिलता है तब कन्या का विवाह होना है यह दशा होती है। जब अपने यहाँ बडे कुल वाले ब्राह्मण विचार नहीं करते किया तो नाडी मात्र का किया करते है तो यह सिद्ध है कि वे आपही नहीं मानते ऐसेही दूसरों को भी न मानना चाहिये बुद्धि से विचार करने से भी उक्त प्रकार से वर्ग वर्ण योनिआदि का होना अयुक्तऔर प्रमाण विरुद्ध होना प्रतीत होता है क्योंकि ब्राह्मण आदि कुल में मनुष्य जाति में उत्पन्न पुत्र और कन्या को कुत्ता सिंह सांप मूस आदि वर्ग तथा अश्व गज, नाग, श्वान, मार्जार, गौ, व्याघ्र, वानर आदि योनिया होना और ब्राह्मण को क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण होना इसी प्रकार से अन्य वर्ण और कुल में उत्पन्न हुये को नक्षत्रों में नियत अक्षरों का नाम के अक्षरों के साथ सम्बन्ध लगाकर और नक्षत्रों के साथ राशियों का और राशियों के साथ ब्राह्मण आदि वर्णों का सम्बन्ध लगाकर अन्य वर्ण को अन्य वर्ण होना वर्णन करते हैं अर्थात् सिंह धनुराशिवाले ब्राह्मण को क्षत्रिय वृष मीन कर्क वृश्चिक राशिवाले क्षत्री वैश्य व शूद्र को ब्राह्मण वर्ण होना कहते हैं इत्यादि उनके ऐसे वर्णन करने का यथार्थ आशय निश्चित नहीं होता किन्तु उन्मत्त के प्रलाप के समान विदित होता है क्योंकि जो हम ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हैं तो क्षत्रिय आदि नहीं हो सकते इसी प्रकार से किसी एकवर्ण में उत्पन्न हुआ मुख से कथन मात्र से अन्य वर्ण नहीं हो सक्ता और जब प्रत्यक्ष से हम अपने को मनुष्य जानते हैं और अन्य मनुष्य भी सब मनुष्य ही जानते हैं तब हम अपने को बिलार मूस सॉप वानर सिंह आदि वर्ग वा योनि होना कैसे मान लेवें। इसको सिवाय मूर्ख बना कर कुछ लेने के लिये माया जाल फैलाने के क्या समझा जा सकता है यदि हम लौकिक जन ऐसा मान लेवें कि हम पूर्व जन्म में जो योनि रहे होंगे वह योनि व वर्ण नक्षत्रों के सम्बन्ध से विदित होते हैं तो यह भी कल्पना सत्य व मन्तव्य नहीं हो सक्ती क्योंकि उक्त प्रकार से विचारने से रामचन्द्र मृग वर्ग व देव गण और सीता जी मेढा वर्ग राक्षस गण हैं और पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुये राम मार्जार [बिलार] योनि होते हैं। सामान्य मनुष्यों में यह कल्पना की जा सक्ती है कि नक्षत्रों के सम्बन्ध से पूर्व जन्म व योनि की सूचना होती होगी परन्तु पुराण और वाल्मीकि रामायण से यह विदित होता है कि श्री महाराज रामचन्द्र विष्णु के अवतार हैं इससे उनका पूर्व जन्म में मृग व बिलार होना मन्तव्य नहीं हो सक्ता इसी प्रकार से सीता जी के विषय में तथा भरत आदि के योनि के विषय में समझना चाहिये इनका भी पूर्व जन्म में सिंह और बकरा होना मन्तव्य नहीं है। इस प्रकार से आधुनिक ग्रंथों में वर्णित वर्ग वर्ण योनि आदि इस जन्म और पूर्व जन्म में किसी में सत्य होना सिद्ध न होने से किसी प्रकार से मन्तव्य नहीं है आधुनिक ग्रंथों के अनुसार जो जो अक्षर नक्षत्र और राशियों के नियत है और उनके अनुसार नाम करण में राशिका अक्षर नाम के पहिले अक्षर में रख के नाम रक्खा जाता

जाते हैं उनको कुलीन ब्राह्मण व पुरोहित ग्रहण नहीं करते तथापि तेरहवें दिन तेरहीं शान्ति कर्म में किये हुये दान को तथा एक वर्ष पर्य्यन्त मृत के भोजन के लिये किये हुये नित्य दान को वर्षाशन को छमछी और वर्षी में दिये हुये दान और भोजन को स्वीकार करते हैं इससे सभव है कि यह प्रेत मजरी नामक पुस्तक महापात्रों व पुरोहितों दोनों की सम्मति से निर्मित किया गया हो अथवा पुरोहितों ही ने निर्मित किया हो परन्तु पीछे से पुरोहितों ने प्रेत सम्बधी दान आप लेना अपनी बुद्धि के अनुसार उचित न समझ कर अपने ही वर्ण में से किसी ब्राह्मण को ऐसे दान लेने के लिये नियुक्त कर लिया है वे ऐसे दान लेने वाले अब महाब्राह्मण या महापात्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं अब प्रेत मजरी में वर्णित विधियों अर्थात् कर्तव्य कर्मों की समीक्षा की जाती है ॥

प्रेत मजरी में अन्त्येष्टि कर्म में जो मृतक के शरीर के दाह की विधि और हवन के मंत्र हैं उनमें कमी कर दिया है दो तीन कल्पित श्लोकों से दाह कराना लिख दिया है दाह की विधि में न्यूनता करने का कारण यह है कि उसमें धन प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं हो सकता था दाह करने के पश्चात् तिल और जल की अजली दान करने को लिखा है पहिले दिन जो श्मशान जाय चाहे सपिण्ड असपिण्ड अथवा कोई हो सब को तिल व जल की अजली प्रेत के लिये देने को लिखा है दूसरे दिन से केवल दाह करने वाले को दश दिन पर्य्यन्त पचपन ५५ अजली इस प्रकार से कि पहिले दिन १ दूसरे दिन दो तीसरे दिन तीन इत्यादि जोन दिन की सख्या हो उस दिन उतने ही सख्या जल की अजलियों की दश दिन तक देने को लिखा है और अजली यह कहकर देने को लिखा है —

"अमुकगोत्रामुक प्रेतत्वविमुक्ति पुर्वक स्वर्गलोक प्राप्ति काम नया एपतिलत्तोयाजलिर्म द्दतस्तवोपतिष्ठताम्" ॥

अर्थ—अमुक शब्द के स्थान में मृतक का जो नाम हो वह कहना चाहिये मानलेव कि मृतक का नाम देवदत्त है और काश्यप गोत्र है तो सस्कृत में उक्त वाक्य का अर्थ यह होगा हे काश्यपगोत्र देवदत्त प्रेत प्रेतत्व (प्रेत होने) से छूटकर स्वर्गलोक प्राप्त होने की इच्छा से मुझसे दी गई यह तिल और जल की अंजलि तेरे समीप प्राप्त हो अथवा तुझे प्राप्त हो ॥

इस कथन में विचार करने से कहने वाले का अर्थात् प्रेत मजरी बनानेवाले का पाखण्ड असत्य प्रलाप और उसकी मूर्खता स्पष्टतासे विदित होती है क्योंकि प्रेत शब्द का अर्थ जैसे अज्ञान जन कोई निकृष्ट योनि वाचक होना मानते हैं वह नहीं है किन्तु भाषा में जैसा मरा हुआ कहते हैं ऐसे ही सस्कृत में मृत और प्रेत कहते हैं अर्थात् प्रेत शब्द का अर्थ मरा हुआ है मरगये को प्रेत कहते हैं इसमें यह अमर कोष का श्लोक प्रमाण है

परासुप्राप्तपंचत्वपरेतप्रेतसंस्थिताः मृतप्रमीतौ त्रिष्वेतेचिता

का कुंवार में श्राद्ध करना युक्ति व प्रमाण रहित है ऐसे ही पुरुषों के लिये भिन्न मृत्यु की तिथियों में श्राद्ध करना और माता चाहे जिन तिथियों में मृत्यु को प्राप्त हुई हो उन सब का श्राद्ध एकही तिथि कुवार वदी ९ को करना हेतु व प्रमाण रहित है इससे प्रमाण रहित अयुक्त निर्मूल होने से कुंवार में पितृ पक्ष में श्राद्ध व पिण्डदान करना सर्वथा मन्तव्य कर्तव्य नहीं है इसको त्याग ही करना उचित है ॥

इतिश्रीतत्वमार्तण्डेश्रीस्वामीप्रभूनानन्दनिर्मिते गर्भाधानादिषोडशसंस्कारवर्णनेतत्समीक्षा निर्णयेच सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



अथ आधुनिक मृतक संस्कार विधि समीक्षा

मृतक कर्म विधि विषयक एक प्रेत मजरी नामक आधुनिक पुस्तक स्वार्थ साधक ब्राह्मणों ने सर्वथा आर्षग्रंथों के प्रमाण से रहित युक्ति व हेतु विरुद्ध मिथ्या बातों का भाण्डार रूप निर्मित करके प्रचरित किया है उसके लेख के अनुसार विद्या व ज्ञान रहित मनुष्य जितना ही अधिक धनवान् होता है उतना ही अधिक धन व्यय करके अपने मृत माता व पिता और अन्य प्रिय सम्बधी को परलोक में, दान दिये हुये पदार्थ प्राप्त होने व सुख प्राप्त होनेके लिये महा-पात्र प्रयागवाल और गयावाल कुपात्रों ब्राह्मणों को धन धान्य वस्त्र भूषण पात्र छत्र घोड़ा हाथी बैलगाय सुवर्ण आदि का दान देकर धन की हानि करते है और जिस प्रयोजन के लिये दान देते हैं उस फल से वञ्चित रहकर उसके विरुद्ध अनिष्ट फल प्राप्त होने के कारण होते हैं ॥

यह अनुमान किया जाता है कि पूर्वकाल में जब धर्म तप योगनिष्ठ वेद शास्त्र वेत्ता विद्वान् ब्राह्मण ऋषि और मुनि थे तब वे यथार्थ ही देव रूप पूज्य व माननीय थे और श्रुति व स्मृति अनुसार कर्म करते थे परन्तु जब धर्म विद्या रहित विषयासक्त हुये और उत्कृष्ट विद्या व कर्मद्वारा धन व प्रतिष्ठा प्राप्त करने योग्य न रहे तब अनेक प्रकार के मिथ्या महात्म्य व्रत दान पूजन व कर्म के विधान द्वारा धन व प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये मिथ्या दान पुजन व कर्म के विधान के पुस्तक बनाकर प्रचरित किया है उनमें से प्रेत कर्म विषय में प्रेत खण्ड और प्रेत मजरी ये दो पुस्तक हैं कर्म कराने के लिये विशेष पुस्तक प्रेत मजरी है यद्यपि मृतक व प्रेत कर्म में जो दान आदि बारह दिन तक दिये

जाते हैं उनको कुलीन ब्राह्मण व पुरोहित ग्रहण नहीं करते तथापि तेरहवें दिन तेरहीं शान्ति कर्म में किये हुये दान को तथा एक वर्ष पर्य्यन्त मृत के भोजन के लिये किये हुये नित्य दान को वर्षाशन को छमछी और वर्षी में दिये हुये दान और भोजन को स्वीकार करते हैं इससे सम्भव है कि यह प्रेत मंजरी नामक पुस्तक महापात्रों व पुरोहितों दोनों की सम्मति से निर्मित किया गया हो अथवा पुरोहितों ही ने निर्मित किया हो परन्तु पीछे से पुरोहितों ने प्रेत सम्बधी दान आप लेना अपनी बुद्धि के अनुसार उचित न समझ कर अपने ही वर्ण में से किसी ब्राह्मण को ऐसे दान लेने के लिये नियुक्त कर लिया है वे ऐसे दान लेने वाले अब महाब्राह्मण या महापात्र के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं अब प्रेत मंजरी में वर्णित विधियों अर्थात् कर्तव्य कर्मों की समीक्षा की जाती है ॥

प्रेत मंजरी में अन्त्येष्टि कर्म में जो मृतक के शरीर के दाह की विधि और हवन के मन्त्र हैं उनमें कमी कर दिया है दो तीन कल्पित श्लोकों से दाह कराना लिख दिया है दाह की विधि में न्यूनता करने का कारण यह है कि उसमें धन प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं हो सकता था दाह करने के पश्चात् तिल और जल की अंजली दान करने को लिखा है पहिले दिन जो श्मशान जाय चाहे सपिण्ड असपिण्ड अथवा कोई हो सब को तिल व जल की अंजली प्रेत के लिये देने को लिखा है दूसरे दिन से केवल दाह करने वाले को दश दिन पर्यन्त पचपन ५५ अंजली इस प्रकार से कि पहिले दिन १ दूसरे दिन दो तीसरे दिन तीन इत्यादि जौन दिन की संख्या हो उस दिन उतने ही संख्या जल को अंजलियों की दश दिन तक देने को लिखा है और अंजली यह कहकर देने को लिखा है —

"अमुकगोत्रामुक प्रेतप्रेतत्वविमुक्ति पुर्वक स्वर्गलोक प्राप्ति काम नया एषतिलतोयांजलिर्मद्दत्तस्तवोपतिष्ठताम्" ॥

अर्थ—अमुक शब्द के स्थान में मृतक का जो नाम हो वह कहना चाहिये मानलेउ कि मृतक का नाम देवदत्त है और काश्यप गोत्र है तो संस्कृत में उक्त वाक्य का अर्थ यह होगा हे काश्यपगोत्र देवदत्त प्रेत प्रेतत्व (प्रेत होने) से छूटकर स्वर्गलोक प्राप्त होने की इच्छा से मुझसे दी गई यह तिल और जल की अंजलि तेरे समीप प्राप्त हो अथवा तुझे प्राप्त हो ॥

इस कथन में विचार करने से कहने वाले का अर्थात् प्रेत मंजरी बनानेवाले का पाखण्ड असत्य प्रलाप और उसकी मूर्खता स्पष्टतासे विदित होती है क्योंकि प्रेत शब्द का अर्थ जैसे अज्ञान जन कोई निकृष्ट योनि वाचक होना मानते हैं वह नहीं है किन्तु भाषा में जैसा मरा हुआ कहते हैं ऐसे ही संस्कृत में मृत और प्रेत कहते हैं अर्थात् प्रेत शब्द का अर्थ मरा हुआ है मरगये को प्रेत कहते हैं इसमें यह अमर कोष का श्लोक प्रमाण है -

परासुप्राप्तपंचत्वपरेतप्रेतसंस्थिताः मृतप्रमीतौ त्रिष्वेतेचिता

क्षित्याचितिश्चियाम् ॥ अमर कोप वैश्यवर्ग श्लो०११७

अर्थ-परासु प्राप्तपंचत्व परेत प्रेत संस्थित मृत प्रमीत इन सात शब्दों का अर्थ मरे हुये का है और चिता चित्या चिति इन तीनों का अर्थ चिता है ॥

जब प्रेत का अर्थ मरे हुये का है तब यह कहना कि प्रेतत्व से छूटनेके लिये मैं यह कर्म करता हूं अयुक्त निरर्थक असम्भव है क्योंकि जब फिर त्याग किये हुये शरीर में जीव प्राप्त होकर जीवन धारण करे अर्थात् जीता हुआ होजाय तब प्रेतत्व का छूटना हो सकता है अन्यथा प्रेतत्व का छूटना नहीं हो सकता मरा हुआ फिर नहीं जीता इससे प्रेतत्व कभी नहीं छूटता ॥

यदि प्रेत का अर्थ कोई निकृष्ट योनि मानाजाय तो जो मरा हुआ धर्मात्मा होगा तो वह उस योनि को प्राप्त ही नहीं हो सकता उसके लिये प्रेतत्व छूटना कहना ही व्यर्थ है यदि अधर्मी प्रेत ही हुआ तो अञ्जलि में भर कर तिल सहित जल देने से प्रेतत्व से मुक्ति और स्वर्ग लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती जो अञ्जलियों में तिल व जल देने से प्रेतत्व छूटता और स्वर्ग लोग प्राप्त होता तो धर्म प्रवृत्त होने योग तप करने में साधन व परिश्रम कोई न करता इच्छा अनुसार अधर्म करने पर भी पुत्र और सम्बन्धियों के तिल और जल देने से स्वर्ग को प्राप्त हो जाता इससे तिलाञ्जलि देना किसी प्रकार से युक्त सत्य और कर्तव्य नहीं है। इसके अनन्तर दीप दान की विधि इस प्रकार से लिखी है कि दाह करनेवाला घरमें आकर नये दिया में सौ अंगुल की सूत की बत्ती रख उसमें तेल या घी भरे फिर सङ्कल्प में यह पढ़े कि परलोक में प्रेत के अन्धकार निवृत्त होने के लिये मैं दीपदान करूंगा फिर दीप को जलावे जलाने के समय में यह सङ्कल्प पढ़े कि प्रेत के प्रेतत्व छूटने और स्वर्ग लोक प्राप्त होने की इच्छा से दशरात्रि और दिन पर्य्यन्त महादुर्ग यममार्ग के अंधकार से पार होने के लिये यह बत्ती सयुक्त दीप जो मैं देता हूं वह तेरे समीप प्राप्त हो और बना रहै। फिर दीप पर छाया कर देवै जिससे दीप न बुझै और दशदिन तक बुझने न पावै छाया करने में यह कहै

यममार्गपथे घोरेऽन्धेतमसिदारुणे तन्मार्गप्रकाशाय दीपोऽयं दीयतेमया ॥

अर्थ-यमराज के राह में जहां महाघोर अंधकार है वहां मार्ग (रास्ता) देख पड़ने के लिये यह दीप मुझ से दिया जाता है अर्थात् मैं इस दीप को देता हूं ॥

प्रेत मंजरी के पुस्तकों में देखने से हस्त लेख से लिखित पुस्तक और छपी हुई पुस्तकों के पाठ में भेद है परन्तु भेद होने पर भी यम मार्ग से पार होने के लिये दीप दान की विधि और आशय में भेद नहीं है जो इसमें लिखा है वह प्रेत मंजरी ग्रंथ को देखकर लिखागया है किसी पुस्तक में किसी ने पीछे से अधिक

बढा दिया है इससे न्यून अधिक होने का भेद पाया जाता है इस दीप दान की विधि वर्णन में जो यह कहा है कि यम मार्ग पथे घोरे अधे तमसि दारुणे तत्र मार्ग प्रकाशय इत्यादि इस वाक्य में पथे घोरे आदि में सप्तमी विभक्ति के साथ तत्र शब्द का प्रयोग निरर्थक प्रतीत होने से अशुद्ध है और भी शब्द और अर्थ की अशुद्धता प्रेतमञ्जरी में विदित होती है परन्तु जो किसी प्रकार से शब्दों का प्रयोग शुद्ध भी माना जाय तो अर्थांश में अयुक्त होने के दोष निवृत्ति की नहीं होती।

इसके आगे दश गात्र पूरक पिण्डदान की विधि है उसके सङ्कल्प में पिण्ड दान करने वाला यह कहता है अमुक प्रेतस्य वपुः पूरक पिण्डदानमहं करिष्ये

अर्थ-अमुक प्रेत के शरीर पूर्ण करने वाले पिण्डदान को मैं करूंगा फिर प्रथम दिन में शिर पूरक पिण्डदान करने को लिखा है जिसमें प्रेत का शिर बनता है फिर ऐसा लिखा है

द्वितीयेऽन्हि कर्णाक्षि मुखनासिका पूरकः तृतीयेऽन्हि ग्रीवांसभुज हृदय पूरकः चतुर्थेऽन्हि नाभिपृष्ठगुदालिंग पूरक पञ्चमेऽन्हि ऊरुजानुजंघागुल्फ पूरक, षष्ठेऽन्हि सर्वमर्म पूरक सप्तमेऽन्हि सर्वनाड्य गुलीपूरक अष्टमेऽन्हि लोमदन्तादि पूरकः नवमेऽन्हि बलवीर्यपूरक दशमेऽन्हि क्षुत्पिपासा सकल शरीर विपर्यय पूरकः।

अर्थ दूसरे दिन कान नेत्र मुख नासिका पूर्ण करने वाला पिण्डा तीसरे दिन ग्रीवा और भुजा सहित हृदय पूर्ण करने वाला चौथे दिन नाभि पीठ गुदालिङ्ग पूर्ण करने वाला पांचवें दिन उरु (जानु के ऊपर का भाग) जानु जंघा [केवल चौड़ा भाग] गुल्फ [घुटना] पूर्ण करने वाला छठवें दिन सब मर्म स्थानों का पूर्ण करने वाला सातवें दिन सब नाडियों और अंगुलियों का पूर्ण करने वाला आठवें दिन लोम दन्त आदि का पूर्ण करने वाला नवमें दिन बल वीर्य का पूर्ण करने वाला दशवें दिन क्षुधा पिपासा और सब शरीर के विपर्ययों का अर्थात् निद्रा आलस्य भय काम क्रोध आदि का पूर्ण करने वाला इस प्रकार से दश दिन तक दश पिण्ड प्रेत के शरीर बनने के लिये देने को लिखा है। विचार से यह शरीर पूरक पिण्डदान सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है अयुक्त होने के हेतुओं के वर्णन में प्रथम यह विज्ञापन करने के योग्य है कि इस शरीरपूरक पिण्डदान की विधि से पहिले प्रथम दिन से दश दिन पर्यन्त जो दीपदान की विधि वर्णन की गई है उसका व्यर्थ होना सिद्ध होता है क्योंकि जब शरीर पूरक पिण्डों से क्रम से प्रेत का शरीर बनता है आठ दिन में शरीर पूर्ण होता है नवमें दिन शरीर में बलवीर्य होता है तब जब तक नेत्र नहीं होते देख नहीं सकता बिना पैरों के चल नहीं सकता शरीर के सब अवयव होने पर भी बिना बल वीर्य के चलने में समर्थ नहीं हो

सकता अर्थात् नव दिन से पहिले चलने के योग्य नहीं हो सकता ऐसी दशा में जब उसके नेत्र व शरीर ही नहीं है उसको प्रकाश प्राप्त होने और उसके मार्ग चलने के लिये दीपदान देना व्यर्थ और ऐसा कहना असत्य है यदि यह कहा जावे कि लिङ्ग शरीर से जीव गमन करता है तो यह प्रश्न करने योग्य है कि कि जब लिङ्ग शरीर से जीव जाता है और सूक्ष्म लिङ्ग शरीर जब तक अपने कर्म अनुसार अन्य किसी योनि के स्थूल को धारण नहीं करता बना रहता है तब तुम पिण्ड दान से किस प्रकार का शरीर बनाते हो दूसरा सूक्ष्म लिङ्ग शरीर अथवा स्थूल शरीर यदि लिङ्ग शरीर कहा जाय तो वह ईश्वर नियम से बना ही रहता है उसके बनाने की आवश्यकता ही नहीं है इसके सिवाय यह समझ में नहीं आता कि जो दो लिङ्ग शरीर होंगे एक ईश्वर के नियम अनुसार और दूसरा पिण्डों से तुम्हारा बनाया हुआ तो एक जीव दोनों शरीरों में रह नहीं सकता दो में से एक में रहेगा उन दोनों में ईश्वर के नियम और कर्म सम्बन्ध से जिसमें जीव स्थूल शरीर त्याग कर पहिले था उसमें रहेगा अथवा ईश्वर अपने नियम को भङ्ग करके तुम्हारे बनाये हुये शरीर में जीव को प्राप्त करेगा परन्तु ईश्वर नियम और जीव के कर्म सम्बन्ध का नाश होना असम्भव प्रतीत होने से और लिङ्ग शरीर ही अवस्था में रहने से दूसरे लिङ्ग शरीर का बनना और मानना निरर्थक सिद्ध होने से पिंड दान से सूक्ष्म शरीर का बनना मन्तव्य नहीं हो सकता है यदि यह कहा जाय कि स्थूल बनता है तो जो स्थूल शरीर बनता तो जैसे जिस शरीर को त्याग किया है वह प्रत्यक्ष होता था और जैसे अन्य शरीर धारियों के शरीर प्रत्यक्ष होते हैं ऐसे ही पिण्ड दान से बना शरीर प्रत्यक्ष हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता इससे स्थूल शरीर का बनना सिद्ध नहीं होता दोनों प्रकार के शरीर बनना युक्ति व प्रमाण से सिद्ध न होने से शरीर पूरक पिण्ड प्रदान मन्तव्य और कर्तव्य नहीं है अन्य भी उसके मिथ्या होने का हेतु यह है कि सङ्कल्प में जो कहा है कि शरीर के पूरक पिण्ड प्रदानको मैं करूंगा अथवा करता हूं यह कह कर प्रथम पिण्ड देने वाला यह कहता है कि शिर पूरक यह पिण्ड मुझ से दिया हुआ तेरे पास वा तुझको प्राप्त हो वा तेरे पास उपस्थित हो इसी प्रकार अन्य अङ्गों के लिये पिंड देने में कहना लिखा है इस विधि में पिण्ड का देने वाला तो निश्चित होता है परन्तु किसको दिया जाता है को लेता है इसका पता नहीं लगता क्योंकि वाक्य में किसी का नाम लेकर यह नहीं कहा जाता कि तुभ्यमहं ददामि ग्रहाण, अर्थ—मैं तुझको देता हूं ग्रहण कर तेरे पास प्राप्त हो यह कहने से प्रेत दान पात्र नहीं होता उसके पास पहुंचने मात्र के लिये कहा जाता है इसके सिवाय प्रेत शरीर रहित होने से बिना हाथ के पिंड को ले नहीं सकता न पिंड को लेकर आपही अपने शरीर का रचने वाला हो सकता है इससे प्रेत किसी प्रकार से दान पात्र नहीं हो सका और विधि में अन्य किसी का नाम नहीं लिखा कि शरीर पूरक पिण्ड दान किस को दिया जाता है कौन लेकर शिर आदि शरीर

के अङ्गों की रचना करता है यह आश्चर्यजनक दान की विधि है बिना दान देने योग्य दान पात्र के दाता दान को देता है और बिना दान लेनेवाले के दान सिद्ध हो जाता है यह भी एक उन्मत्त वचन के समान मिथ्या प्रलाप मानने का हेतु है। ब्रह्मा या ब्रह्म को दान देकर दान देने वाला यह पार्थना करता कि इन पिंडों को लेकर मेरे प्रेत के शरीर को आप बना दीजिये तो उन्मत्त वाक्य और हास्य योग्य होने में तो कुछ भेद न होता परन्तु किस को दान दिया इतना ज्ञात हो जाता चाहै यह ज्ञान बुद्धिमान प्रेत मजरी के निर्माता के हृदय में आगया हो कि ब्रह्म बिना पिंड सामग्री पाये पच भूतों से शरीर निर्मित कर सकता है इससे उसको पिंड दान देकर शरीर निर्माण की पूार्थना करना अनुचित होगी इससे ब्रह्म को दान पात्र नहीं बनाया अथवा यह समझा होगा कि हमारे वर्ण में उत्पन्न ब्राह्मणों की इच्छा और वाक्य अनुसार प्रेत का शरीर बन जायगा ऐसा विद्या व विचार रहित जन हमारे पुस्तकों के लेख का विश्वास कर लेवेंगे इससे लेख को असत्य माने जाने की शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है ॥

अन्य हेतु यह भी विचारणीय है कि ईश्वर स्त्री के गर्भाशय में शुक्र और शोणित से क्रम से नव दशमहीना में शरीर को पूर्ण करके उत्पन्न करता है और प्रेत मजरी के निर्माता को पिंडदान से नव दिन में और इच्छा हो तो एक दिन और एक ही प्रहर में दश गात्र वा शरीर पूरक पिंड दान करने के द्वारा पूर्ण शरीर बनाने का सामर्थ्य हो गया था और वही सामर्थ्य अपने लेख द्वारा सत्य विचार और ब्राह्मण धर्म से रहित अपने वर्ण व्यक्तियों को दे दिया है परन्तु पिंडदान से शरीर बनना इस हेतु से असत्य होना निश्चित होता है कि जब से शरीर पूरक पिंड दान की सिद्धिया प्रेत मजरी के निर्माता को प्राप्त हुई थी जो उससे पूर्वकाल में किसी महर्षि व सिद्ध पुरुष को ज्ञात व प्राप्त नहीं हुई थी तब से आर्य्यावर्तवासी मनुष्यों की स्त्रियों के गर्भाधान से नव अथवा दश दिन में पुत्र वा कन्या उत्पन्न होना चाहिये था पूाचीन ईश्वर का नियम जो नव व दश महीना में उत्पन्न होने का था वह न रहना चाहिये था यदि इस हेतु से कि बहुत ऐसे भी मनुष्य है कि वे प्रेतमजरी के अनुसार प्रेत के लिये कर्तव्य कर्म को नहीं करते सब स्त्रियों के गर्भस्थ पूाणी का जन्म नव दश दिन में न होता तो पूाय अनेक स्त्रियों के गर्भमें प्राप्त पुत्र वा कन्या का जन्म तो अवश्य ही होता क्योंकि जो शरीर शरीर पूरक पिंडदान से दश दिन में पूर्ण बन जाता है तो प्रथम तो ऐसे शरीर धारियो की एक अयोनिज नई सृष्टि होनी चाहिये थी और जिसके घरका शरीर धारी शरीर त्याग कर प्रेत हुआ था कि तो उसके घर में यमराज की प्रेरणा से आजाना चाहिये था अथवा अन्य किसी के यहाँ उस शरीर धारी को पहुंच जाना चाहिये था परन्तु ऐसा कहीं देखने और सुननेमें नहीं आता इस से यह निश्चित है कि ईश्वर व यमराज ने ऐसा करना उचित नहीं समझा सब प्राणियो शरीर धारियों को जिनको गर्भ द्वारा उत्पन्न करता रहा है वैसाही अब भी उत्पन्न करता है परन्तु गर्भ द्वारा उत्पन्न होने में भी जिनके सब

ङ्ग सहित पूर्ण शरीर शरीरपूरक पिण्डों से बन चुका है अब बनने बनाने को कुछ शेष नहीं रहा उनको जिस गर्भ में प्राप्त करता उनका जन्मशीघ्रही होना चाहिये था अथवा जिस दिन प्रथम शिर पूरक पिण्डदान किया गया और शिर बना जो उसी दिन वह गर्भ में स्थित करदिया जावे तो दशवे दिन जिस दिन शरीरपूर्ण होकर क्षुधा व पिपासा भी लगती है उसका जन्म होजाना चाहिये नव महीना वा दश महीना से पहिले गर्भस्थ का जन्म इससे नहीं होता कि इतने समय में गर्भ में शरीर बनता है इससे कम में मनुष्यका शरीर पूर्ण नहीं होता जिन शरीर धारियों के शरीर इससे न्यून काल में गर्भ में बन जाते हैं उनका न्यून काल में जिनका और अधिक काल में बनना है उनका अधिक काल में जन्म होता है जैसे बकरा आदि घोड़ा और हाथी आदि का जन्म ॥

जितना काल गर्भ में शरीर बनने के लिये आवश्यक है उतने काल तक गर्भ में रहता है शरीर पूर्ण होने के पश्चात् उत्पन्न होता है शरीर पूरक पिण्डों से जिनका शरीर दश दिन में पूर्ण होजाता है उनको गर्भ में अधिक रहने की आवश्यकता नहीं है दश दिन में अवश्य जन्म होना चाहिये बने हुये शरीर को देना प्रयोजन गर्भ में निरर्थक शरीर की उत्पत्ति का नियम कर्ता क्यों डाल रक्खेगा इससे उनका जन्म होने में दश दिन से अधिक व्यतीत न होना चाहिये परन्तु किसी गर्भ से दशवे दिन सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती इससे और पूर्व वर्णन किये हुये हेतुओं से शरीर पूरकपिण्डदान की विधि सर्वथा मिथ्या पाखण्ड जाल मात्र है इससे किसी बुद्धिमान को मानना और करना उचित नहीं है ॥

इसके अनन्तर अस्थि सञ्चयन कार्य (मृतक के शरीर की हड्डियों का एकत्र करना) की विधि है जिसमें प्रतेकोदिष्ट श्राद्ध और श्मशान के देवताओं को उद्दिष्टमन्त्र पढ़कर बलि देना और प्रेत के मित्र साथियों को पिण्ड देना आदि बहुतसी पाखण्ड की बातों को लिखकर मृतक के अस्थियों को कुम्भ में रखकर बन में रखने को लिखा है फिर चिता भूमि में वृक्ष लगाना षट्श्राद्ध करना दशवें दिन शुद्ध होना लिखकर एकादशाह (ग्यारहवे दिन) की विधि बहुत विस्तार से अनेक प्रकार के दानों सहित वर्णन किया है प्रथम कलश गणेश की पूजन के पश्चात् शय्यादान के अर्थ ब्राह्मण को वरण करने को लिखा है और शय्यादान की विधि का वर्णन है और अन्त में दान देने के सङ्कल्प में यह कहा है कि हे अमुक शर्मन अमुक वेद पढनेवाले ब्राह्मण ईश्वर की प्रीति के लिये यह शय्या मैं तुमको देता हूं इस प्रकार से कहकर धर्मात्मा वेद अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण को अपने लिये उत्तम फल प्राप्त होने की आशा से दान देना तो यथार्थ है परन्तु कुपात्र महाब्राह्मण वा अन्य दुराचारी मूर्ख ब्राह्मण को मृतक के कल्याण के लिये दान देना केवल अज्ञान और अनुचित कर्म है। इसके पश्चात् काँचन पुरुष (सोने का पुरुष बनाकर दान देने) की विधि है फिर द्विज दम्पती की पूजा फिर वृषोत्सर्ग की विधि है इस वृषो

र्ग की विधि में बहुत विस्तार से ढोंग और दम्भजाल का फैलाव है इसमें
ह लिखा है कि जो प्रेत के उद्धार के लिये ग्यारहवें दिन वृषोत्सर्ग न करे तो
तक प्रेत ही बना रहता है चाहे सौ श्राद्ध करे वह प्रेतत्व से नहीं छूटता
स प्रकार से वृषोत्सर्ग का महात्म्य कहकर वृषोत्सर्ग कर्म में अग्नि स्थापन
पन कलश प्रतिष्ठा कलशपूजा होम करना कहकर वृषभ के दाहिने कान
रुद्राध्याय का जप करने के पश्चात् चार बछियों सहित वृषभ के विवाह
रने का वर्णन है उसमें बछियां सहित वृषभ को वस्त्र धारण कराना
कण बाधना वृषभ से प्रार्थना करना उसके अगन्यास करने में अग
ग पूछ में मन्त्र पढ़ नामें "यथेमां वाचं कल्याणीम ॥ इत्यादि यह
ो यजुर्वेद का मन्त्र ईश्वर ने सब के लिये वेद वाणी के उपदेश विषय
ें कहा है जिसका कुछ सम्बन्ध बैल व पूँछ से नहीं है पढ़न को लिखा है फिर
ाखोच्चार फिर परिक्रमा करने के पश्चात् जिस बछिया के साथ विवाह होता
ै उसकी पूँछ के साथ बैल की पूँछ मिला कर पूँछ में जल छोड़कर सम्पूर्ण
ेवताओं और पितरों का तर्पण किया जाता है। इस तर्पण का ऐसा उत्तम
च्छ पूँछ के बाल बरोमों से गिरा हुआ जल देवताओं के राजा इन्द्र को इन्द्र
ोक में और ब्रह्मा विष्णु शिव को उनके लोकों में न प्राप्त होता होगा तो अ-
श्य पान करके तृप्त और प्रसन्न होते होंगे क्योंकि इन सब का पूँछ में जल
ोड़ कर तर्पण किया जाता है यदि पूँछ से गिरे हुये जल के तर्पण से तृप्त व
प्रसन्न न होते होंगे तो तर्पण करने वाले को इस लोक व परलोक में दण्ड देते
होंगे। तर्पण के पश्चात् स्तुति में लिखा है कि जितने रोवें वृषभ व गौओं के हैं
उतने कोटि सहस्र वर्ष रुद्रलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त होना है यह लेख साधा-
रण स्पष्टता से असम्भव और असत्य होना निश्चित होता है। केवल वृषभ
और गोदान कराने प्राप्त करने के लिये यह सब विधि व महात्म्य को वर्णन
किया है। इसके आगे फिर गोदान की विधि है इसमें भी पूजा का विधान है
गौ के लिये धूप दीप नैवेद्य करने का विधान है और गौ की स्तुति में सींग के
मूल में ब्रह्मा विष्णु शिव का रहना आदि वर्णित है सब अङ्गों में सब देवताओं
का वास होना लिखा है और फिर इसकी पूँछ में भी तर्पण करने को लिखा
है। फिर सुवर्ण की मूर्ति धर कर नौका का दान वैतरणी नदी से पार होने के
लिये देने को लिखा है और एक कृष्णा गौ भी वैतरणी नदी से पार ले जाने के
लिये दान देन को लिखा है ॥

इसमें यह विचार करने के योग्य है कि जब वैतरणी नदी से पार होने के
लिये नौका का दान दिया गया तो नौका से पार हो जायगा फिर गाय के देने
की आवश्यकता नहीं है और जो यह कहते हैं कि यमराजपुरी के जाने में
मार्ग में एक भयकर वैतरणी नदी मिलती है उसमें पड़ कर जीव डूबता है
और फिर ऊपर को आता है घबड़ाता है पार नहीं जा सकता परन्तु
वैतरणी से पार उतरने के लिये जो गो दान करता है उसके लिये गौ वैतरणी के

किनारे में पहुँचती है उसकी पछ पकड कर जीव वेतरणी नदी से पार होजाता है तो जो गो दान दिया है वह गौ पार कर देगी उसके लिये नौका दान देने की आवश्यकता नहीं है जब दो में से एक ही के दान से अपना प्रयोजन सिद्ध होता है तो दोनों दान कराना केवल दान में गाथ वधन प्राप्त होने के लिये है और वैतरणी नदी का होना और उससे पार होने का वर्णन भी एक असत्य कल्पना है ऐसी मिथ्या बातें किसी ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में नहीं हैं। जो पुस्तक स्वार्थ साधकों ने ठगने और धन लेने के लिये बनाया है उनमें यह जानकर कि अज्ञानी विचार रहित मनुष्य पुस्तक के लेख को यथार्थ मान कर लेख के अनुसार अवश्य दान देवैंगे अपनी इच्छा अनुसार लिख दिया है। इसके सिवाय यह भी यहां वर्णन के योग्य है कि इस प्रेत मजरी में मृतक के लिये कर्तव्य कर्म के करने का विधान है परन्तु जब प्राणी के प्राण त्याग का समय निकट आता है यह ज्ञात होता है कि अब मरने चाहता है उस समय में शरीर त्याग होने से पहिले वैतरणी से पार होने के लिये गौ दान मृतक होने वाले से उसके पुत्र आदि करा देते हैं जिससे उस समय में वैतरणी से पार होने के लिये गोदान कराया गया है उसके लिये फिर एकादशाह को वैतरणी के लिये गोदान कराने का कुछ आवश्यकता नहीं है तथापि एकादशाह को फिर वैतरणी के दान का विधान से ही काचन पुरुप का दान प्रथम एक बार लिखा है फिर नौका दान के साथ सुवर्ण मयी मूर्ति का दान फिर सुवर्ण के घट का दान फिर तेरही शान्ति में दान के लिये तेरह तेरह संख्या में लोठा छत्र पादुका उपानद [जूता] मुद्रा लिखने के पश्चात् एकादशाह के समान फिर शय्यादान की विधि में मिठाई मेवा बिछौना वस्त्र आभूषण तकिया तोशक बटुआ पानदान पीकदान आदि के दान वर्णन करके तेरही शान्ति में भी काचन पुरुप के दान की विधि को लिखा है वृष्णोत्सर्ग गोदान सुवर्णमयी विष्णुकी मूर्ति आदि का दानदेनेकोभी लिखा है इस प्रकार से एक एक प्रकार का दान विशेषत सुवर्ण और गौ सम्बन्धी अनेक बार बिना विचार लिखने का आशय केवल अपने लिये धन गौ बैल घोडा पालकी वस्त्र सुवर्ण आभूषण अन्न आदि सब प्रकार के पदार्थ प्राप्त करने का है प्रेत कर्म करने वाला अपने सामर्थ्य भर जहां तक धन व्यय कर सके करे चाहे उसके पास धन रहै वा न रहै चाहे अपने पिता अथवा अन्य प्रिय के स्वर्ग प्राप्त करने में ऋण लेकर व्यय करे पीछे ऋण आदि देने की असमर्थता से उसको दुःख प्राप्तहो उसका प्रेत चाहे नरक को जाय चाहे स्वर्ग को कुछ प्रयोजन नहीं है केवल छल से स्वर्ग व सुख प्राप्त होने का विश्वास करा के अपने अर्थ साधन का प्रयोजन है क्योंकि जो दान लेते हैं जिनको दान देने से अज्ञान दान देने वाला अपने मृत प्राणियो को स्वर्ग और सुख प्राप्त होने की कामना करता है वे प्राय आपही ऐसे कर्म करते हैं जिससे परिणाम में उनको स्वर्ग व सुख प्राप्त नहीं हो सकता उनको दुःख और नरक प्राप्त होने का अनुमान होता है ऐसों के दान के फल से दूसरे की सुगति कभी नहीं हो

सकतो कुगति अवश्य हो सकती है क्योंकि मनुमहाराज ने ऐसा लिखा है

अतपस्त्वनधीयानः यः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः अम्भस्यश्मप्लवेनैव सहतेनैव मज्जति ॥ त्रिष्वप्येतेषुयद्दत्तं विधिनाप्यर्जितं धनम् दातुर्भवत्यनर्थायपरत्रादातुरेवच ॥

अर्थ—तप रहित वेद को न पढा हुआ या न पढ़ता हुआ और जो प्रति ग्रह में रुचिरखने वाला ब्राह्मण है उसको जो दान देता है उसकी यह दशा होती है जैसे पत्थर के नाव में चढकर कोई किसी जलाशय या नदी के जल के पार जाना चाहता है तो पार तो नहीं जाता किन्तु वह उसी पत्थर की नौका के साथ जल में डूब जाता है ॥

इसके आशय को "त्रिष्वप्येतेषु" इस आगे के श्लोक में स्पष्टता से विवरण करते हैं इन उक्त तीन प्रकार के ब्राह्मणों में अर्थात् तपरहित में विद्या रहित में उचित अनुचित विचार रहित प्रति ग्रह (दानलेने) में रुचिरखने वाल में अर्थात् ब्राह्मण धर्म रहित ऐसे तीन प्रकार के ब्राह्मण में जो विधि से अर्थात् धर्माचरण से भी प्राप्त किया हुआ धन दिया जाता है तो वह पर लोक में दाता के लिये अनर्थ (निकृष्टफल) का कारण होता है और दान लेन वाले को भी अनर्थ का कारण होता है अर्थात् दोनों धर्माचरण करने वाले नहीं होते अधर्म आचरण करनेवाले पापी होते हैं पाप का फल दुःख भोग करते हैं उक्त प्रकार के दान देने वाले को दानसे अनर्थ होना इस हेतु से कहा है कि जो विद्वान धर्मात्मा परमात्मा का उपासक है वही दान देने योग्य दान पात्र है उसको देने से पुण्य और उत्तम फल होता है क्योंकि वह दान में धन पाकर धनके अभाव में जो धनके लिये उसको चिन्ता होती और उसके प्राप्त करने के प्रयत्न में समय व्यतीत होता उस चिन्ता से रहित एकाग्रचित्त हो अधिक समय को प्राप्त कर अधिकता से विद्या धर्माचरण और परमात्मा के उपासन में प्रवृत्त होगा यदि धनका अभाव भी न होगा तो जो धन धर्मात्मा के पास है वह और दानसे प्राप्त हुआ धन दोनों धर्माचरण ही में व्यय किये जायगे धर्मात्मा दान में धन पाकर सुख पूर्वक जो एकाग्रचित्त हो अधिक धर्माचरण और उपासन करता है उसमें दान देनेवाला दान द्वारा सहायक होने से सहायता से उसके आचरण का कारण होनेसे उसके धर्माचरण और उसके फल में भाग प्राप्त करनेवाला होता है इससे दान धर्माचरण और उत्तम फल दायक होता है और जो किसी ज्ञान रहित अधर्म आचरण करने वाले को दान दिया जाता है तो वह उसको अधर्माचरण में व्ययकरता है जो अधर्म कर्म धन न होने से नहीं कर सकता और दान में धन पाकर करता है तो उस अन्याय अधर्माचरण का सहायक दान देने वाला होता है अर्थात् वह भी अधर्मी के अधर्माचरण का और उसके फल का भागी होता है जैसे कोई दुराचारी महापात्र नाममात्रका ब्राह्मण किसी वेश्या वा

पर स्त्री गमन की इच्छा करता है अथवा धन देकर किसी के द्वारा जिससे द्वेष रखता है उसको मरवाना चाहता है परन्तु धनके अभाव से नहीं कर सकता इसी दशा में किसी दाता यजमान से दान में धन पाकर अपने मनोरथ को सिद्ध किया तो जो दाता उसको दुराचारी जानते हुये अथवा धार्मिक व विद्वान न जानते हुये केवल नामसे ब्राह्मण वाच्य होने व अपना पुरोहित जानने से दान देता है वह उसके अधर्माचरण और अधर्माचरण के फल में भाग ग्रहण करने वाला होता है। इससे कुपात्र का दान, दाता के अनर्थ का कारण होता है और लेने वाले को दान अनर्थ का कारण इस हेतु से होता है कि उसकी सहायता से वह अधर्म को करता है और इस हेतु से भी अनर्थ का कारण होता है कि उस के लिये अधर्माचारी दानलेने वाला दानलेने के योग्य दान पात्र न होने की अवस्था में अपने को योग्य न जानते हुये दान ग्रहण करता है और असत्यदान की विधियों को बनाकर झूंठ व छल से यजमान से दान को लेता है॥

इस प्रेत मंजरी व गरुड पुराण प्रेतखण्ड में जो दान की विधि है वह सब माया जाल रूप है केवल धनलेने के लिये स्वार्थ साधकों ने रचना की है इससे यह मन्तव्य और कर्तव्य नहीं है॥

जो दान यथार्थ देने योग्य है वह भी महापात्र गयावाल आदि लेते हैं जिन के आचरण ज्ञात होनेसे यह विदित होता है कि स्मृति व शास्त्र के लेखानुसार वे दान पात्र नहीं हैं अज्ञानता से लोग उनको दानदेते हैं न्यून से न्यून जो एक वेद का जानने वाला और धार्मिक हो अथवा विद्या में विशेष अधिकारी न हो तो यथार्थ धार्मिक तपस्वी हो उसको दान देना चाहिये इससे यह समझकर कि जो जीव शरीर को त्याग करता है वह अपने कर्मानुसार अन्य शरीरको धारण करता है शरीर पूरक पिण्डों से शरीर नहीं बनता और पिण्ड दान न करने से जो उसके कर्मानुसार शरीर प्राप्तहोने योग्य है उस शरीर का होना रुक नहीं सकता वह (मृतक) किसी स्थान में हमारे दिये दान के लेने को स्थित (बैठा) नहीं रहता न हमारे दिये पदार्थ गाय बैल घोडा वस्त्र आदि दान दिये हुये ब्राह्मण के घरसे कोई कहीं ले जाता है न प्रेत के पास पहुचते हैं किन्तु दान देने वालेके धनकी हानि व दान से अधर्म मात्र होता है क्योंकि दान देने वाला पुण्य होने के विश्वास से अपने अज्ञान से धनकी हानि करके पापाचरण करता है अर्थात् दान देकर धन खोता है इससे इस लोक में धनकी हानि और परलोक में पाप का निकृष्ट फल दुःख भोग करता है इससे यह उत्तम है कि महापात्र या कोई अन्य ब्राह्मण वा कुटुम्ब का उक्त दान आदि करने को कहे तो यह कहना चाहिये कि हमारे पिता आदि जैसी करणी किया होगा वैसी गति होगी ईश्वर के नियम के विरुद्ध हम कुछ नहीं कर सकते पिता आदि की भलाई का विचार हम से और तुम में न हो सकता इससे जो हमको उत्तम ज्ञात होगा करेंगे तुम्हारे कहनेसे व्यर्थ व्यय न करेंगे ऐसा उत्तर देना चाहिये महापात्रको कुछ न देना चाहिये और कोई दान किसी कुपात्र को न देना चाहिये। यह

वैतरणी दान वर्णन के साथ प्रसङ्ग से अधिक व्याख्यान किया गया है यद्यपि इतना ही जो वर्णन किया गया है प्रेत मञ्जरी पुस्तक के असत्य होने के सिद्ध पन के लिये पर्याप्त (बहुत) है परन्तु कुछ अधिक विशेष असत्यता के हेतु सूचित करने के लिये वैतरणी दान से आगे जो अन्यदान और कर्म वर्णन किये गये हैं संक्षेप से उनको वर्णन करके उनकी समीक्षा की जाती है।

नौका दान और वैतरणी के अनन्तर एकादशाह श्राद्ध का विधान है उसमें अठारह वस्तु प्रेत श्राद्ध में वर्जित हैं अर्थात् आशिष स्वस्ति अस्तु प्रणव इत्यादि शब्दों के उच्चारण करने और आवाहन प्रदक्षिण विसर्जन आदि का करना वर्जित लिखा है इसके पश्चात प्रेत का निमन्त्रण उसके पाद्य अर्घ पुन कर्मपात्र स्थापन आदि कर्म के पश्चात् छत्र आदि दानों का विधान है प्रथम अति तीक्ष्ण सूर्य की किरणों के तेज से रक्षा के लिये छत्र दान फिर यमराज के मार्ग में असि (तरवार) के वैसे पत्ते और तपी हुई वालू के वन में क्लेश से बचने के लिये उपानह (जूता) का दान फिर घोडा का दान शिविका (पालकी) का दान महिषी (भैंस) का दान वृषभ का दान जवनिका (कनात) का दान भूमि दान सोने के घट का दान लोह दण्ड दान और उपर के दान ब्राह्मण की प्रसन्नता के लिये दिये जाते हैं यह लोह दण्ड का दान यमराज के प्रसन्न होने के लिये दिया जाता है क्योंकि इसके सङ्कल्प में यह कहा जाता है कि यमराज की प्रीति की कामना से यह लोह दण्ड का दान ब्राह्मण को मैं देता हूँ इसके पश्चात कौन दान किस प्रकार से कौन अङ्गस्पर्श करके देना चाहिये इसके वर्णन में हाथी का दान में अर्थात् दान्त में हाथ रख कर दान करे घोड़े का कान में गाय का पूछ में भैंस का सींग में बकरी का स्तन में और नाभि के मध्य में दासी के शिर के बालों में स्त्री के हृदय में और शेष सब दान ब्राह्मण के हाथ में देवे ब्राह्मण को पञ्च पात्र देवे सब दानों में दान प्रतिष्ठा सांगता कराने की विधि है फिर वर्ष पर्य्यन्त के भोजन के लिये वर्षाशन दान देकर ब्राह्मण भोजन और दक्षिणा दान में चान्दी की मुद्रा देने को लिखा है फिर पिण्डदान के समाप्त करने की विधि वेदिका में रेखा करना आदि नीवी विसर्जन आदि करना और शिर में अभिषेक करने को लिखा है इसके पश्चात् प्रथम मास के श्राद्ध करने में यह लिखा है कि प्रथम मास के श्राद्ध में छाता और जूता छोड़ कर जो कुछ एकादशाह में देने को लिखा है सब देना चाहिये फिर प्रत्येक मास में दशाह की तिथि को पिण्डदान करे एक पिण्ड त्रैपाक्षिक (तीन पक्ष में) एक ऊन षाण्मासिक (छ महीना से कुछ कम में) ऊनाब्दिक (वर्ष से कममें) और द्वादशाह श्राद्ध इन सब षोडश१६ श्राद्धों में षोडश पिण्डदान करे इसके पश्चात् सपिण्डी करण विधि है॥

सपिण्डी करण विधि के लेख अनुसार मृतपिता के पिण्ड के लिये पृथक् पाक किया जाता है और पितामह प्रपितामह वृद्ध प्रपितामह के पिण्डों के लिये पृथक॥

इसके पश्चात् वैश्व देव की कृत्य को करके प्रेत कृत्य करके प्रपितामहादि के कृत्य को करे सब का क्रम से निमन्त्रण पद्यार्घ आदि दे कर पूजन करे और यह कहे कि प्रेत के प्रेतत्व छूटने और पितृ रूप होने की कामना से अमुक पितामह के साथ मिलाता हू इसके पश्चात् प्रेत पात्रस्थ जल के साथ पितामह आदि के अर्घ देने के जल को मिलाकर पितामह आदिको को देवे इस प्रकार से सब को धूप दीप चन्दन से पूजन करके जो ब्राह्मण विश्वेदेवों के नाम से निमन्त्रण करके बुलाये जावें और उनकी पूजा की जावे उनको भोजन के लिये अन्न दिया जावे फिर प्रेत को उसके पश्चात् पितरों को अर्घ समर्पण करे इस प्रकार से सब पिण्डदान की विधि से पिण्डदान कृत्य को करके अन्त में सोने या चांदी की शलाका से अथवा कुशा से प्रेत के पिण्ड के तीन भाग करे बायें हाथ में पितामह के पिण्ड को और दाहिने हाथ में प्रेत के पिण्ड के एक भाग को लेकर पितामह के पिण्ड में मिलावे इसी प्रकार से दूसरे भागको प्रपितामह के पिण्ड में तीसरे भाग को वृद्ध प्रपितामह के पिण्ड में मिलावे इसी प्रकार से माता के सपिण्ड करण में माता के पिण्ड को पितामही प्रपितामही वृद्ध प्रपितामही के पिण्डों के साथ मिलाने को वर्णन किया है इसके पश्चात् तरही शान्ति के कृत्य में छत्र जूता लोटा आदि तेरह तेरह दान करने के पश्चात् जैसा कि वैतरणी वर्णन में प्रसंग से, पूर्व ही वर्णन किया गया है फिर कंचन पुरुष के दान और वृषोत्सर्ग करने की विधि को वर्णन किया है ॥

अब उक्त एकादशाह आदि विधि में इस प्रकार से विचारणीय है कि एकादशाह में शय्यादान कांचन पुरुष दान वृषोत्सर्ग विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन वृषभ और गोके पुच्छ के जल से ब्रह्मा विष्णु आदि सब देवताओं व पितरों का तर्पण और सब प्रकार के दान दासियों और स्त्री तक का दान लिखा है। इस दान विधि में विचार करने से और पुस्तक ही के पूर्वापर के लेख से अयुक्त असभव होने और केवल स्वार्थ साधन अर्थात् धन और सुख सामग्री प्राप्त करने के मनोरथ से मायाजाल रूप दानों की विधि के वर्णन करने का निश्चय होता है स्वार्थ साधकों ने यह विचार कर कि विद्या व विचार रहित मनुष्य इस हमारे रचित पुस्तक के लेख को धर्मशास्त्र का लेख विश्वास करके जैसे इसके लेख के अनुसार अपने मृतक पिता आदि के लिये सब सुख सामग्री का दान देवेंगे वैसा ही सेवा और स्त्री सुख भोग के लिये दासियो और स्त्री का भी दान देवेंगे जिसका आनन्द हम और अन्य दान लेनेवाले ब्राह्मण भोग करेंगे मृतक अपने कर्म अनुसार नरक स्वर्ग कुयोनि सुयोनि जहां प्राप्त होना होगा वहा जावैगा हमको उससे क्या प्रयोजन है, स्त्री तक के दान को लिखा है कोई असमर्थ होने से अथवा किसी अन्य हेतु से दासियो और स्त्री का दान न करे व न कर सके तो क्या करें परन्तु वे अपने सुखभोग के लिये दासियो और स्त्री प्राप्त करने के उपाय से भी नहीं चूके। यह मार्ग के अधकार दूर करने के लिये दिये हुये दीप दान के प्रकाश प्राप्त होने के समान वैतरणी से तरने के लिये दान

में दी हुई गाय और नौका। वैतरणी में शीघ्र प्राप्त होने के समान एकादशाह में दिये हुये दानों की सब सामग्री भी शीघ्र मृतक के पास पहुंचना और उनके भोग का सुख उसको प्राप्त होना चाहिये कोई क्लेश उसको न रहना चाहिये परन्तु आगे के लेख से विदित होता है कि एकादशाह में जो वर्ष पर्य्यन्त के भोजन के लिये वर्षाशन का दान दिया जाता है वह निष्फल होता है प्रतिमास में वर्ष पर्य्यन्त बारह महीनें में तथा त्रैपाक्षिक आदि सोलह पिण्ड के देने के लिये षोडश पिण्ड दान देने के लिये लिखा है और प्रथम मास के श्राद्ध में लिखा है कि छत्र और जूता को छोड़कर सब एकादशाह के समान करना चाहिये इस लेख में यह प्रश्न करने योग्य है कि जो सामग्री एकादशाह के दान में पहुंच गई है तो फिर उसके देने और पहुंचने की आवश्यकता नहीं है और यदि वह नहीं प्राप्त हुई तो फिर दान देना भी निष्फल होगा एकबार मूर्खता से धन की हानि किया फिर उसी मूर्खता के काम को क्यों करना चाहिये ॥

गरुड पुराण में लिखा है कि बारह महीना में मृतक यमपुरी में पहुंचता है। बारह महीनों में बारह पिण्ड और त्रैपाक्षिक आदि चार पिण्डदान सहित सोलह पिण्डदान करना चाहिये यह प्रति मास में किये हुये पिण्डदान मृतक को जहाँ विशेष अन्न जल रहित स्थान हैं वहा भोजन के लिये मिलते हैं इसमें एक तो यह असत्यता पाई जाती है कि जिसको सामर्थ्य है और वर्षाशन तथा सब प्रकार के दान आभूषण वस्त्र सवारी गौ भैंस आदि एकादशाह में दिया हैं उस सामग्री से सब भोजन आदि मृतक के पास प्राप्त रहना चाहिये परन्तु जो बिना मासिक श्राद्ध या पिंडदान के मृतक को स्थान विशेषों में भोजन प्राप्त नहीं होता तो एकादशाहमें वर्षाशन (वर्ष भर के लिये भोजनदान) आदि दिये हुये दान व्यर्थ (निष्फल) होना विदित होते हैं। यह जो लिखा है कि असि पत्रों के वन में मार्ग के क्लेश की निवृत्ति के लिये मैं जूता को दान करता हूं यह भी लेख सत्य मानने योग्य नहीं है क्योंकि असि पत्र में अर्थात् जो तलवार के समान पत्तों का वन है उन पत्तों पर जूता पहिर कर शरीर के भार सहित जो पद रखकर दो ही तीन पद चलेगा तो जूता का चमड़ा कट जावेगा और पद के तल वे भी कट जायगे प्रेत (मृत) चलने को समर्थ न होगा क्लेश से गिरेगा तो सब शरीर ही कट जाएगा इससे लोहे के जूता बनवाकर दान देने को लिखता तो चाहे किसी प्रकार से उस वन से पार हो जाता। फिर यह समझ में नहीं आता कि जब एक वर्ष में यमराज के यहाँ पहुंचता है एक वर्ष मार्ग चलने में व्यतीत होता है बीच में कहीं ठहर नहीं सकता तो एकादशाह के दानों के पदार्थो को जो उसको शीघ्र मिल जाते होंगे उनको कहा छोड़ जाता होगा और किसको सौंप जाता होगा और यहाँ जहां दान दिया जाता है यहा से कैसे हाथी घोड़े रथ शय्या दासियाँ और स्त्री आदि उसके पास पहुंचते हैं अथवा अन्य उसी प्रकारके नाम रूप पदार्थ बने हुये मिलते हैं ऐसा किस प्रमाणसे निश्चित होता है ॥

कोई प्रमाण कहन के योग्य नहीं है ऐसा असम्भव और अयुक्त लेख किसी

आर्ष ग्रंथ आश्वलायन गृह्य सूत्र आदि व मनुस्मृति में नहीं है और प्रेत खण्ड व प्रेत मंजरी आधुनिक ग्रन्थ माया जाल रूप मन्तव्य नहीं है ॥

सपण्डी करण में जो पिता को पितामह प्रपितामह वृद्धप्रपितामह के साथ और माता को पितामही प्रपितामही वृद्धप्रपितामही के साथ मिलाने की विधि में मृत पिता के पिंड के भागों को पितामह आदि के पिण्डों में और मृतक माता के पिंड के भागों को पितामही आदि के पिंडों में मिलाकर पितामह आदि में पिता को पितामही आदि में माता को मिलाता है इसमें यह प्रश्न करने योग्य है कि श्रुतिस्मृति से यह निश्चित सिद्धान्त है कि सङ्कल्प अनुसार अर्थात् जैसी भावना से जीव उपास्य इष्ट की उपासना करता है अथवा जैसे उसके चित्त की वृत्ति होती है वैसे ही उसकी गति होती है पुण्य कर्म से उत्तम अवस्था को उत्तम योनि को प्राप्त होता है पाप कर्म से निकृष्ट अवस्था को निकृष्ट योनि को प्राप्त होता है इसमें यह श्रुति वाक्य प्रमाण है।

यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषोभवति तथेतः प्रेत्य भवति ॥

अर्थ—जिस प्रकार का सङ्कल्प वा ध्यान इस लोक में पुरुष करता है वैसा ही मरने के पश्चात् होता है तथा

पुण्योवै पुण्येन कर्मणाभवति पाप. पापेन

अर्थ—(पुण्य) उत्तम नि सन्देह पुण्य से अर्थात् उत्तम कर्म से होता है पाप अर्थात् निकृष्ट पाप से अर्थात् पापकर्म से होता है ॥

तथा यह श्रुति है—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन ब्रह्मयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूय चरणा. अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरनश्वयोनिं वा सूकर योनि वा चाण्डालयोनिवेति ॥

अर्थ—(तत् कोऽर्थ तेषा मध्ये) उनमें से अर्थात् उक्त कर्म संस्कार युक्तों में से (ये) जो (इह) इस संसार में (अभ्याश*) शीघ्र वा अवश्य आने वाले हैं (ते) वे (यत् रमणीय चरणा) जो पुण्य आचरण करने वाले हैं (रमणीयां योनिम्) उत्तम योनि को (आपद्येरन) प्राप्त होते हैं वा प्राप्त होंगे (ब्रह्म योनि इत्यादि) ब्राह्मण योनि को क्षत्रिय योनि को वैश्य योनि को (अथ य)

* अभि आङ पूर्वक अशूङ्व्याप्तौ धातु से अभ्याश शब्द बनता है उपसर्ग वश से धातु का अर्थ अन्य हो जाता है इससे अभ्याश शब्द का अर्थ अभ्यागन्तार अर्थात् आनेवाले ग्रहण किया जाता है कोई आचार्य अभ्याश शब्द का अर्थ शीघ्र कोई अवश्य ग्रहण करते हैं यह भी अर्थ इस आशय से ग्राह्य है कि पुण्य क्षीण होने पर शीघ्रही इस लोक में आते हैं अथवा कर्मसंस्कार अनुसार अवश्य ही सुयोनि वा कुयोनि को प्राप्त होते हैं ॥

और जो (इह अभ्याश) इस लोक में आने वाले हैं (ते यत् कपूय चरणा) वे यदि पाप आचरणवाले हैं तो (कपूया योनि आपद्येरन) निकृष्ट योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् (श्वयोनि इत्यादि) कुत्ता की योनि को शूकर की योनि को चाण्डाल योनि को प्राप्त होते हैं । उप लक्षण मात्र के लिये दो तीन योनियों के नाम कह दिया है इसी प्रकार से अन्य सुयोनियों और कुयोनियों में प्राप्त होना समझ लेना चाहिये । इस श्रुति में आपद्येरन के स्थान में अपद्यान्त का अर्थ इस हेतु से ग्रहण किया गया है कि वैदिक प्रयोग होनसे लकार का व्यत्यय है॥

इस लग से भाषा जानने वाले महाशयों को कुछ प्रयोजन नहीं है संस्कृतज्ञ महाशयों के सन्देह निवृत्ति के लिये लिख दिया है मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में विस्तार से कर्म अनुसार गति होने का वर्णन है उसमें से कुछ प्रमाण के लिये लिखा जाता है—

येन यांस्तुगुणेनैषा संसारांन्प्रतिपद्यते तांसमासेनवक्ष्यामि-सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ३९ देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसा. तिर्यक्त्वंतामसा नित्यमित्येषा त्रिविधागतिः ॥ ४० ॥

अर्थ—इनमें से (उक्त तीन गुणों में से) जिस गुण से जीव, जिस संसार गति को प्राप्त होता है उसको यथाक्रम संक्षेप से वर्णन करूंगा ॥ ३९ ॥

सत्व गुण वाले देव त्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् देवता होते हैं रजोगुण वाले मनुष्य होते हैं तमोगुणवाले तिर्यक योनि को अर्थात् पशु पक्षी कृमि कीटयोनि को प्राप्त होते हैं नित्य यह तीन प्रकार की गति है ॥ ४० ॥

इस प्रकार से श्रुति स्मृति प्रमाण से गुण व कर्म अनुसार जीव की गति होना सिद्ध है इससे जो अपने मृतक पिता को पितामह आदि में मिलना है उसके पिता का उसके पितामहोंआदि में मिलना इस हेतु से सर्वथा अयुक्त और असम्भव है कि भिन्न भिन्न शरीर धारियों के गुण व कर्म भिन्न भिन्न होने से प्रत्येक की गति दूसरे से भिन्न होती है इस से मृत पिता और पितामह प्रपितामह वृद्धप्रपितामह चारों अपने गुण कर्म अनुसार उत्तम मध्यम निकृष्ट अवस्थाओं और योनियों को अवश्य प्राप्त हुये होंगे और होंगे ऐसा निश्चित होने में कल्पना की जावे कि किसी के पितामह प्रपितामह वृद्धप्रपितामह अपने कर्मअनुसार देवता यक्ष गन्धर्व अथवा राक्षस पिशाच आदि अथवा बैल हाथी घोड़ा योनि को प्राप्त हुये हैं और प्रेत पिता के कर्म मनुष्य या पक्षी होने के योग्य है तो सपिण्डी करने के समय में प्रेत पिता का कृमि योनि का शरीर तीन खण्ड होकर एक एक खण्ड देवता यक्ष गन्धर्व योनियों में प्राप्त हुये पितामह आदि में मिलेगा मनुष्य शरीर पक्षी शरीर या अन्य किसी योनि का विलक्षण योनि का शरीर अपने से विलक्षण योनि के शरीर में मिल नहीं सकता तो सपिण्डी कराने वाले ब्राह्मण के कहने मात्र से या पिण्ड में पिण्ड मिलाने से इत्यादि पिता आदि वृद्ध प्रपितामह

पर्यन्त चारों के भिन्न भिन्न कर्मों के अनुसार हुये और होने योग्य* शरीरों के नियम को परित्याग करके सब को किसी एक शरीर में कर देवेगा और एक शरीर में करेगा तो किस एक शरीर में करेगा यह विचार से निश्चित नहीं होता और बिना शरीर में मिल कर एक हुये सपिण्डी करना मिथ्य होता है। एक प्रकार सपिण्ड होने का यह अनुमान किया जा सकता है कि जैसे पुराणों में प्रसिद्ध है कि जब विष्णु महाराज ने नृसिंह रूप धारण किया है तब आधा शरीर मनुष्य और आधा शरीर सिंह का बनाया था इसी से नृसिंह नाम प्रसिद्ध हुआ है इसी प्रकार से पिता आदि के चार भिन्न शरीर में से कोई अङ्ग किसी शरीर का कोई अङ्ग किसी शरीर का इस प्रकार का विचित्र एक शरीर ईश्वर निर्मित कर देता होवे तो सपिण्डी पिता की पिता मह प्रपितामह वृद्धप्रपितामह के साथ हो सकती है परन्तु ऐसा होने में भी शरीर जिनके खण्ड हो सकते उसके खण्ड दूसरे शरीरों में, मिलना संभव है निरवय व अखण्ड एक पिता के आत्मा के तीन खण्ड होकर पितामह आदि के साथ मिलना संभव नहीं है न एक शरीर में एक से अधिक जीव उसमें रह कर कर्म फल भोग कर सकते हैं इस से इस प्रकार से भी सपिण्डी करण मानना युक्त नहीं हो सकता, यदि यह माना जाय कि उक्त प्रकार से चार शरीरों के अङ्गों युक्त एक प्रकार के विचित्र एक समान चार जीवों के रहने के लिये चार शरीर होने से सपिण्ड होना माना जाय अर्थात् चार पिता पिता मह आदि के चार हाथी बैल घोड़ा मनुष्य के शरीर के अङ्गों से संयुक्त जिसमें शिर मनुष्य का ऐसा हाथ घोड़े के दो अगले पांव के सामन बीच का धड़ बैल के तुल्य पांव हाथी के सदृश हों ऐसे चार शरीर एक समान होने से सपिण्ड का अर्थ समान शरीर का ग्रहण किया जावे तो यदि मनुष्य वा मनुष्य से उत्कृष्ट योनियों में प्राप्त शरीरों के अङ्ग युक्त एक प्रकार का शरीर मनुष्य देवता यक्ष गन्धर्व अथवा किसी चार शरीरों के अङ्गों से युक्त निर्मित एक समान चारों के शरीर होने से पिता पितामह आदि के शरीरों के समान शरीर वाला होने से सपिण्ड समझा जावे तो ऐसा माह्य हो सक्ता है परन्तु जब किसी प्रमाण से यह सिद्ध और निश्चित हो जावे कि परमात्मा कल्प कल्पान्तरों से और इस कल्प में सृष्टि उत्पत्ति की आदि से जीवों के भिन्न भिन्न मन की वृत्तियों व कर्म अनुसार भिन्न भिन्न उत्कृष्ट व निकृष्ट अवस्थाओं व योनियों में प्राप्त करने का जो नियम किये था उसको सपिण्डी कराने व करने वाले के वचन के अधीन हो परित्याग करके सपिण्डी करने के लिये विचित्र नये शरीर उत्पन्न करना स्वीकार कर लिया है और ऐसे शरीर धारियों के निवास करने के लिये एक लोक भी नया निर्मित किया है परन्तु ऐसा होना किसी प्रमाण व विचार में किसी प्रकार से किसी युक्ति व तर्क से सिद्ध नहीं होता जब तक प्रमाण से सिद्ध नहीं होता तब तक हमको यह कहना यथार्थ विदित होता है कि प्रेत खण्ड व प्रेत मञ्जरी बनाने वालों ने

अपने निर्मित पुस्तकों में मायाजाल रूप अनेक असत्य कृत्यों को वर्णन किया है उनमें से एक यह सपिण्डी कर्म है गरुड़ पुराण के अध्याय १२ में यह लिखा है कि भगवान ने गरुड़ से कहा है ॥

प्रेतपिण्डंत्रिधाकृत्वासुवर्णस्यशलाकया पितामहादिपिण्डेषुमेल येत्तं पृथक् पृथक् ३९ पितामह्यासममातुः पितामहसमंपितुः सपिण्डीकरणकुर्य्यादितिताक्ष्यमतमम ॥ ४० ॥

अर्थ-प्रेतके पिण्ड को सोने की शलाका से तीन प्रकार का करके अर्थात् पिण्ड के तीन खण्ड करके पितामह आदिके पिण्डों में पृथक २ मिलावें ३९ पितामही (आजी) के समान माता को आजा के समान पिता को सपिण्डी करण करे हे गरुड़ मेरा यह मत है। ४० ॥ ऐसे लेख से यदि पितामह के साथ सपिण्डी करण से समता होना माना जाय तो प्रपितामह और वृद्ध प्रपितामह के पिण्डों के साथ मृतपिता का पिण्ड मिलानानि फल है पितामह के पिण्ड मात्र में मिलाना लिखना था पितामह आदि में पृथक २ मिलावें यह कहना व्यर्थ और अयुक्त है और कर्म और कर्म फल की विलक्षणता से एक का किसी एक ही अन्य के साथ समता नहीं हो सकी इससे सपिण्ड से समता होना अयुक्त है

त्रयोदश दिन में अर्थात् तेरहवें दिन शान्ति की विधि लिखी है जिसको भाषा में तेरही शान्ति कहते हैं इस विधि में तेरह लोटा (जलपात्र) तेरह छत्र तेरह उपानह (जूता) आदि तेरह तेरह लिखकर जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है इसमें भी शय्यादान की विधि है और एकादशाह के शय्यादानके समान सब शय्यादान की सामग्री लिखी है और वृषोत्सर्ग करने को भी लिखा है इस पुनर्वार लिखने का कारण यह है कि एकादशाह के दिन के जितने दान हैं सब महापात्र अथवा प्रयाग व गया में प्रयाग व गया के पण्डे लेते हैं पुरोहित नहीं लेते तेरही शान्ति के दान को पुरोहित लेते हैं पुरोहितों ने यह समझ कर कि महापात्र तो बहुत लेगया हमारे हाथ कुछ न लगा भोजन और लोटा वस्त्र छाता आदि पाय भी गये तो कुछ विशेष लाभ नहीं है इससे तेरही शान्ति में भी शय्यादान की विधि सोने की विष्णु की मूर्ति का दान वृषोत्सर्ग की विधि को वर्णन किया है यद्यपि एकादशाहमें एकवार सब दानों को करके फिर द्वितीयवार दान करने वाले को उत्साह नहीं रहता इससे तेरह वस्त्र तेरह लोटा तेरह जूता तेरह छत्र इतना प्राय लोग करते हैं कोई कोई न्यून सामग्री से शय्यादान भी करते हैं अधिक नहीं करते कदाचित् कोई विशेष धनवान अज्ञानता वश विधि के लेख अनुसार करना भी हो करना न करना तो करनेवाले के सामर्थ्य और श्रद्धा के अधीन है परन्तु दान लेने वाले ब्राह्मणों ने अपने लाभ के लिये फिर दान विधि लिखने में त्रुटि या न्यूनता नहीं की ॥

अब यह प्रश्न करने योग्य अथवा विचारणे योग्य है कि एकादशाह में जो छत्र आदि दिये गये हैं क्या वह प्रेत को नहीं मिले जो फिर छत्र सुवर्ण की मूर्ति व शय्यादान वृषोत्सर्ग करने की आवश्यकता हुई एकादशाह और त्रयोदश में केवल दो दिन का अन्तर होता है क्या दोही दिन में एकादशाह में मिले हुये सब पदार्थ व्यय से निश्शेष होगये अर्थात् सब खर्च हो गये अब कुछ नहीं रह गया जो तेरहवें दिन फिर उन्हीं पदार्थों के दान देने की आवश्यकता ज्ञात हुई है अथवा एकादशाह का दिया हुआ नहीं प्राप्त हुआ यह जान कर फिर त्रयोदशाह के दिन उन्हीं पदार्थों के दान देने का विधान है दोनों प्रकार में से एक प्रकार से भी तेरहवें दिन का दान देना युक्त विदित नहीं होता क्योंकि जो विशेष धनवान ने एकादशाह को सहस्रों रुपयो की सामग्री छत्र वस्त्र शय्या आभूषण वर्षाशन पात्र गाय बैल भैंस पालकी रथ घोड़ा आदि वाहन दिया है उनका दो दिन के अन्तर में न रहना सम्भव नहीं है और एकादशाह की दान सामग्री मृतक को प्राप्त होने और उपस्थित होने में एक बारहवां दिन मात्र बीच में अन्तर होने के अर्थात् तेरहवें दिन फिर उन्हीं वस्तुओं के देने की आवश्यकता नहीं हैं वस्त्र पात्र आदि सब एकादशाह को दिये गये हैं इससे तेरहवें दिन न देना चाहिये यदि एकादशाह के दिन के पदार्थ प्रेत को नहीं प्राप्त हुये इससे तेरहवें दिन देना आवश्यक समझा जावे तो ग्यारहवें दिन के दानों का प्राप्त होना जैसे असत्य हुआ ऐसे ही तेरहवें दिन के दान प्राप्त होनेको असत्य समझना चाहिये तेरहवें दिन के दान प्रेत को प्राप्त होंगे इसके निश्चय होने का कोई हेतु नहीं है ॥

छत्रों की सङ्ख्या एक एकादशाह के दिन दिये हुये सहित तेरह छत्र तेरही शान्ति के मिल कर चौदह होती है मृतक सूर्य के तेज से शरीर की रक्षा के लिये एक ही छत्र धारण कर सकता है चौदह छत्र एक समय में धारण नहीं कर सकता क्योंकि एक से अधिक धारण करने की आवश्यकता नहीं है और चौदह हाथ रखने वाला मृतक का शरीर भी वर्णन नहीं किया गया बिना इतने हाथों के चौदह छत्र धारण नहीं किये जा सकते इससे जब तक एक छत्र (छाता) फट कर और टूट कर धारण के योग्य न रहे तब तक दूसरे छत्र के धारण करने का कुछ प्रयोजन विदित नहीं होता एक छत्र अच्छा हो तो तीन वर्ष तक अच्छे प्रकार से धारण के योग्य रहता है इससे सख्या से चौदह छत्र बयालिस वर्ष के लिये पर्य्याप्त होते हैं यदि प्रत्येक छत्र के लिये दो ही वर्ष की सख्या रक्खी जावे तो भी चौदहवें छत्र की आवश्यकता सत्ताइसवें २७ और अट्ठाइसवें २८ वें वर्ष में होगी अन्य छत्रों की आवश्यकता क्रम से न्यून और अधिक वर्षों में होगी अधिक वर्षों तक अर्थात् दश से ऊपर अट्ठाइस वा बयालिस वर्षों तक पड़े रहने में आपही छत्रों के वस्त्र पुराने जीर्ण होकर फट जावेंगे लोहे की कीलिया मुरचे से बिगड़ जायगी किसी छाताके वस्त्रों का दीमक खाजावेंगी अथवा मूषक (मूस) काट डालेंगे उनका दान देनाही निष्फल होगा इससे इतने अधिक छत्रों

और घड़ों आदि का दान व्यर्थ और आवश्यकता रहित है और कर्म अनुसार प्रेत जिस योनि में जन्म लेवेगा वहां साथ नहीं ले जा सकता और न प्रेत को प्राप्त हो सकते हैं इससे यह तेरही शान्ति की विधि भी सर्वथा असत्य ही है। और असत्य होने का एक हेतु यह भी है कि विचार करने से यह विदित नहीं होता कि तेरहीं शान्ति में किस विघ्न की शान्ति की जाती है होने वाले विघ्न की शान्ति करना सम्भव है जो होकर व्यतीत होगया उसकी क्या शान्ति की जावेगी यह तो होकर निवृत्त हो गया इससे जो अपने पिता अथवा किसी अन्य प्रिय जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है उसका मरण और वियोग हो जाना विघ्न समझा जावे तो किसी उपाय से उसका शान्त होना सम्भव नहीं है क्योंकि न वह उस शरीर से जीवित होकर फिर आ सकता है न उसके मरण व वियोग होने का विघ्न शान्ति हो सकता है शान्ति कराने वाले से यह प्रश्न करना चाहिये कि मरे हुये के मरने के सिवाय कोई अन्य विघ्न होने वाला आपको विदित हुआ है तो बताइये कि वह क्या है यदि न बता सके तो शान्ति न करना चाहिये और जो बतावे तो भी यह लेख करा लेवे कि यदि विघ्न न हो तो इतना दण्ड लिया जावे लिखाकर रक्खा लेव परीक्षा करने के लिये शान्ति न करे जितने समय में विघ्न का होना कहा जाय उसके व्यतीत होजाने पर मिथ्या कहने का विश्वास कर लेवे दण्ड चाहे लेवे चाहे न लेवे। यह सभी प्रत्यक्ष देखते हैं कि जिनके यहां तेरही शान्ति नहीं की जाती उनके यहां जो मरता है उसके सिवाय अन्य नहीं मर जाते न अन्य कोई विघ्न होता है वैसे ही जो शान्ति करते हैं वह न करेंगे तो भी कोई विघ्न न होगा॥

शुद्धता के वास्ते जैसे प्रथम अन्त्येष्टि कर्म में लिखा गया है तीसरे दिन और अपने गुरुजन बड़े माननीय के मरने में बारहवें दिन अग्न्याधान करके वेद मन्त्रों से हवन करके उत्तम सुपात्र ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक भोजन करा देवे तो यह करना यथार्थ है जन्म व मरण दोनों में ग्यारह दिन तक अशौच मानना लिखा है बारहवें * दिन वेद मन्त्रों से हवन करने के पश्चात् शुद्धता हो जाती है मृतक कर्म में गुरुजन से अन्य के मरण में तीन दिन में भी हवन करके शुद्धता हो सकती है अधिक मानने में बारहवें दिन शुद्धता होने के पश्चात् बारहवें

---

* गुरुजनों के मृतक होने में बारह दिन तक शोक और अशौच माने और बारहवें दिन शुद्ध होने का नियम क्यों रक्खा है इसका हेतु लिखा हुआ नहीं मिला परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि इस शरीर में मुख्य व्यवहार सम्बन्ध स्नेह सुख दुःख प्राप्त होने और सम्पूर्ण कर्मों और ज्ञान के कारण दश इन्द्रियां और ग्यारहवां मन और बारहवां जीवात्मा ये सब रहते हैं सब शरीर इन्हीं के रहने तक जीवित रहते हैं जन्म होने में शरीर के साथ इन बारह का संयोग होता है मरने में इनसे वियोग होता है शरीर इनके रहने का स्थान है मरने में मरने वाले के शरीर को ये छोड़ते हैं तब इनका अन्य कुटुम्बियों व स्नेह वालों के इन बारह पदार्थों से युक्त शरीरों से वियोग होता है और उनका दुःख होता है सम्बन्ध छूटता है इस से बारह दिन के लिये शोक और अशौच, मानने का नियम किया है सब जनों के लिये यह नियम भी नहीं है अन्य के मरने में तीसरे दिन अस्थि सञ्चयन करने के पश्चात् शुद्ध हो जाने को लिखा है॥

दिन से अधिक मृतक के सम्बन्ध में न कुछ मन्तव्य है न कर्त्तव्य है धन हो तो अपने कल्याण और पुण्य के लिये धार्मिक विद्वानों के लिये धर्म और विद्या की उन्नति में सहायता करने के प्रयोजन से और विद्यार्थियों को वेद शास्त्र आदि के अध्ययन में सुविधा व सहायता के लिये भोजन आच्छादन के प्रबन्ध करने तथा अनाथों की रक्षा के लिये यथाशक्ति दान देना बहुत उत्तम है यदि मृतक धनवान हो और अपने जीते हुये उक्त प्रकार के दान और सत्कर्म में धन व्यय न किया हो स्वयं सुपात्र धार्मिक विद्वानों को दान न दिया हो तो उसका पुत्र वा अन्य सम्बन्धी उक्त प्रकार से धर्म विद्या सत्कर्म की वृद्धि व प्रवृत्ति के लिये जितना धन दान कर सके उतना करना उचित व सत्कर्म है ॥

अब कुछ और लीला जो मृतक कृत्य करानेवाले ब्राह्मण गरुड पुराणान्तर्गत प्रेत खण्ड नामक पुस्तक से प्रेत मंजरी में लिखित विधि से अधिक अयुक्त कृत्य कराते हैं उनको संक्षेपसे लिखकर उनकी समीक्षा की जाती है ॥

आर्यावर्त के अन्य भागस्थ आर्य्यावर्त देशीय मनुष्य करते हों वा नहीं परन्तु हमारे इस देश में पुरोहित वा अन्य ब्राह्मण निम्न लिखित कृत्यों को उक्त कृत्यों से अधिक कराते हैं एक यह कि जब मृतक को श्मशान को लेजाते हैं तब मृतक का पुत्र वा अन्य जो मृतक के दाह आदि कृत्यों का करनेवाला होता है उसको स्नान कराके जहाँ मृतक शरीर त्याग करता है उस स्थान मे उससे एक पिण्ड दान मृतक को उठाने के समय में कराते हैं दूसरा पिण्ड दान द्वार पर तीसरा मृतक को ले जाने में जब चोराहे में पहुचते हैं वहां चोथा मार्ग के किसी स्थान में पाचवा चिताके स्थान में छटवा मृतक को चिता में रखकर दाह करने से पहिले उसके हाथ में देते हैं ये पिण्ड दान तिल यव और तंदुल (चाउर) से बहुत शीघ्र कुछ वाक्य पढ़कर करादेते हैं प्रेतत्वसे छूटने और प्रेत के स्वर्ग लोक प्राप्त होने की कामना से करना वाक्य में कहते हैं। तिल व चाउरों के पिण्डदान से प्रेत को स्वर्ग में पहुचाते हैं यह भी बालकों की क्रीडा के समान और मिथ्या है ॥

दूसरे दाह करने के दिनसे नव दिन तक प्रत्येक दिन सध्या समय में बाहर गांव के एक पीपर के वृक्ष में सिकहरी बांसोंके को बांध उसमें मृत्तिका के पात्र के भीतर दीपक को रखकर दीपदान कराते हैं जिससे मृतक को यमराज के यहा जाने में मार्ग में प्रकाश प्राप्त होवे इस दीपदान में जो सो अंगुल की बत्ती बनाकर दशदिन तक रात्रि दिन जलाने को लिखा है उससे अधिक मूर्खता और अज्ञानता विदित होती है क्योंकि रात्रि दिन दीप जलने में भी दीपदान यद्यपि असत्य है परन्तु दीपदान करनेवाला यह समझता है कि मृतक को रात्रिदिन प्रकाश पहुचता है अंधकार से दु:ख न होगा परन्तु इस दीप दान में रात्रि के अन्त तक प्रकाश नहीं रहता। दो छोटे घटों वा घटाकार मृत्तिका के छोटे पात्रों को पीपर के वृक्ष में लटकाते हैं एक में प्रेत के पीने के लिये पानी भरते हैं दूसरे के चारों ओर पार्श्व (बगल) में छिद्र करके उसके भीतर मृत्तिका के दिया में थोड़ा सा

तैल डालकर दीपको जला कर चले आते हैं कुछ समय तक जलकर यह दीप बुझ जाता है प्रथम तो घट के छोटे छिद्रोंसे बाहर निकला हुआ प्रकाश जिस वृक्ष की शाखा में दीप लटकाया जाता है उसको और उससे कुछ थोडेही अन्तर की भूमि को प्रकाशित नहीं करता तो वह यमराज के मार्ग में कैसे पहुंच सकता है और प्रेत उस वृक्षमें लटके हुये जल पात्र व जल से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है और जब कुछ समय के पश्चात् दीप बुझ जाता है उसके उपरान्त रात्रि में प्रेत को अंधकार ही हो जाता है दीप दान से फिर कुछ लाभ प्रेत को नहीं होता जब वह अंधकार में जाता ही है तब जितने थोड़े कालमें सध्या समय में प्रकाश रहता है उतने काल में भी अंधकार में चला जायगा यह भी कृत्य वृथा और पूर्व में वर्णन किये हुये के समान समझना चाहिये तीसरा कर्म पंचक शान्ति विधि है जब कोई मृतक पंचक में मृत्यु को प्राप्त होता है तब यह कहते हैं कि पंचक में मरे हुये की सुगति नहीं होती औरपंचक के मरने में पुत्रों और गोत्रवालो को सन्ताप होता है गृहमें हानि होती है इससे पंचक की शान्ति करना चाहिये और पंचक में मरे हुये का दाह करना वर्जित है परन्तु इस प्रकार से दाह करना उचित है कि ऊर्णासूत्र (ऊन) को लपेट कर अर्थात् ऊन से बांध कर कुशोंकी पांच प्रतिमा बनावे उनमें यवकी पीठी का लेपन करै उन पांचों के नाम पृथक् २ लिखे हैं उनके सहित शव को (मृतक के शरीर को) दाह करै पहिले पांचों को गंध और पुष्पों से पूज कर एक को मृतक के शिरमें दूसरी को नेत्रों में तीसरी को वाम कुक्षि में चौथी को नाभि में पांचवींको पदों में रखकर दाह करे फिर शुद्धता होने पर पंचक शान्ति के लिये तिल सोना घी देवे अर्थात् तिल सोना और घी का दान करे ॥

कुशा की पांच जड़ प्रतिमायें चितामें भस्म होकर पुत्र व गोत्रवालों के सन्ताप व गृह में होने वाली हानि को क्या निवृत्त करेंगी मुख्य प्रयोजन तिल घी और सोने के दान से है उसके साथ कुछ अन्य कृत्य भी मिला दिया है जिससे यह ज्ञात न हो कि केवल दान ही के लिये पंचक शान्ति की विधि को बढाया है ॥

चौथा कृत्य नारायण बलि है। इसमें अधिकतर पाखण्ड व माया जाल का होना विदित होता है। जब किसी का मरण परदेश या अन्य स्थान में होजाता है जहाँ पुत्र आदि कोई मृतक के संस्कार करनेवाले नहीं होते अथवा जो कुष्ट रोग युक्त मरता है उसका दाह नहीं किया जाता जल में प्रवाह कर दिया जाता है ऐसे मृतकों की नारायण बलि करते हैं और सब कृत्य पूर्वोक्त ही के समान करते है ॥

नारायणबलि में यव के चूर्ण (आटा) अथवा बेसन का मृतक का शरीर बनाते हैं नेत्रोंके स्थान में कौडी लगाते है अंगुलियों के स्थान में केला की फली हाथ में लगाते हैं इसी प्रकार से जैसा शरीर के बनाने की विधिमें लिखा है उस प्रकार से शरीर को बनाकर फिर मंत्रपढकर उसके शरीर को सजीव करते हैं

संजीव करने के समय में एक दीपक जला कर बनाये हुये शरीर में हृदय के स्थान पर रख देते हैं दीपको जीव के स्थान में समझते हैं और ऐसा मानते हैं कि मृतक फिर प्राण से युक्त शरीर धारी होकर जीवित अवस्था को प्राप्त हो गया फिर उसको नारायण बलि (नारायण के लिये बलिदान) करके मृत्यु को प्राप्त करते हैं जब दीपक बुझने का समय आता है दीप बुझने लगता है तब जीव के निकलने का समय जानते हैं दीपक के बुझजाने पर वह मृतक हो जाता है । मृतक का शरीर त्याग हुये चाहे जितने दिन और महीने पहिले हुआ हो अब जिस तिथि महीना वर्ष में नारायण बलि करने में मृतक हुआ यही तिथि व महीना व उसके मरने का समय मानते हैं और मरण होने के पश्चात् जैसे अन्य शरीर त्याग किये हुये प्राणियों के शरीर का दाह और अन्य कृत्यदीपदान शरीर पूर्वक पिण्डदान एकादशाह आदि के दान कराते हैं ऐसे ही बनाये शरीर का और नारायण बलि किये गये मृतक के लिये सब मृतक कृत्य कराते हैं इस नारायण बलि के विधान का मूल कारण केवल दानग्राहकों ब्राह्मणोंका स्वार्थ साधन है अर्थात् ऐसे मृतकों के मरणे में जिन के शरीर पुत्र आदिकों को दाह करने और मृतककृत्य करने के लिये नहीं मिलते अथवा किसी कारण से जिनके शरीर का दाह न किया जाने या न हो सकने से मृतक कृत्य भी नहीं किये जाने में पूर्वोक्त प्रकार के मृतक कृत्यों के करने में जो धन वस्त्र गौ वृषभ वाहन शय्या आदि सब प्रकार के भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होती थी उसकी हानि विचार कर उक्त प्रकार के मरण में भी सब मृतक कृत्यों के कराने और दान प्राप्त करने के उपाय के लिये नारायण बलि की विधि को वर्णन किया है कोई बुद्धिमान विचार शील ऐसे असंभव कृत्य को अर्थात् शरीर रहित मृतक का शरीर बनाकर उसको संजीव करके फिर मृतक करने की विधि को सिवाय उन्मत्त प्रलाप व सर्वथा असत्य होना निश्चय करने के कभी यथार्थ होना स्वीकार नहीं कर सक्ता ॥

प्रेतखण्ड तथा प्रेत मंजरी के बनाने वालों ने माया जाल रूप असत्य उक्त आधुनिक पुस्तकों को निर्मित किया है जिनको सत्य मान कर बिना विचार किये सहस्रों मनुष्य उनमें वर्णित कृत्यों को करके पूर्वकाल में अपने बहुत धन का नाश किया है और करते जाते हैं इतना विचार नहीं करते कि यदि उक्त पुस्तकों का लेख सत्य मानाजावे तो यह सिद्ध होगा कि उक्त पुस्तकों के निर्माताओं और उनके लेख के अनुसार मृतक कर्म कराने वाले ब्राह्मणों का सामर्थ्य सर्वशक्तिमान सृष्टि कर्ता परमेश्वर के सामर्थ्य से भी अधिक है परमेश्वर के सामर्थ्य से उनका सामर्थ्य अधिक होना परमेश्वर का उनकी आज्ञा का अनुवर्तीय होना सिद्ध होने के हेतु ये हैं कि उक्त ब्राह्मणों का परमेश्वर से अधिक शक्तिमान होना और उसके अधीन न होना इससे सिद्ध है कि अनादि काल से जो उत्पत्ति व नाश करने अपने नियम अनुसार सृष्टि कार्य करने धर्म अधर्म अनुसार जीवों को उत्तम व निकृष्ट गति को प्राप्त करने का अधिकार केवल

परमेश्वर को था और सब उसके अधीन थे उस परमेश्वर के अधिकार को उक्त ब्राह्मणों ने छीन कर आप ही उत्पत्ति व नाश करने और परमेश्वर के नियम विरुद्ध वा नियम से अन्यथा कार्य करने में इस प्रकार से परमेश्वर से अधिक अपने सामर्थ्य को प्रकट किया है कि ईश्वर के नियम से जो मनुष्य का शरीर गर्भ में नव दश महीने में बनता और उत्पन्न होता है उसको शरीर पूरक पिण्डों से ब्राह्मण दश दिन में प्रत्युत इससे भी शीघ्र बना देते हैं। नारायण बलि में दो पहर में शरीर बनाकर जिला कर फिर मार डालते हैं ऐसी शीघ्रता से ईश्वर का ऐसा काम करना कभी देखने व सुनने में नहीं आया धर्म अधर्म अनुसार सुख व दुःख को प्राप्त करना जो ईश्वर का नियम था उसको निरस्त करके भेद रहित चाहे कैसा ही धर्मवान ईश्वर भक्त हो बिना प्रेत मञ्जरी के लेख अनुसार दान करने के वैतरणी नदी में डूबने और असिपत्रों (तलवार के समान पत्तों) के वनमें चलने आदि के दुःख से रहित होना वर्णन नहीं करते। जो ऐसा न समझते कि अपने नियम को छोड़ हमारे लेख और कृत्यों के अनुसार ईश्वर हमारी आज्ञा का पालन करेगा हमारे अधीन है तो ईश्वर के नियम और अधिकार के विरुद्ध अपने लेख और मरे हुये कृत्यों को सत्य होने का अभिमान न करते और दूसरों को सत्य होने का विश्वास न कराते परन्तु वास्तव में यह केवल उक्त ब्राह्मणों का पाखण्ड सिद्ध होने से मन्तव्य नहीं होसक्ता। मनुष्य का शरीर बनाकर जो नारायण बलि की विधि है उसमें नारायण मनुष्य शरीर के बलि का भक्षण करने वाला कोई राक्षस होना सिद्ध होता है इससे नारायण बलि के स्थान में राक्षस बलि कहना चाहिये था नारायण बलि नाम कहना भी असत्य है क्योंकि नारायण के गुण व कर्म से मनुष्य के शरीर का बलि ग्रहण करना वा भक्षण करना विरुद्ध है इससे किसी प्रकार से उक्त पुस्तकों में वर्णित कृत्यों का मानना यथार्थ नहीं हो सकता यह सिद्धान्त है ॥

इस पुस्तक के लिखने से एक वर्ष पीछे एक मुद्रित गरुड पुराण के पुस्तक को देखा तो उसमें नारायण बलि की विधि नहीं थी और जो पुरोहित किसी के मरने में गरुड पुराण प्रेतखण्ड के नाम की पुस्तक सुनाते थे उसमें ३३ अध्याय थे परन्तु गरुड पुराण प्रेत संस्कार की विधि का १६ ही अध्याय युक्त था इससे यह विदित होता है कि नारायण बलि के विधि की पुस्तक किसी स्वार्थ साधक ने रचा है और गरुड पुराण के अधिक अध्यायों की रचना करके प्रचरित किया है अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि मृत पिता आदि के लिये दशगात्र आदि के पिण्डदान आदि और उक्त प्रकार के अन्य कृत्य कर्म मिथ्या कल्पित हैं ऐसा मान लिया जाय तो हव्य और कव्य को ब्राह्मणों के लिये जो देने की शिक्षा है अर्थात् देवताओं के लिये जो दिया जाता है उसको हव्य और पितरों के लिये जो दिया जाय उसको कव्य कहते हैं हव्य कव्यों को अग्नि में हवन करके ब्राह्मणों को अन्न आदि दान करके देने को जो लिखा है क्या यह मिथ्या है (उत्तर) यह मिथ्या नहीं सत्य और कर्तव्य

है परन्तु जिन पितरो के लिये कव्य द्रव्य से वाच्य अन्नदान आदि की विधि है वे पितर सब मनुष्यों के मरे हुये पिता पितामह आदि नहीं है पिता शब्द का अर्थ रक्षा करनेवाला वा पालनेवाला है धर्म उपदेश से पाप से रक्षा करनेवाले धर्म के पालनेवाले ऋषि पुत्र तथा ज्ञानी सत्पुरुष गुण विशेष युक्त पितर शब्द से वाच्य होते हैं उनका पूजन करना उनको दान देना तृप्त करना श्राद्ध औ तर्पण कहा जाता है और उसी को कव्य कहते हैं वह अपने लिये लोक और परलोक में हितकारक व शुभ फलदायक होता है। हव्य और कव्य दोनों उत्तम विद्वान् ज्ञानवान् धार्मिक सत्पुरुष महात्माओं को देना चाहिये मृत पितामह आदि अपने किये धर्म अधर्मरूप कर्म अनुसार उत्कृष्ट निकृष्ट योनियो में उत्पन्न होते हैं उत्तम मध्यम निकृष्ट योनियों को प्राप्त होते हैं वे हमारे दिये हुये दान के लेने को नहीं आते न आ सकते हैं उनके लिये कुपात्र धर्म व य वेद ज्ञान रहित ब्राह्मणों को दान देने से धन की हानि होने के सिवाय कुछ लाभ और फल की प्राप्ति नहीं होती है सहस्रों कुपात्र ब्राह्मण और मनुष्यों के भोजन से कुछ लाभ नहीं होता यदि सुपात्र दो तीन वा एकही हो तो उसको दान देना उचित है। यदि कोई क्षुधा से पीडित हो तो भोजन का दान देना सब प्राणियों के लिये उचित है। पितरों के और श्राद्ध में सुपात्र के दान के विषय में जो वर्णन किया है इसकी सत्यता के साधन में निम्न लिखित मनुस्मृति के श्लोक प्रमाण हैं।

अक्रोधना शौचपरा सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्त शस्त्र महाभागा पितरः पूर्वदेवताः ॥

अ० ३ श्लोक १९२ ॥

अर्थ–क्रोध रहित सदा ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्यव्रत में प्रवृत्त) हथियार त्याग किये हुये लडाई से रहित बाहर भीतर से पवित्र उत्तम गुणों से भरे महाभागी पूर्व के देवता पितर हैं ॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीचादयः सुताः तेषामृषीणांसर्वेषां पुत्रः पितृगणाः स्मृता ॥

अ० ३ श्लो० १९४

अर्थ—ब्रह्मा के पुत्र मनु हैं उनके जो मरीच आदि पुत्र हैं उन मरीच आदि सब ऋषियों के पुत्र पितृगण स्मरण किये गये हैं स्मृति में वा स्मृति से वर्णन किये गये हैं ॥

विराटसुता सोमसदः सध्यानां पितर स्मृता अग्निष्वाताश्च-देवानां मरीचालोकविश्रुता ॥

श्लो० १९५

अर्थ—विराट के पुत्र सोमसद साध्यों के पुत्र पितर देवताओं के पुत्र अग्निष्वाता ये मरीच नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं ॥

पूर्वकाल से इनकी पितर संज्ञा है अब वर्तमान काल में भी इनको और जो क्रोध रहित होने आदि के लक्षणों से युक्त पितर नाम से कहे गये हैं उनको पितर मानकर उनके लिये सत्कार पूर्वक हवन करके और वर्तमान में विद्यमान उक्त पितरों को भोजन दान करके तृप्त करना यही पितरों का श्राद्ध व तर्पण है। अग्निष्वाता शब्द का अर्थ इस प्रकार से व्याख्यात समझना चाहिये॥

"योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति" वासोनिः अर्थात् सर्वज्ञ सर्व पूज्योऽग्निः परमेश्वरः सुष्ठुतयाऽऽतोगृहीतउपासित सेवितोयैर्निश्रेयसाऽभिगमायतेऽग्निष्वाताः यद्वाभौतिकोऽग्निः यज्ञानुष्ठानाय शिल्पविद्यासिद्धये वा सुष्ठुतयाऽऽतोयैस्तेऽग्निष्वाता याज्ञका विद्वान्स इत्यर्थ ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ सर्वपूज्य परमात्मा के अच्छे उपासक हैं अथवा जो यज्ञ के करने में और शिल्प विद्या में अग्नि के सेवन करने वाले हैं वे अग्निष्वाता कहे जाते हैं यहां देवताओं के पुत्रों को अग्निष्वाता वर्णन किया है॥

ज्ञाननिष्ठा. द्विजा. केचित्तपोनिष्ठास्तथाऽपरे तपः स्वाध्याय निष्ठाश्चकर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ अ० ३ श्लो० १३४

अर्थ—कोई ब्राह्मण ज्ञाननिष्ठ होते हैं कोई तपनिष्ठ होते हैं और कोई तप और वेदाभ्यास वा प्रणव के जप में निष्ठ (तत्पर होते हैं) अन्य कोई उत्तम कर्माचरण में निष्ठ (लगे हुये) होते हैं॥

ज्ञाननिष्ठेषुकव्यानिप्रतिष्ठाप्यानियत्नतः हव्यानितुयथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो ज्ञाननिष्ठ हैं उनमें कव्य यत्न से स्थापन करने के योग्य हैं और हव्य यथा न्याय से चारों प्रकार के ब्राह्मणों में स्थापन करने योग्य हैं अर्थात् देने योग्य हैं॥

यथेरिणेबीजमुप्त्वानवप्तालभतेफलम् तथाऽनृचेहविर्दत्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

अर्थ—जैसे ऊसर में बीज बोकर बोने वाला कुछ फल को प्राप्त नहीं करता ऐसे ही वेद के अभ्यास और ज्ञान से रहित ब्राह्मण को हवि देकर दाता कुछ फल को प्राप्त नहीं करता॥

नश्यन्तिहव्यकव्यानि नराणामविजानतां भस्मीभूतेषुविप्रेषुमोहाद्दत्तानिदातृभिः ॥ मनु० अ० ३ श्लो० ९७

अर्थ—न जानने वाले मनुष्यों के हव्य और कव्य नाश को प्राप्त होते हैं जो ब्राह्मण के गुण व तेज से रहित भस्मरूप ब्राह्मणों में अज्ञान से दान देते हैं

अर्थात् जैसे भस्म में होमकरना निःफल है ऐसे ही उक्त प्रकार के ब्राह्मण को दान देना है ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्रवा भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत् विस्तरे ॥ अ० ३ श्लो० १२

अर्थ—देव कार्य में दो पितृकार्य में तीन अथवा दोनों में एक ही एक को भोजन करावे धनवान हो तो भी विस्तारमें न लगे अर्थात् विस्तार को न करे।

देवता और पितर के समान मानने और दान देने के योग्य जैसा वर्णन किया गया है वैसा ब्राह्मण मिलना सुलभ नहीं है इससे मनु जी ने देवकार्य में दो और पितृकार्य में तीन अथवा दोनों में एक ही एक को भोजन कराने और दान देने के लिये लिखा है ॥

सत्क्रियादेशकालौच शौचब्राह्मणसंपदः पञ्चैतान्विस्तरोहन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—सत्क्रिया देशकाल पवित्रता और ब्राह्मणों की सपदा इन पाचको विस्तार नाश करता है तिससे विस्तार की चेष्टा न करे ॥

इत्यादि मनु आदि आप्त वाक्यों के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये ॥

पितृकार्य में तीन और न मिलने में दो वा एक ही कहने का आशय यह है कि जो वेद विद् आत्मज्ञानी धार्मिक तीन सत्पुरुष महात्मा प्राप्त होवें तो उन प्रत्येक की आयु विद्या तप ब्रह्मोपासना की विशेषता और उनके अधिकार को विचार कर क्रम से पिता पितामह प्रपितामह के समान मान कर आदर सत्कार पूर्वक पूजन व दान करके प्रसन्न व तृप्त करे तीन न होने में दो व एक जो दानपात्र मिले उसी का यथोचित दान देवे और जो उनकी स्त्रिया हों उनको माता पितामही प्रपितामही के समान पूजन व सन्मान करके भोजन कराने व दान देवे। कुपात्र का निषेध किये जाने से जो यथार्थ पात्र न मिले तो एक के लिये भी हव्य और कव्यका दान न देवे आर्त और क्षुधितको जब चाहे तब भोजन करा देवे कोई हो उसके क्लेश को निवारण करे यज्ञ में अग्नि में हवन कर देवताओं को यजन करके धार्मिक महात्माओं को भोजन कराना दान देना देवकार्य है। और किसी नियत तिथि में सत्पुरुष विद्वान् धार्मिकों को निमंत्रित कर उक्त प्रकार से पिता आदि के समान मान कर सत्कार पूर्वक श्रद्धायुक्त भोजन कराना दान देना श्राद्ध और पितृ कार्य है और आपसे बिना किसी दिन व तिथि नियम के आये हुये विद्वान धार्मिक पुरुषों का सत्कार करना अतिथि यज्ञ वा पूजन है ॥

उक्त धार्मिक विद्वान् दान पात्रों के लिये पिण्डों को अर्थात् मोदकों को भोजन के लिये देना यही पिण्डदान है। उत्तम अन्न, घृत, शक्कर, दुग्ध के बनाये हुये मोदक वा मोदक के आकार का भक्ष्य पदार्थ को पिण्ड शब्द से कहा है। और जहाँ सपिण्ड शब्द का प्रयोग है वहां पिण्ड शब्द शरीर का वाचक है

अर्थात् जिन सन्तानों और वंशजों की व्यक्तिश अपने शरीरों के जन्म का किसी एक पुरुष विशेष के पिण्ड (शरीर) के साथ सम्बन्ध रखती है वे सब सपिण्ड शब्द से वाच्य हैं इत्यादि प्रकार से युक्ति व प्रमाण के योग्य अर्थ और आशय ग्राह्य और मन्तव्य है ॥

पिता के क्षयाह में श्राद्ध करने का नियम इस प्रकार से प्रचरित होना समझना चाहिये जैसे जन्म तिथि के दिन में प्रतिवर्ष प्राय लोकजन उत्सव करते हैं ऐसे ही पिता की सेवा स्मरण के अर्थ पिता के समान उस दिन विद्वान् महात्मा की सेवा करने और उनसे उपदेश और आशीर्वाद ग्रहण करने के लिये श्राद्ध का नियम प्रचरित किया गया है उसको अन्यथा भाव और अन्यथा रीति से करते हैं ॥

जो जो वाक्य युक्ति व हेतु रहित प्रमाण विरुद्ध निदित हो वह सब सद्ग्रन्थों में प्रक्षिप्त आधुनिक कल्पित हैं इससे त्याज्य हैं मन्तव्य नहीं है ॥

इति श्रीतत्वमार्तण्डे स्वामीप्रभूतानन्दनिर्मिते सम्प्रतिप्रचरितमृतकसंस्कारविधिसमीक्षा विषयेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

प्रक्षिप्त लेखविषयक समीक्षा

अब विस्तार को त्यागकर उपलक्षण मात्रके लिये जो इतिहासों और पुराण ग्रंथों में अपनी इच्छा व बुद्धि अनुसार अविद्यायुक्त विवेक रहित आधुनिक ग्रंथ कर्ताओं और कवियों ने आर्ष ग्रंथों में अपनी कल्पित गाथाओं को मिलाया है उनमें से कुछ थोड़े अयुक्त व्याख्यानों को उदाहरण के लिये वर्णन करते हैं यथा महाभारत में सभापर्व में राजा युधिष्ठिर के द्यूत (जुवा) खेलने में सब धन भाइयों समेत अपने और अपनी स्त्री द्रौपदी को हारजाने और दुर्योधन के जीतने पर दुर्योधन की आज्ञा से द्रौपदी को नग्न करने के लिये सभा में द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाने का वर्णन है यह सर्वथा अयुक्त व मिथ्या प्रतीत होता है *यद्य

* यद्यपि प्राय द्रौपदी के पांच पति न होने में भी दोषारोपण किया जाता है परन्तु किसी व्यक्ति विशेष का आचरण अपना मन्तव्य और कर्तव्य धर्म नहीं हो सकता यदि किसो प्रमाण से ऐसा होना असत्य सिद्ध हो तो उत्तम है अन्यथा जिन पूर्वज मान्य व्यक्ति विशेष या व्यक्तियों विशेषों में बहुत से सुचरित और किसी संस्कार वश से कुछ दुश्चरित भी पाये जावें तो उनके सुचरित मात्र ग्राह्य और मन्तव्य हैं और जो अनुचित निश्चित हो वह त्याज्य और अमन्तव्य है ॥

माए हेतुओं से विचार से असम्भव होना और महाभारत ही के लेख से अयुक्त और असत्य होना निश्चित होता है हेतु यह है कि युधिष्ठिर महाराजने जो द्रौपदी को हार गये तो हारने से दुर्योधन के अधीन दासी होना सिद्ध हो सकता है दास और दासी होनेसे स्वामी को नीति शास्त्र से यह अधिकार नहीं होता कि सम्पूर्ण मनुष्योंके समक्षमें सभा में दासी वा दास को नग्न कर देवै । युधिष्ठिर भाइयों सहित अपने हारने के समान द्रौपदी को हार गये थे दुर्योधन को युधिष्ठिर आदि के हार जाने पर भी जैसे उनके नग्न कर देने का अधिकार नहीं था क्योंकि पहिरे हुये वस्त्रों को हारने और उनके त्यागने की प्रतिज्ञा नहीं किया था, ऐसे ही द्रौपदी के नग्न करने का अधिकार नहीं था (२) दूसरे भीष्म पितामह द्रोणाचार्य आदि धार्मिक सत्पुरुष गुरुजनों के उपस्थित होते हुये द्रौपदी रानी के नग्न किये जाने का अति अनुचित नीच कर्म सभा में होना जिसको कोई चर्मकार स्वपच आदि अति नीच व मूर्ख जन भी अपनी समाज, में नहीं करते और नहीं कर सकते कोई बुद्धिमान विद्वान् स्वीकार नहीं कर सकता (३) तीसरे जो यह लिखा है कि भीष्म पितामह आदि और अन्य सभासद काई राजा दुर्योधन के भय से नहीं बोले यह सर्वथा मिथ्या प्रलाप है दुर्योधन ने जब द्रौपदी के लिये यह आज्ञा दिया है कि इसको लै जाकर दासियों के साथ बैठाओ उस समय क्रोधयुक्त विदुरने दुर्योधन से यह कहा है कि राजा तुम यह कहने के योग्य नहीं हो कि द्रौपदी दासियों में रक्खी जाय इत्यादि जब दासियों में रखने के लिये विदुर ने ऐसा कहा है विदुर को भय नहीं हुआ तब नग्न करने ऐसे अनुचित निकृष्ट कर्म होने के रोकने और मना करने में विदुर को और विशेषतासे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य आदिको क्या भय हो सकता था और दुर्योधन उनका क्या कर सक्ता था महाभारतही के लेखसे यह सिद्ध है कि विकर्ण ने जो बालक के समान था उसने दुर्योधन और कर्ण के विरुद्ध अपनी सम्मत्ति प्रकट करने में कुछ भी भय नहीं किया तो भीष्म द्रोण आदि श्रेष्ठ गुरुजनों को भय होने का कोई कारण ही ज्ञात नहीं होता यदि कोई कारण होता भी तो जो कोई सभ्य धर्मज्ञ नीतिमान पुरुष होता है वह जहां यह जानता है कि अपना कुछ वश नहीं है और अधर्म अनुचित कर्म होता है वह उस स्थान में नहीं रहता वहाँ से चला जाता है यदि कुछ कह न सके तो भीष्म द्रोणाचार्य विदुर ऐसे सत्पुरुष धर्मज्ञ महात्मा उस सभा में उपस्थित न रहते सभा से जाने में उनको कौन रोक सक्ता था जब उनको कुछ भय नहीं था तब यह कैसे सम्भव और मन्तव्य होसक्ता है कि उनके सामने उक्त और निन्दित कर्म किया गया और उक्त महात्माओं ने कुछ नहीं कहा यह केवल विचार रहित मिथ्या लिखने वाले की मूर्खता है (४) चौथे दुर्योधन को अनीति से जुवा में सर्वस्व जीत लेना इष्ट था सो उसका मनोरथ सिद्ध हो गया था फिर द्रौपदी ऐसी स्त्री को सभा में नग्न करने से सिवाय दुर्यश होने रूप हानि के दुर्योधन को भी कोई लाभ नहीं था इस से ऐसा करने का कोई हेतु नहीं हो सक्ता और दासियों में रखने के लिये आज्ञा देना ही

महाराणी द्रौपदी के लिये प्रतिष्ठा की हानि महानिरादर होने और दुर्योधन के इष्ट सिद्ध होने के लिये पर्य्याप्त था (५) पाचवें आजकल्ह मूर्खों और नीच वर्णों, में जिनमें पुरुषों में भाइयों और प्रद्जनों में परस्पर वैमनस्य व विरोध होता है एक दूसरे के वध करने में उद्यत होते हैं परन्तु अपने से विरोध रखने वाले भाई की स्त्री वा भगनी व वधू आदि को कोई अन्य अनुचित वाक्य कहे गाली देवे तो वह नहीं सह सके नग्न करते हुये देखना वा अन्य से नग्न कराना तो और भी असंभव होना ज्ञात होता है क्योंकि ऐसा होने में अपनी और अपने कुल की प्रतिष्ठा हानि और दुर्यश होना समझा जाता है इससे कोई आपही ऐसा नहीं कर सका जब नीच मनुष्यों से भी ऐसा किया जाना संभव नहीं होता फिर सभ्य प्रतिष्ठित पुरुषों से ऐसे निकृष्ट और अनुचित कर्म का किया जाना किसी प्रकार से स्वीकार के योग्य नहीं हो सका (६) छठवें जब द्रौपदी ने यह प्रश्न किया है कि राजा युधिष्ठिर ने अपने को हारने से पहिले मुझे हारा है अथवा पीछे यदि पीछे हारा है तो अपने को हार जाने के पीछे सेवक हो जाने पर मेरे हारने का अधिकार युधिष्ठिर को नहीं हो सकता इसके उत्तर में भीष्म पितामह ने कहा है कि इसका उत्तर जो युधिष्ठिर देवे वही निर्णय समझा जावे परन्तु जब किसी अन्य सभासद ने और युधिष्ठिर ने सकोचवश कुछ उत्तर नहीं दिया तब दुर्योधन के छोटे भाई विकर्ण ने सब से प्रश्न का उत्तर पूछ कर किसी के उत्तर न देने पर अपनी सम्मति को इस प्रकार से वर्णन किया है

मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्विवक्ष्यामि कौरवाः १९ चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठाव्यसनानि महीक्षिताम् मृगयां पानमक्षां ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् २० एतेपुनरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते यथाऽयुक्तेन च कृतां क्रियांलोकोन मन्यते २१ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तताभृशम् समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपण २२ साधरणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः २३ इयचकीर्तिता कृष्णा सौवलेन पणार्थिना एतत्सर्वंविचार्याहं मन्येनविजितामिमाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—हे कौरव मैं जो न्याय समझता हूं वह कहता हूं श्रेष्ठ पुरुष राजाओं के चार व्यसन कहते हैं १ शिकार खेलना २ मद्यपान करना ३ पासा खेलना ४ गवार मूर्खों के साथ प्रीति करना और उनकी सगति करना जो इन व्यसनों में मन लगाता है और प्रवृत्त होता है वह धर्म को त्याग कर प्रवृत्त होता है जैसे अनुचित कर्म करने वाले अधर्मी के किये हुये को लोग उचित नहीं समझते हैं ऐसे ही इनके किये हुये को अनुचित समझते हैं तिस से यह पाण्ड

पुत्र (युधिष्ठिर) जो अतिशय व्यसन (द्यूत) में प्रवृत्त जुआरियों से बोलाया गया है उस से द्रौपदी दांव में लगाई गई है शकुनी ने कह कर दाव में लगवाया है फिर राजा जब जीत लिया गया है तब अपने को हार जाने पर द्रौपदी को दाव में लगाया है और द्रौपदी सब पाण्डवों की एक समान स्त्री है एक युधिष्ठिर ही की नहीं है इन सब बातों को विचार कर मैं कहता हू कि इस द्रौपदी को मे जीती गई नहीं मानता हू अर्थात् इसको हमने नहीं जीता कर्ण ने विकर्ण को यह कह कर दबाया है कि तुम लडका हो तुम बडों के सामने क्या सम्मति देते हो जब पति हार गया और दास बन गया तब उसकी स्त्री भी दासो हो गई इस कहने के पश्चात् द्रौपदी के वस्त्र खींचे जाने आदि का बीच में वर्णन है फिर वस्त्र खींचे जाने के पीछे विदुर ने यह कहा है कि हे सभासदो अपनी बुद्धि अनुसार जैसा विकर्णने उत्तर दिया है ऐसेही आप लोग भी द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर देवें रोती हुई अनाथके समान द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर आप लोगों को देना चाहिये जो धर्म को जानकर सभा में उत्तर नहीं देता वह अधर्मी पाप का भागी होता है इत्यादि विदुर के वाक्यों को सुनकर और भीष्म के इस वाक्य को सुनकर कि इसका निर्णय राजा युधिष्ठिर ही जो कुछ उत्तर देवें वही माना जावे राजा दुर्योधन ने द्रौपदी से यह कहा है—

तिष्ठत्वयंप्रश्न उदारसत्त्वेभीमेऽर्जुनेसहदेवेतथैव पत्यौचते नकुले गाद्यसेनिवदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् । अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्य मध्येयुधिष्ठिरंतवपांचालिहेतोः कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं पांचालिरवंमोक्ष्यसेदासभावात् ॥ ततः सभ्याः कुरुराजस्य-तस्यवाक्यं सर्वेप्रशशंसुरतयोच्चैः चेलावेधाश्चापिचक्रुर्नदन्तो-हाहेत्यासीदपिचैवार्तनादः श्रुत्वातद्वाक्यं मनोहरंतद्धर्षश्चासी-त्कौरवाणांसभायाम् सर्वेचासन्पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥

अर्थ—हे उदार * सत्वे (द्रौपदी) यह तेरा प्रश्न भीम अर्जुन सहदेव नकुल पर स्थापित किया जावे यह तेरे लिये सब श्रेष्ठ पुरुषों के बीच में यह कह देवें कि युधिष्ठिर को अधिकार नहीं है यह सब धर्मराज को (युधिष्ठिर को) झूठ कर देवें तो तू दासभाव से (दासपन से) छूट जावैगी सभासद कुरु-राज के (दुर्योधन के) ऐसे वाक्य की सबों ने ऊचे स्वर से प्रशंसा की यह खबर आनन्द से कहनवालों से शीघ्र सब जगह पहुच गई और कोई सुनकर

---

* दुर्योधन ने इस वाक्य में द्रौपदी को कठोर वचन तक न कहकर प्रतिष्ठा आदर के साथ हे उदारसत्वे जिसका अर्थ है उदार (उत्कृष्ट) आत्मा या उदार बुद्धि वा उदार गुण होता है ऐसा सम्बोधन किया है ।

हा हा ऐसा आर्तनाद भी करने लगे अर्थात् दुर्योधन के मित्र और पक्षवालों को दुःख हुआ। उसके मनोहर वाक्य को सुनकर कौरवों की सभा में हर्ष हुआ प्रीतियुक्त हो सब राजा धार्मिक दुर्योधन की प्रशंसा की और उस पर प्रसन्न हुये॥

इस वर्णन से यह निश्चित होता है कि नग्न करने का वृत्तान्त असत्य है विकर्ण के अपनी सम्मति प्रकट करने के पछे ही विदुर के यह कहने का निश्चय होता है कि जैसे विकर्ण ने अपनी सम्मति का प्रकाश किया है ऐसेही हे राजाओ सभासदो आप लोग भी अपने अपने पक्ष और सम्मति को कहिये और प्रश्न का निर्णय कीजिये नग्न किये जाने के पीछे द्रौपदी हारी गई है अथवा नहीं इस प्रश्न का निर्णय करना ही व्यर्थ होना प्रतीत होता है और जब निर्णय किये जाने की सम्मति होरही है और सिद्धान्त नहीं हुआ और राजा दुर्योधन भी प्रश्न के उत्तर देने और निर्णय करने को स्वीकार किया तब निर्णय होने से पहिले दासी होना सिद्ध न होने से दुर्योधन स्वय दासी नहीं मान सका न नग्न किये जाने की आज्ञा दे सका है इस हेतु से और अन्य उक्त हेतुओं से द्रौपदी के वस्त्र खींचे जाने की कथा सर्वथा अयुक्त और असत्य होना मन्तव्य है विचार से यह ज्ञात होता है कि भीष्म जी ने यह विचार कर कि युधिष्ठिर के भ्राता जब कुछ नहीं कहते हैं तब यह निश्चित नहीं हो सका कि उनको यथार्थ हृदय से स्त्री सहित अपना दास होना स्वीकार है परन्तु अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ भ्राता के वचन को असत्य करना नहीं चाहते हैं यदि ऐसा हो तो दूसरे का अन्यथा कहना व्यर्थ और अनुचित है अथवा सकोच वश कुछ नहीं कहते हैं बिना ऐसा निश्चित हुये और भ्राताओं के निर्णयार्थी होने के अन्य किसी का प्रश्न के विषय में सम्मति देना यथार्थ नहीं है यह कहा है कि नीतिज्ञ धर्मात्मा युधिष्ठिर ही जो कह देवें वही निर्णय समझा जावे इसके पश्चात् जब राजा दुर्योधन ने स्वय अपने पक्ष वालों और सब को छोड़कर दाव लगाने वाले युधिष्ठिर से भिन्न भीम आदि अन्य द्रौपदी के पतियों के ऊपर निर्णय का भार रख दिया उन्हीं की सम्मति पर छोड़ दिया तब अन्य को सम्मति प्रकट करने का अवकाश ही न रहा न आवश्यकता रही ऐसा होने में किसी प्रकार से दुर्योधन पर अन्याय और अनुचित आचरण का दोषारोपण नहीं होसका। परन्तु इसके सर्वथा विरुद्ध मिथ्या कथा की जिन्होंने रचना की है वे तो मिथ्या वादी विचार हीन ही थे परन्तु अब परम्परा रीति से जो उसको सत्य मानते चले आते हैं उनके भी विचार रहित होने में सन्देह नहीं है। सत्य इतना ही है और इतना ही श्री व्यास जी का लेख होना स्वीकार के योग्य हो सका है कि राजा धृतराष्ट्र और विदुर की प्रथमही सम्मति द्यूत खेलनेकी न थी दुर्योधनको मनाभी किया था परन्तु जब दुर्योधनने आग्रह किया प्राण त्यागने को कहा तब पुत्र के स्नेह वश धृतराष्ट्र ने खेलने के लिये आज्ञा दवी थी परन्तु जब यह सुना कि राजा युधिष्ठिर सर्वस्व हार गये स्त्री तक को हार गये दुर्यो

धन द्रौपदी को बुलाकर दासियों में रहने की आज्ञा देता है तब धृतराष्ट्र इस प्रश्न के उत्तर और निर्णय होने से पहिले कि द्रौपदी हारी गई है वा नहीं इस को महा अनर्थ व विरोध का कारण समझ कर सभा में आकर द्रौपदी को वर मागने की आज्ञा दी है द्रौपदी ने दासित्व से छूटना आदि तीन वर मांग लिया है जो नहीं मागा था वह भी महाराज धृतराष्ट्र ने अपने ओर से जो धन आदि हार गये थे सब दे दिया है इसका दुर्योधन और उसके मित्रों को बड़ा दुःख हुआ है परन्तु फिर युधिष्ठिर ने अपने अज्ञान से द्यूत में हार कर वनवास करने को गये हैं ॥

किसी विचार रहित पुरुष ने केवल इतना समझ कर कि इस स्थल में द्रौपदी के नग्न करने और द्रौपदी का नग्न होन से बचने की प्रार्थना श्रीकृष्ण जी से करने और श्रीकृष्ण महाराज का वस्त्र बढ़ाने की कथा लिखने का अवकाश है और ऐसी कथा से श्रीकृष्णचन्द्र की महिमा प्रकट होगी यह कथा अपनी कल्पना से प्रक्षिप्त किया ह सिवाय इतना समझ ने के उसको यह ज्ञात नहीं हुआ कि ऐसी कथा के लिखने में असम्भव अयुक्त होना आदि अनेक दोष प्राप्त होंगे विद्वान् विचार शील कभी स्वीकार न करेंगे ॥

कोई कोई यह कहते हैं कि उद्योगपर्व आदि में भी द्रौपदी के नग्न किये जाने के लिये वस्त्र खींचे जाने के वर्णन का प्रमाण मिलता है कोई कल्पित कथा बनाता तो एक जगह सभापर्व में लिख देता अनेक जगह न लिखता और अनेक महात्मा ग्रंथकार इसको मानते और लिखते आये है इससे मिथ्या नहीं है यह शङ्का यथार्थ नहीं है क्योंकि अभी यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जो कोई अनेक झूठ साक्षी बनाता है वह प्रत्येक को सिखा देता है कि एकही प्रकार की साक्षी देना ऐसा वर्णन करना जिसमें एक दूसरे के विरुद्ध वर्णन होने से मिथ्या होना ज्ञात न हो जब अन्य साक्षियों को ऐसी शिक्षा दी जाती है तब जिसको आपही अपने लेख की पुष्टि करना है वह एकही ग्रंथ में अन्यत्र अपने लेख की पुष्टता क्यों न करेगा ।

अन्य ग्रंथकार और लेखकों ने जैसा महाभारत में वा अन्यत्र लिखा हुआ पढ़ा उसी के अनुसार बिना विचार किये लिखते आये हैं उनके लिखने से सत्य होने का प्रमाण नही हो सक्ता क्योंकि असत्यताके जो हेतु वर्णन किये गये हैं ऐसा लेख मात्र उनके असत्य होने का प्रमाण नहीं हो सक्ता ऐसे लेख मात्र से सत्य मानने वालों पर यथार्थ यह उदाहरण चरितार्थ होता है कि किसी परदेश में रहने वाले मनुष्यसे कोई उसके ग्राम से आये हुये मनुष्य ने यह कह दिया कि तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई यह सुनकर वह अपनी स्त्री क विधवा होने के शोक में रोने लगा लोगों के पूछने पर जब शोक का कारण बताया तब उन्होंने कहा कि तुम्हारे जीते हुये तुम्हारी स्त्री कैसे विधवा हो सक्ती है इस असभव कथन को कैसे सत्य मानते हो उसने कहाकि यह तो मैं समझता हू परन्तु जिसने कहा है वह विश्वास के योग्य है उसको झूठा कैसे समझू उसको झूठा नही समझ सक्ता हूँ न

कह सका हूँ ऐसे समझने वाले के समान जो अपने जीने को सत्य न समझ कर दूसरे के कहने को सत्य समझे वह ऐसी कथाओं को सत्य समझें तो आश्चर्य नहीं है उक्त युक्ति व प्रमाणों से मेरे विचार में उक्त कथा प्रक्षिप्त ज्ञात होती है जिनको उसके सत्य होने का विश्वास हो वह अपने विश्वास व बुद्धि के अनुसार मानने का अधिकार रखते हैं। श्री महाराज कृष्ण जी का महात्म्य उनके अनेक उत्कृष्ट चरित्रों से सिद्ध है कल्पित द्रौपदी के चीर बढ़ाने की कथा के मिथ्या मानने में उनके महात्म्य का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता भीमसेन यदि दुर्योधन के जघा भग्न करने का प्रण किया हो तो वह द्रौपदी के नग्न किये जाने से सम्बद्ध नहीं है॥

जब से आर्य्यावर्त में आर्ष ग्रथों और शास्त्रों के पठन पाठन का प्रचार न रहा आधुनिक विवेक रहित आग्रह ग्रस्त हृदय मनुष्यों के रचित ग्रन्थों का प्रचार हुआ तब से अनेक मिथ्या कथाओं व व्याख्यानों को पढकर उनको सत्य मानने से अविद्या अधकार आर्य्यावर्त में छा गया है परन्तु अब आर्ष ग्रथों का पठन पाठन आरम्भ होने से फिर ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान रूप अधकार दूर होने की आशा है इसी अविद्या के कारण से ऐसी कथाओं का जैसे द्रौपदी के नग्न करने के लिये उसके वस्त्र खींचे जाने की कथा तुलसीदास के रामायण में अहिरावण की कथा इत्यादि कथाओं को ऐसे मनुष्यों ने जो यथार्थ में शास्त्र ज्ञान विचार रहित थे परन्तु अपनी समझ में अपने को बुद्धिमान समझते थे सद्ग्रथों में प्रक्षिप्त करके उनको दूषित कर दिया है। अहिरावण की कथा भी सर्वथा मिथ्या है और उसके बनाने वाले की बुद्धि विद्वान्पुरुषों में निन्दनीय है यह अनुमित होता है कि उक्त कथा का बनाने वाला हनुमान जी का उपासक था इससे उनके माहात्म्य और प्रशसा के लिये उसने अपनी कल्पना से अहिरावण की कथा की रचना की है परन्तु श्रीरामचन्द्र जी को जो विष्णु का अवतार माने जाते हैं हनुमान जी जिनके सेवक थे उनकी ऐसी निन्दा अहिरावण की कथा में की है कि उनको बलि पशु बकरा के समान ही वर्णन किया है उनको इतना भी सामर्थ्य नहीं रहा कि अहिरावण को लात थप्पर भी मारते बलि पशु के समान अहिरावण ने राम और लक्ष्मण को पाताल में ले जाकर देवी के सामने बलि देने को खडा कर दिया वे उसके कहने से खडे हो गये हनुमान जी वहां न पहुंच गये होते तो वह राम और लक्ष्मण को बलिदान करने में मारही डालता इस मूर्ख कथा बनाने वाले को इतना भी समझ में नहीं आया कि जिस तुलसीदास के रामायण में मैं इस कथा को लिखता हू उन्हीं तुलसीदास जी का कहा हुआ यह दोहा प्रसिद्ध है "दोहा" तुलसी रघुबर की कृपा, अबल होत बलवान। बालि बैर सुग्रीव से, भगा तज न हते हनुमान॥ इस दोहा में तुलसीदास जी ने हनुमान जी में सामर्थ्य रामचन्द्र ही की कृपा से होना वर्णन किया है श्री रामचन्द्र जी के कृपा पात्र होने से पहिले हनुमान जी के विशेष सामर्थ्य वान न होने का उदाहरण बालि के बैर से सुग्रीव के

धन द्रौपदी को बुलाकर दासियों में रहने की आज्ञा देता है तब धृतराष्ट्र इस प्रश्न के उत्तर और निर्णय होने से पहिले कि द्रौपदी हारी गई है वा नहीं इस को महा अनर्थ व विरोध का कारण समझ कर सभा में आकर द्रौपदी को वर मांगने की आज्ञा दी है द्रौपदी ने दासित्व से छूटना आदि तीन वर मांग लिया है जो नहीं मांगा था वह भी महाराज धृतराष्ट्र ने अपने ओर से जो धन आदि हार गये थे सब दे दिया है इसका दुर्योधन और उसके मित्रों को बड़ा दुख हुआ है परन्तु फिर युधिष्ठिर ने अपने अज्ञान से द्यूत में हार कर वनवास करने को गये हैं ॥

किसी विचार रहित पुरुष ने केवल इतना समझ कर कि इस स्थल में द्रौपदी के नग्न करने और द्रौपदी का नग्न होने से बचने की प्रार्थना श्रीकृष्ण जी से करने और श्रीकृष्ण महाराज का वस्त्र बढ़ाने की कथा लिखने का अवकाश है और ऐसी कथा से श्रीकृष्णचन्द्र की महिमा प्रकट होगी यह कथा अपनी कल्पना से प्रक्षिप्त किया है सिवाय इतना समझ ने के उसको यह ज्ञात नहीं हुआ कि ऐसी कथा के लिखने में असम्भव अयुक्त होना आदि अनेक दोष प्राप्त होंगे विद्वान् विचार शील कभी स्वीकार न करेंगे ॥

कोई कोई यह कहते हैं कि उद्योगपर्व आदि में भी द्रौपदी के नग्न किये जाने के लिये वस्त्र खींचे जाने के वर्णन का प्रमाण मिलता है कोई कल्पित कथा बनाता तो एक जगह सभापर्व में लिख देता अनेक जगह न लिखता और अनेक महात्मा ग्रंथकार इसको मानते और लिखते आये हैं इससे मिथ्या नहीं है यह शङ्का यथार्थ नहीं है क्योंकि अभी यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि जो कोई अनेक झूठ साक्षी बनाता है वह प्रत्येक को सिखा देता है कि एकही प्रकार की साक्षी देना ऐसा वर्णन करना जिसमें एक दूसरे के विरुद्ध वर्णन होने से मिथ्या होना ज्ञात न हो जब अन्य साक्षियों को ऐसी शिक्षा दी जाती है तब जिसको आपही अपने लेख की पुष्टि करना है वह एकही ग्रंथ में अन्यत्र अपने लेख की पुष्टता क्यों न करेगा।

अन्य ग्रंथकार और लेखकों ने जैसा महाभारत में वा अन्यत्र लिखा हुआ पढ़ा उसी के अनुसार विना विचार किये लिखते आये हैं उनके लिखने से सत्य होने का प्रमाण नहीं हो सक्ता क्योंकि असत्यताके जो हेतु वर्णन किये गये हैं ऐसा लेख मात्र उनके असत्य होने का प्रमाण नहीं हो सक्ता ऐसे लेख मात्र से सत्य मानने वालों पर यथार्थ यह उदाहरण चरितार्थ होता है कि किसी परदेश में रहने वाले मनुष्यसे कोई उसके ग्राम से आये हुये मनुष्य ने यह कह दिया कि तुम्हारी स्त्री विधवा हो गई यह सुनकर वह अपनी स्त्री के विधवा होने के शोक में रोने लगा लोगों के पूछने पर जब शोक का कारण बताया तब उन्होंने कहा कि तुम्हारे जीते हुये तुम्हारी स्त्री कैसे विधवा हो सक्ती है इस असभव कथन को कैसे सत्य मानते हो उसने कहाकि यह तो मैं समझता हूं परन्तु जिसने कहा है वह विश्वास के योग्य है उसको झूठा कैसे समझूं उसको झूठा नहीं समझ सक्ता हूं न

कह सका हूँ ऐसे समझने वाले के समान जो अपने जीने को सत्य न समझ कर दूसरे के कहने को सत्य समझे यह ऐसी कथाओं को सत्य समझें तो आश्चर्य नहीं है उक्त युक्ति व प्रमाणों से मेरे विचार में उक्त कथा प्रक्षिप्त ज्ञात होती है जिनको उसके सत्य होने का विश्वास हो वह अपने विश्वास व बुद्धि के अनुसार मानने का अधिकार रखते हैं। श्री महाराज कृष्ण जी का महात्म्य उनके अनेक उत्कृष्ट चरित्रों से सिद्ध है कल्पित द्रोपदी के चीर बढ़ाने की कथा के मिथ्या मानने में उनके महात्म्य का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता भीमसेन यदि दुर्योधन के जघा भग्न करने का प्रण किया हो तो वह द्रौपदी के नग्न किये जाने से सम्बद्ध नहीं है॥

जब से आर्य्यावर्त में आर्ष ग्रथों और शास्त्रों के पठन पाठन का प्रचार न रहा आधुनिक विवेक रहित आग्रह ग्रस्त हृदय मनुष्यों के रचित ग्रन्थों का प्रचार हुआ तब से अनेक मिथ्या कथाओं व व्याख्यानों को पढ़कर उनको सत्य मानने से अविद्या अंधकार आर्य्यावर्त में छा गया है परन्तु अब आर्ष ग्रथों का पठन पाठन आरम्भ होने से फिर ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान रूप अधकार दूर होने की आशा है इसी अविद्या के कारण से ऐसी कथाओं का जैसे द्रोपदी के नग्न करने के लिये उसके वस्त्र खींचे जाने की कथा तुलसीदास के रामायण में अहिरावण की कथा इत्यादि कथाओं को ऐसे मनुष्यों ने जो यथार्थ में शास्त्र ज्ञान विचार रहित थे परन्तु अपनी समझ में अपने को बुद्धिमान समझते थे सद्ग्रथों में प्रक्षिप्त करके उनको दूषित कर दिया है। अहिरावण की कथा भी सर्वथा मिथ्या है और उसके बनाने वाले की बुद्धि विद्वान्पुरुषों में निन्दनीय है यह अनुमित होता है कि उक्त कथा का बनाने वाला हनुमान जी का उपासक था इससे उनके माहत्म्य और प्रशंसा के लिये उसने अपनी कल्पना से अहिरावण की कथा की रचना की है परन्तु श्रीरामचन्द्र जी को जो विष्णु का अवतार माने जाते हैं हनुमान जी जिनके सेवक थे उनकी ऐसी निन्दा अहिरावण की कथा में की है कि उनको बलि पशु बकरा के समान ही वर्णन किया है उनको इतना भी सामर्थ्य नहीं रहा कि अहिरावण को लात थप्पर भी मारते बलि पशु के समान अहिरावण ने राम और लक्ष्मण को पाताल में ले जाकर देवी के सामने बलि देने को खड़ा कर दिया वे उसके कहने से खड़े हो गये हनुमान जी वहां न पहुंच गये होते तो वह राम और लक्ष्मण को बलिदान करने में मारही डालता इस मूर्ख कथा बनाने वाले को इतना भी समझ में नहीं आया कि जिस तुलसीदास के रामायण में मैं इस कथा को लिखता हूं उन्हीं तुलसीदास जी का कहा हुआ यह दोहा प्रसिद्ध है "दोहा" तुलसी रघुवर की कृपा, अनल होत बलवान। बालि बैर सुग्रीव से, बचा तब न हते हनुमान॥ इस दोहा में तुलसीदास जी ने हनुमान जी में सामर्थ्य रामचन्द्र ही की कृपा से होना वर्णन किया है श्री रामचन्द्र जी के कृपा पात्र होने से पहिले हनुमान जी के विशेष सामर्थ्य वान न होने का उदाहरण बालि के बैर से सुग्रीव के

साथ देशदेशान्तर में भागने का वर्णन किया है वह अपने इस वर्णन और इष्ट देव के विरुद्ध अहिरावण की मिथ्या कथा को कभी नहीं लिख सके। कोई यह कहते हैं कि हनुमान जी को किसी ऋषि का शाप था कि जब उनको कोई उनके सामर्थ्य का स्मरण कराता था तब उनको स्मरण होता था समुद्र के पार जाने में जामवन्त ने स्मरण कराया है तब हनुमान जी पार जाकर लंका में सामर्थ्य के काम किया है यदि ऐसा होता तो सुग्रीव हनुमान को स्मरण कराता इसके सिवाय हनुमान के ऐसे शाप होने की कथा मिथ्या कल्पित है किसी सद्ग्रंथ में नहीं है न प्रमाण के योग्य है। अहिरावण की कथा अध्यात्म रामायण वाल्मीकि रामायण और अन्य पुराणों में जहां राम चरित्र और राम व रावण के युद्ध का वर्णन है कहीं नहीं है सब से मुख्य प्राचीन राम के चरित्र वर्णन का ग्रन्थ वाल्मीकीय रामायण है जिसमें विस्तार से कुम्भकरण के पुत्रों और अनेक अन्य राक्षसों का वर्णन है उसमें कहीं अहिरावण का वर्णन नहीं है इससे निश्चित है कि उक्त कथा केवल बनाने वाले की कल्पना मात्र से रचित प्रक्षिप्त प्रमाण रहित और अयुक्त है इससे मन्तव्य नहीं है॥

भागवत स्कंध २ अ० ९ श्लो० ३६ में जैसा पूर्व ही वर्णन किया गया है विष्णु जी ने ब्रह्मा को यह वरदान दिया है।

भवान कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥

अर्थ—आप कल्प (सृष्टि) विकल्प (प्रलयों) में कभी मोह को न प्राप्त होंगे ऐसा लिख कर दशम स्कंध में फिर यह लिखा है कि ब्रह्मा जी मोहित होकर कृष्ण जी की परीक्षा लेने को कृष्ण जीके और जो उनके साथ गौओं और वत्सों को चराते थे उनके वत्सों को हर लिया इत्यादि प्रथम तो ब्रह्मा को त्रिकालज्ञ होना और पूर्व कल्प की सृष्टि को स्मरण करके उसी के समान फिर सृष्टि करने को लिखा है जब पूर्व कल्प की सृष्टि का ज्ञान ब्रह्मा को होता है तो इस कल्प में सब का ज्ञान ब्रह्मा को होना चाहिये मोह भ्रम न होना चाहिये फिर विष्णु जब आदि सृष्टि में कभी मोह न होने का वरदान दिया था तो मोह न होना चाहिये था इन दो कथाओं में से एक अवश्य झूंठ मन्तव्य है जो पूर्व का वरदान सत्य है तो मोह नहीं हो सका यदि मोह हुआ तो वरदान देने की कथा असत्य होगी अथवा विश्वास के योग्य न होने से दोनों असत्य मन्तव्य हैं। विचार करने से यह विदित होता है कि राक्षस के समान गुण व कर्म होने से कंस राक्षस माना जाय तो गुण कर्म अनुसार राक्षस माना जा सकता है परन्तु यथार्थ में जाति वा योनि से राक्षस नहीं था क्योंकि मनुष्य माता व पिता से उत्पन्न मनुष्य ही हो सकता है मथुरा में रहने वाली सब उसकी प्रजा भी मनुष्य ही थी कंस से पहिले और उसके मरने के पीछे उग्रसेन के राज्य में मथुरा में असुरों के होने का कुछ भी वर्णन नहीं पाया जाता यदि कंसके समय में असुर होते, तो उनके कुलमें उनके पुत्र स्त्री आदि पीछे भी रहते और उनके नाम और कर्मों का वर्णन उग्रसेन के राज्य में भी होता परन्तु फिर कंसके पीछे

किसी असुर के होनेका वर्णन नहीं है और मनुष्यों असुरों राक्षसों का एक साथ एक नगर में रहना भी युक्त होना प्रतीत नहीं होता इससे पूतना और अघासुर आदि की कथायें सन्दिग्ध और अयुक्त प्रतीत होती हैं ॥

तुलसीदास कृत रामायण में आरण्यकाण्ड में लिखा है कि जब लक्ष्मण जी कन्द मूल फल लेने गये तब रामचन्द्रजीने जानकी जी से यह कहा कि जब तक मैं निशाचरों का नाश न करूं तब तक तुम अग्नि में बास करो रामकी आज्ञा अनुसार जानकीजी अपना प्रतिविम्ब रूप बनाकर रख गई और अपने तत्वरूपसे अग्नि में प्रवेश कर गईं यह वर्णन करके यह लिखा है "लक्ष्मण हू यह मरम न जाना । जो कुछ चरित कीन भगवाना ॥"

यह लेख इस हेतु से असत्य प्रतीत होता है कि जब लक्ष्मण जी जो विष्णु का अंश कहे जाते हैं और रामचन्द्र के प्रिय भ्राता सदा साथ रहने वाले थे उन्होंने इस चरित्र को उस समय में नहीं जाना और न कहीं रामचन्द्र जीने लक्ष्मण जीसे अथवा किसीसे कहीं अपने इस गुप्त भेद को रामायण में प्रकट किया है तब त्रेता द्वापर और कुछ कलियुग के व्यतीत हो जाने पर तुलसीदास जीको अथवा जिसने ऐसा वर्णन किया है उसको कैसे ज्ञात हुआ इसमें कोई प्रमाण निश्चित नहीं होता अन्य हेतु इस कथा के अयुक्त होने का यह है कि प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बी के उपस्थित रहने में हो सकता है अन्यथा नहीं और चेतन नहीं होता इससे अपने चेतन आत्मा से युक्त दूसरा शरीर जानकी जी ने बनाया यह मन्तव्य हो सकता है प्रतिबिम्ब मात्र नहीं क्योंकि उस शरीर से आत्मा युक्त शरीर के समान कार्य किये गये हैं ऐसा होने में जानकी जी का जैसा पहिला शरीर वैसा ही दूसरा और जो अधिक एकहो समान धारण करे सब समान मन्तव्य हैं जानकी जीका आत्मा भेद रहित सब में प्राप्त होने से भेद सिद्ध करने के लिये ऐसी कथा की रचना व कल्पनाही निष्फल है अध्यात्म रामायण में भी ऐसा वर्णन है परन्तु उसमें लक्ष्मण ने भी इस मर्म को न जाना यह लेख नहीं है लक्ष्मण के जानने या न जानने के विषयमें कुछ वर्णन नहीं है परन्तु उक्त हेतुओं से उक्त रामायण का लेख भी मन्तव्य नहीं है क्योंकि यह भी विद्यारण्यनिर्मित वो।देव निर्मित भागवत के समान आधुनिक माना गया है विद्वान् महाशय उक्त रामायणको आर्ष नहीं मानते परन्तु उत्तम लेख उसमें या किसी ग्रथमें हो वह मन्तव्य हो सकता है यदि कोई ग्रन्थ आर्ष ही हो और उस में कोई लेख अयुक्त हो वह प्रक्षिप्त मन्तव्य है आज कल जो सत्यनारायण की कथा प्रचरित है और सुनी जाती है उसमें ब्राह्मण लकड़िहारा बनिया और गोपों की कथा से भिन्न सत्यनारायण की कथा कौन है इसका पता नहीं है और नारायण को ऐसा क्रोधी बुद्धि व विचार रहित वर्णन किया है कि जो सामान्य मनुष्य सभ्य मनुष्योंकी सगति किये होगा उसकी भी बुद्धि नारायण की बुद्धि से उत्तम होगी वह भी विचार से काम करेगा नारायणों के समान क्रोध कर बिना अपराध अथवा न्यून अपराध में अनुचित कठिन दण्ड न देगा । बनियाने बिना

जाने हुये मनुष्य से उसके पूछने पर अपने धनके छिपानेके लिये अपने नाव में लता पत्ता कह दिया तो क्या अपराध हुआ जिससे नारायण ने नाव में लता पत्ता कर दिया । जब पति स्त्री के लिये देवता के समान मन्तव्य लिखा है तब पतिके आगमन को सुनकर लौट कर सत्यनारायण का प्रसाद खाने की इच्छा करके बनिया की स्त्री और कन्या अपने पतियों के दर्शन को गई तो क्या अपराध किया जिससे नारायण ने नाव को अलक्षित कर दिया है । सत्य नारायण की कथा सुनते व पूजन करते हुये गोपों के पास न जाने औरनमस्कार न करने के अपराध से राजा के पुत्रों और राज्य को नारायण ने नष्ट कर दिया तो अपराध के अनुसार उचित दण्ड दिया अथवा अनुचित । अब सत्यनारायण की कथा होते हुये बहुतेरे देखते हैं और नहीं जाते कोई कोई बुलाने पर भी नहीं जाते उनके शिर में पीडा भी नहीं होती । शीघ्र ही क्रोध करने व प्रसन्न होने वाले चचल बुद्धि वाले नारायण को अब शान्ति और गभीरता किस की शिक्षा से प्राप्त हो गई है यह निश्चित नहीं होता अनुमित होता है कि उक्त कथा के बनाने वाले की जैसी बुद्धि रही है वैसे ही बुद्धि का नारायण का होना वर्णन किया है अपनी कल्पना से नारायण की निन्दा रूप मिथ्या कथा की रचना की है इस से मन्तव्य नहीं है यह कथा न सुन कर नारायणके यथार्थ गुण कर्मों का सुनना नारायण की स्तुति भजन पूजन करना उत्तम है एक ही बार सगर के साठ हजार पुत्रों के उत्पन्न होने और उनके समुद्र खोदने और गंगा की उत्पत्ति की कथा भी अयुक्त है इतना सक्षेप से उपलक्षणमात्र के लिये लिख दिया है इसी प्रकार से जो जो कथा व व्याख्यान युक्ति हेतु विरुद्ध प्रमाण रहित असभव प्रतीत हों वह किसी ऋषि विद्वान् आप्त पुरुष का वाक्य होना स्वीकार करने के योग्य नहीं है वह आधुनिक कल्पित प्रक्षिप्त असत्य ही मन्तव्य है ॥

इति श्रीतत्त्वमार्तण्डेस्वामिप्रभूतानन्दनिर्मिते प्रक्षिप्त-कथावर्णनेनवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥



अथ मांस भक्षण विधि निषेध विषयक समीक्षा

अब हिंसा जो अति अनुचित पाप कर्म है उसको माँसाहारियों ने उत्तम यज्ञ में कर्तव्य होना वर्णन किया है और उसके प्रमाण के लिये मनु आदि आप्त धर्मात्माओं के ग्रन्थों में मनुस्मृति आदि में अनेक कल्पित मिथ्या वाक्यों को

प्रक्षिप्त किया है इसमे मास भक्षण विषय में निम्न लेखानुसार समीक्षा की जाती है यद्यपि मासाहारियो ने यज्ञ में हिसा की विधि को वर्णन किया है तथापि विचार करने से उनके हृदय में भी यथार्थ उत्तम भात न होने से यह लिखदिया है कि जिस यज्ञ में हिसा की जाती है और मास भक्षण किया जाता है वह तमोगुणी यज्ञ है हिंसा रहित यज्ञ सत्वगुणी तमोगुणी यज्ञ की अपेक्षा उत्तम है अन्त में उत्कृष्टता सत्वगुणी यज्ञ ही की स्वीकार की गई है इससे यज्ञ में और सब काल में हिसा को निषिद्ध समझना व मास भक्षण को त्याग करना उचित है। मॉस विधायक वाक्यों को और उनके प्रक्षिप्त होने के प्रमाण के लिये विशेष हेतुओं को वर्णन करते हैं॥

यह सब मनुष्य चित्त की वृत्तियों से निश्चय कर सकते हैं कि इन्द्रियां सदा अपने अपने विषय की ओर झुकती हैं और अज्ञान अवस्था में प्राप्त आत्मा विषयों में आसक्त हो विषयों की अभिलाषा करता है वाम मार्गियों ने जब वेद विरुद्ध वाममार्ग को जिसमें मद्य मास और व्यभिचार के निर्दोष होने की विशेषता है चलाया और यह मत इन्द्रियों का सुखद होने से अधिक प्रचरित हुआ तब धूर्तता करके विषयासक्तों ने वेदों के नाम से भी वाममार्गियों के समान कुछ विधि को मिलाने के आशय से वर्त्तमान वाक्य व श्लोकों को प्रक्षिप्त करके हिसा और सुरापान मास भक्षण को यज्ञ में विहित होना वर्णन किया है मैथुन में दोष न होना भी लिखा है यथा—

सौत्रामण्यांसुरॉपिबेत् प्रोक्षितंभक्षयेन्मास वैदिकीहिंसा हिसा न भवति ॥

तथा मनुस्मृति में यह श्लोक है—

न मास भक्षणे दोषो न मद्ये नच मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

अर्थ—सोत्रामणि में (सौत्रामणि यज्ञ में) मद्य को पान करे प्रोक्षित (यज्ञ में संस्कार किये गये) मास को भक्षण करे वैदिकी (वेद विहित) हिसा हिसा नहीं होती है इस वाक्य में सुरा शब्द सोमवल्ली के रस का वाचक है अर्थात् सोत्रामणि यज्ञ में सोमवल्ली के रस को पान करे। यज्ञ में मास खाने में दोष नहीं है ऐसी पामरपन की वातें वाममार्गियों ने चलाई हैं श्लोक का अर्थ यह है कि मास भक्षण में दोष नहीं है न मद्य में दोष है न मैथुन में दोष है यह भूतों (प्राणियों) की प्रवृत्ति है और निवृत्ति तो महाफल देने वाली है॥

मास भक्षण करने मद्य पीने मैथुन करने में दोष नहीं है ऐसा कहना केवल मूर्खता है क्योंकि बिना प्राणियों को पीडा दिये व वध किये मास प्राप्त नहीं होता और विना अपराध पीडा देना न्याय विरुद्ध आचरण धर्म का काम नहीं है वेद में तथा मनुस्मृति में स्पष्टता से मांसके निषेध में ऐसे वाक्य हैं "पशूनपाहि

(यजु० अ० १ म० १) अर्थ पशुओं की रक्षा कर गांमाहिंसी (यजु० अ० १३ म० ४३) गौ की हिंसामत कर अविं माहिंसी (यजु० अ० १३ म० ४४) भेड को मत मार इम माहिंसी द्विपाद पशुम् माहिंसीरेंकशफ पशुम् (यजु० अ० १३ म० ४७ व ४८) इस दो पाव वाले को पशु को एक खुर वाले पशु को मत मार इत्यादि नाकृत्वा प्राणिनांहिंसा मांसमुत्पद्यतेकचित् नच प्राणिवध: स्वर्ग्यस्तस्मान्मासं विवर्जयेत् । समुत्पत्तिञ्चमांसस्यवधबन्धौचदेहिनां प्रसमीक्ष्यनिवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् (मनु० अ० ५ श्लोक ४८ । ४६ ॥

अर्थ—विना प्राणियों की हिंसा के कहीं मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणियों का वध स्वर्ग के लिये हित (उपयोगी) नहीं है इससे मांस वर्जित है। मांस की उत्पत्ति को देहधारियों का वध और वधन को देख और विचार कर मांस भक्षण से निवृत्त रहै मांस भक्षण न करे। वाम मार्गियों के ग्रंथों को छोड कर मद्य का सब ग्रंथों में निषेध ही है क्योंकि उससे मतिभ्रष्ट होती है मैथुन की इच्छा विशेष होती है विचार रहित ऐसा होने से अनेक दुराचरणों में प्रवृत्ति होती है अनेक प्रकार के अनुचित अयुक्त वाक्य निकलते हैं इससे सर्वथा त्याज्य है। मैथुन में दोष नहीं है इस प्रकार से बिना किसी नियम और विशेषता के सामान्यत मैथुन मात्रमें दोष न होना कहने में केवल पर स्त्री गमन में दोष नहीं है इतना ही अर्थ ग्राह्य नहीं होता किन्तु पुस मैथुन कन्या गुरु पत्नी माता आदि सब के साथ मैथुन करना निर्दोष होना ग्राह्य होता है जो महा पापों में सङ्ख्यात है उसका भी निर्दोष होना सिद्ध होगा इस प्रकार का अनुचित लेख महात्मा मनु जी का नहीं हो सकता इससे मिथ्या और प्रक्षिप्त ही मन्तव्य है इस युक्ति के सिवाय यह मन से निश्चय किया जाता है कि मैथुन में दोष नहीं है जो इस वाक्य को धर्म शास्त्र के अनुकूल व मनु जी का वाक्य विश्वास करने वाले हैं वे ही परस्पर एक दूसरे के गृह की स्त्रियों के साथ यथेष्ट मैथुन करने को निर्दोष न समझेंगे और इस हेतु से कि मास भक्षण आदि की प्रवृत्ति ही प्राणियों की है मास भक्षण आदि निर्दोष माने जायें तो सब पापाचरण निर्दोष मानना युक्त हो जायगा क्योंकि धार्मिक सत्पुरुषों के विरुद्ध अधर्म आचरण में प्रवृत्त प्राणी लोभ क्रोध मोह काम आदि वश अनेक प्रकार के अनुचित कर्म चोरी प्राण घात हत्या आदि को करते हैं इस प्रकार के अनेक अधर्म कर्मों की प्रवृत्ति है ये भी प्राणियों की प्रवृत्तिया निर्दोष मन्तव्य होंगी परन्तु ऐसे अधर्माचरण की प्रवृत्ति को कोई विचार शील निर्दोष नहीं मान सकता इससे मास भक्षण सुरापान और मैथुन भी प्राणियों की प्रवृत्ति रूप होने से निर्दोष नहीं माने जा सकते इससे यह श्लोक मनु जी का वाक्य नहीं हो सकता ॥

निवृत्ति महाफल रूप है इतना कहना यथार्थ है और मन्तव्य है ॥

मनु जी ने कहीं मास भक्षण को उचित और उत्तम वर्णन नहीं किया यह

महाभारत में वर्णित श्री व्यास मुनि जी के वाक्य से निश्चत होता है इससे अन्य किसी उत्तम साक्षी की आवश्यकता नहीं है श्री व्यास जीके ऐसा वर्णन करने से कि सब कर्मों में हिंसा न करने को धर्मात्मा मनु जीने कहा है उक्त श्लोक तथा अन्य हिंसा विधायक मनु जी के वाक्यका व्यासजी के समय में न होना पीछे से प्रक्षिप्त होना और असत्य होना सिद्ध होता है। व्यास जीने भारतान्तर्गत शान्ति पर्व में शान्ति पर्व की आदि से संख्या करने में २६५ अध्याय में मोक्ष धर्म वर्णन के क्रम में ६० में इस प्रकार से वर्णन किया है॥

सर्वकर्मस्वहिंसाहि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नरः ॥ ५ ॥ तस्मात्प्रमाणतः कार्योधर्मः सूक्ष्मो विजानता अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्योज्यायसीमता ॥ ६ ॥ सुरामत्स्या पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा धूर्तै प्रवर्तितं यज्ञे नैतद्वेदेषु कथ्यते ॥ मानान्मोहाच्चलोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् विष्णु मेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणा ॥ १० ॥ पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम् यज्ञियाश्च येवृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः ॥ ११ ॥

अर्थ— सब कर्मों में अर्थात् सब अग्निष्टोम आदि यज्ञ कर्मों में निश्चय से अहिंसा (हिंसा न करना) उचित है यह धर्मात्मा मनु जी ने कहा है मनुष्य कामकार से अर्थात् मांस भक्षण की इच्छा वा कामना से यज्ञवेदी में जो हवन करने की शास्त्र में विधि है उससे बाहर पशुओं को मारते हैं ॥ ५ ॥

तिससे ज्ञानवान् विचारवान् से सूक्ष्म धर्म प्रमाण से अर्थात् प्रमाण से निश्चय करके करना चाहिये अहिंसा सब प्राणियों के धर्मों में श्रेष्ठ मानी गई है ॥ ६ ॥

मद्य मत्स्य पशुओं का मांस अथवा पक्षियों का बलिदान धूर्तों ने यज्ञ में प्रवर्तित किया है वेदों में ऐसा नहीं कहा जाता है अथवा नहीं कहा गया है ॥७॥

मान से मोह से और लोभ से चंचलता रूप यह कल्पना की गई है ब्राह्मण सब यज्ञों में विष्णु ही को अर्थात् सर्व व्यापक परमात्मा ही को जानते हैं ॥ १० ॥

दुग्ध से बने हुए पदार्थों से गोहू के बने हुये पदार्थों से उसका (विष्णु का) यजन (पूजन) स्मृति में वर्णन किया गया है और जो वृक्ष यज्ञ के लिये हित हैं वे वेद में यज्ञ के लिये निहित कहे गये हैं ॥ ११ ॥

तथा शान्ति पर्व के अध्याय २७२ श्लोक २० में यह वर्णन किया है ॥

अहिंसा सकलोधर्मो हिंसाऽधर्मस्तथयथाऽहितः ।
सत्यंतेऽहं प्रवक्ष्यामि योधर्मः सत्यवादिनाम् ॥ २० ॥

अर्थ—अहिंसा (हिंसा न करना) सम्पूर्ण धर्म है ऐसाही हिंसा सब अधर्म और हित न करनेवाली है अर्थात् हानि करनेवाली है मैं तुम्हारे लिये जो सत्यवादियों का धर्म है उसको वर्णन करूंगा ॥ २० ॥

महाभारत में अनुशासन पर्व के अध्याय २३ श्लोक ८९ में यह वर्णन है—

निवृत्त मधुमान्सेभ्यः परदारेभ्यएवच ।
निवृत्ताश्चैवमाद्भ्यस्तेनरा स्वर्ग गामिनः ॥

अर्थ—मद्यपान करने मांस भक्षण करने से पर स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने से और ऐसे अन्य दुराचारों से जो निवृत्त हैं वा होते हैं वे मनुष्य स्वर्ग को जानेवाले हैं वा स्वर्ग को जाते हैं इस प्रकार से महाभारत में मांस के भक्षण और हिंसा का निषेध है । और हिंसा न करने और मांस भक्षण न करने में पुण्य व स्वर्ग प्राप्त होना फल लिखा है । उक्त प्रकार से मनुजी ने मांस भक्षण और हिंसा का निषेधही किया है । भागवत में जिसका वर्तमान समय में जो वेदशास्त्र के ज्ञान से रहित हैं वे अतिश्रेष्ठ व मन्तव्य समझते हैं मद्य मांस व मैथुन की निवृत्तिही की मुख्यता प्रतिपादन में प्रथम यह शङ्का करके कि वेद में इस प्रकार के वाक्य होने से यथा ऋतौभार्यामुपेयात् । हुतशेषंभक्षयेत् मांसम् । इत्यादि अर्थ-जब स्त्री को ऋतु धर्म हो (रजस्वला हो) तब स्त्री को प्राप्त हो अर्थात् स्त्री के संग प्रसङ्ग करे जो हवन करने से शेष रहे (बचे) उस मांस को भक्षण करे इत्यादि से मैथुन आदि की विधि निश्चित होती है फिर मैथुन आदि को अनुचित और निन्दित क्यों समझना चाहिये समाधान के लिये ऐसा वर्णन किया है—

लोकेव्यावायामिषमद्यसेवा नित्यास्तुजन्तोर्नहितत्रचोदना व्यव-
स्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासुनिवृत्तिरिष्टा ॥

भा० स्कन्ध ११ अ० ५ श्लोक ११

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा एवं
व्यवायः प्रजयानरत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ १३ ॥

अर्थ-लोक में मैथुन मांस और मद्य की सेवा अर्थात् सेवन नित्यही प्राणियों में विद्यमान है उसमें प्रेरणा नहीं है अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति नहीं होती उसके लिये विधि वा उपदेश की आवश्यकता होती है मैथुन आदि जो ऐन्द्रिक सुख

प्रवृत्त हैं व प्रवृत्त होते हैं उनमें अर्थात् इन्द्रिय विषयक मैथुन आदि में चोदना (प्रेरणा या विधि) नहीं है अर्थात् ऋतुमें भार्या के पास प्रसङ्ग के लिये प्राप्त हो इत्यादि वाक्य विधिके लिये नहीं है इन वाक्यों का आशय विधि व प्रवृत्ति के लिये नहीं समझना चाहिये तो क्या समझना चाहिये यह सूचित करने के लिये श्लोक के उत्तरार्द्ध में यह कहा है व्यवस्थितिस्तेषु इत्यादि अर्थ—' (तेषु) उनमें अर्थात् (व्यवाय) मैथुन मास मद्यों में जो विवाह यज्ञ व सुराग्रह (सौत्रमणि) विधानों के साथ जो व्यवस्थिति अर्थात् नियमस्थापन है उससे इन मैथुन मास और मद्य की सेवाओं में केवल निवृत्ति ही इष्ट है अर्थात् क्रम से निवृत्त करने ही का आशय है प्रवृत्त होने व रहने का तात्पर्य नहीं है इसका विशेष व्याख्यान यह है कि विवाह करने से जो विवाहित स्त्री मात्र में मैथुन कर्म करने की व्यवस्था की गई है वह सब अन्य स्त्रियों के साथ मैथुन की निवृत्ति के लिये है क्योंकि जो विवाह का नियम न होता तो जो पुरुष जिस स्त्री के साथ चाहता और जो स्त्री जिस पुरुष के साथ चाहती इच्छा अनुसार दोनों एक दूसरे के साथ मैथुन करते और ऐसा होने में न कोई किसी की स्त्री होती और न कोई किसी का पुरुष होता न उत्पन्न हुई सन्तान किसी पुरुष विशेष की विदित होती पिता पुत्र का सम्बन्ध विशेष न होता सब स्त्रियों के साथ सब पुरुष व सब पुरुषों के साथ सब स्त्रियां मैथुन करने के अधिकारी होने में 'मैथुन कर्म की अति अधिकता होती सब स्त्री व पुरुष व्यभिचारमें प्रवृत्त होते और ऐसी प्रवृत्तिसे अनेक विघ्न और अनर्थ होते इससे विवाह विधि विवाहित स्त्री से अन्य सब स्त्रियों के साथ से मैथुन की निवृत्ति करने के लिये फिर ऋतुमात्र में गमन करने का नियम एक महीने के सब दिनों से निवृत्ति करके केवल ऋतु समय के विशेष दिनों के रखने के लिये है फिर पुत्र उत्पन्न होजाने पर परमार्थाभिलाषी आत्मा के जिज्ञासु को विवाहित स्त्री के साथ भी मैथुन को त्याग करना वर्णन किया है जो मनुष्य इन्द्रिय के विषय सुख के अभिलाषी हैं वह शीघ्र ही एक ही वार सर्वथा मैथुन आदि को त्याग नहीं कर सकते उनको शीघ्र ही विषयों से विराग होना व विषय का त्याग करना असम्भव है इससे उनको क्रम से विषय से निवृत्त करने के लिये विवाह आदि की विधि तत्पर निवृत्त के लिये मर्यादा या उपाय मात्र है इससे उक्त विधि में निवृत्ति ही इष्ट (मुख्य प्रयोजन) होने से विचार से उक्त विधि निवृत्ति ही के उपयोगी है ऐसे ही नित्य मांस भक्षण करने वाले व मद्य पीने वालों के लिये जिनका एक हो वार सर्वथा मांस व मद्य का त्याग करना असम्भव है उनको किसी प्रकार के यज्ञ विशेष में विधि वर्णन करना वर्ष के अन्य दिनों में मास और मद्य सेवन से निवृत्ति के लिये है। पुन मास युक्त यज्ञ को तमोगुणी मास रहित यज्ञ को सत्वगुणी व उत्तम वर्णन करके यज्ञ में भी माँस से उपेक्षा करने का उपदेश किया है इस प्रकार से मैथुन मास व मद्य के सेवन के विषय में जो विधि है वह यथार्थ में विधि नहीं है

मैथुन आदि विषय अभिलाषियों विषय आसक्तों को क्रम से विषयों से निवृत्त करने के लिये प्रयत्न रूप है इससे उनमें निवृत्तिही इष्ट है मुख्य प्रयोजन प्रवृत्ति का नहीं है ॥

प्रथम श्लोक में ऐसा आशय सूचित करके दूसरे श्लोकमें यह है यद्घ्राणभक्षः इत्यादि अर्थ—जो यह कहा है कि सुरा (मद्य) का गंध भक्ष (भक्षण) विहित है अर्थात् सौत्रामणि यज्ञ में मद्य का गंध ग्रहण करना चाहिये पान करना उचित नहीं है ऐसे ही पशु को बलि के लिये यज्ञ में मारना हिंसा नहीं है सन्तान की उत्पत्ति के लिये मैथुन करना रति के लिये (काम सुख भोग मात्र के लिये) न करना उचित था शुद्ध है ऐसा करने को जो शुद्ध जानते हैं वे अपने धर्म को नहीं जानते हैं अर्थात् अपने आत्मा के कल्याणकारक धर्म को नहीं जानते हैं मैथुन आदि की प्रवृत्ति भव बंधन जन्म व मरण क्लेश ही का कारण रूप है इससे परमार्थ की प्राप्ति की अभिलाषा करने वाले को मैथुन आदि का सेवन त्याग करना ही उचित और धर्म है यह सिद्धान्त है ॥

भागवत में भी उक्त प्रकार से मैथुन आदि की विधि के विषय में हेतु विशेष जो एक अंश में युक्ति अनुकूल होने से ग्राह्य हो सकता है वर्णन करके सिद्धान्त में सर्वथा निषेध ही वर्णन किया है यद्यपि व्यास आदि महर्षियों के वाक्य से निषेध होना निश्चित होने में भागवत के प्रमाण की विशेषता नहीं है तथापि भागवत में श्रद्धा रखने वालों को भागवत से भी निश्चय होने के लिये और भागवत में भी व्यास पतञ्जलि महर्षियों की सम्मति के अनुकूल ही वर्णन होने से भागवत के लेख को भी प्रमाण में लिख दिया है अब योग दर्शन में जैसा महर्षि पतञ्जलि जीने हिंसा के निषेध विषय में वर्णन किया है वह वर्णन किया जाता है प्रथम योग के जो आठ अङ्ग यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि हैं उनमें से प्रथम यम के अङ्ग में इस प्रकार से अहिंसा का वर्णन किया है ॥

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहाः ॥ यो० पा० २ सू० ३०

अर्थ—हिंसा न करना अर्थात् सब प्राणियों में द्रोह रहित होना किसी प्राणी को वध न करना दुःख न देना सत्य बोलना (जैसा देखा सुना व जाना हो वैसा ही कहना चोरी न करना ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करना अर्थात् उपस्थ इन्द्रिय को वश करना वीर्य पतित न होने देना अपरिग्रह अर्थात् विषयों के प्राप्त करने व उनके रक्षा करनमें उनमें चित्त लगा रहने और उनके लिये हिंसा करने अथवा हिंसा किये जाने आदि दोषों को जान कर विषयों को ग्रहण या अंगीकार न करना । ये पाच साधन यम है इसी प्रकार से आगे नियम आदि को वर्णन किया है इससे हिंसा का करना अधर्म और अनुचित होना सिद्ध है फिर आगे हिंसा आदि के विषय में इस प्रकार से विशेष व्याख्यान किया है ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ यो० पा० २ सू० ३३

अर्थ –वितर्कों के नाश करने या शान्त करने के लिये विरुद्धपद की भावना करे अर्थात् वितर्क जो मन में अनुचित वा विरुद्ध कुवृत्ति रूप तर्क हों उनके दूर करने के लिये उनके विरुद्ध पक्ष को अर्थात् उनमें दोष व हानि प्राप्त होने के ज्ञान को विचार से उदय करे यही प्रतिपक्ष भावन है। इसका विवरण यह है कि जब ऐसा वितर्क मन में प्राप्त हो कि इसने मेरा अपकार किया है मैं इसको मार डालूंगा इसके लिये मैं झूठ बोलूंगा इसका धन छीन लूंगा इसकी स्त्री के साथ मैथुन करूंगा तब ऐसे प्रतिपक्ष (विरुद्ध पक्ष) की भावना करे अर्थात् प्रतिपक्ष को चित्त में धारण करे कि मुझे ऐसा करना उचित नहीं है इस अपकारी ने जो अपकार किया है वह ऐसा नहीं है कि इसको वध करूं बलात्कार से इसके धन को छीनलूं अपराध रहित इसकी स्त्री के साथ मैथुन करूं और झूठ बोलूं ऐसे अधर्म आचरणों में प्रवृत्त हूं मैंने जो हिंसा त्याग करने का साधन इस घोर संसार के दुःखों से निवृत्त होने के लिये योग धर्म के अङ्ग को धारण किया है इसमें यह वितर्क विघ्न रूप है इस विघ्न को निवृत्त करना ही उचित है इसमें प्रवृत्त होने में महा हानि है ऐसा विचार हिंसा आदि अधर्म आचरणों से निवृत्त हो अगले सूत्र में हिंसा आदि के वितर्कों के प्रतिपक्ष भावन को इस प्रकार से स्पष्टता से वर्णन किया है–

वितर्काहिंसादय. कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफलाइतिप्रतिपक्षभावनम् ।३४

अर्थ—वितर्कों से हिंसा आदि किये गये कराये गये अनुमोदन किये गये लोभ पूर्वक क्रोध पूर्वक मोह पूर्वक मृदु मध्य अधिमात्रों (अधिक मात्रों) से युक्त अनन्त दुःख और अज्ञान फल के देने या करने वाले हैं ऐसा विचारना यह प्रतिपक्ष भावन है ॥ ३४ ॥

व्याख्यान—हिंसा आदि के लिये जो वितर्क होते हैं उनमें से प्रथम एक हिंसा को सूत्र में वर्णित आशय के अनुसार इस प्रकार से व्याख्यात समझना चाहिये कि हिंसाकृता अर्थात् आपसे की गई कारित अर्थात् दूसरे से कराई गई अनुमोदिता अर्थात् किये जाने पर अच्छी समझी गई इन तीन भेदों से तीन प्रकार की होती है इसका तात्पर्य यह है कि जो हिंसा करता है जो कराता है और जो हिंसा करने में प्रसन्न या सुखी होता है कि अच्छा हुआ जो मारा गया ये तीनों हिंसा रूप पाप के भागी हैं और हिंसा का करना कराना और हिंसा में प्रसन्न होना ये तीनों हिंसा रूप पाप हैं या हिंसा रूप पाप के भेद हैं हिंसा के लोभ आदि कारण होते हैं इससे हिंसा लोभ पूर्वक क्रोध पूर्वक मोह पूर्वक तीन कारणों से होती है यथा मांस के अर्थ चर्म के अर्थ मारना लोभ पूर्वक अर्थात् लोभ कारण से है इसने हमारे खेत को खाया है अथवा कोई अन्य हानि किया है इससे उत्पन्न हुये क्रोध से हिंसा करना क्रोध पूर्वक हिंसा है और इसको देवता के लिये बलिदान करेंगे तो धर्म होगा इस बुद्धि से वध

करना मोह पूर्वक अर्थात् अज्ञान पूर्वक हिंसा है लोभ क्रोध और मोह इन तीन पूर्वक होने से यह तीन भेद होते हैं इन तीन भेदों सहित कृत कारित और अनुमोदितों की सख्या करने से हिंसा नव विधि की होती है अर्थात् लोभ पूर्वक कृत क्रोध पूर्वक कृत मोह पूर्वक होने से तीन प्रकार की कृत ऐसे ही तीन तीन प्रकार की कारित और अनुमोदित होने से नव भेद होते हैं फिर मृदु (न्यून वा कोमल) मध्य (न्यून न अधिक) अधिमात्र (अधिक) इन भेदों से फिर हिंसा के त्रिविध भेद होते हैं इन तीन भेदों सहित उक्त नव प्रकार के भेदों की संख्या करने से अर्थात् मृदु सहित लोभ पूर्वक क्रोध पूर्वक मोह पूर्वक कृत कारित अनुमोदित की गणना करने से नव मृदु ऐसे ही नव मध्य के भेद नव अधिमात्र के भेद होने से सत्ताइस २७ भेद होते हैं फिर हिंसा के मृदु-मध्य तीव्र भेदों को लोभ क्रोध मोहों के मृदु मध्य तीव्र भेदों के साथ मिलाने से मृदु मृदु मध्य मृदु तीव्र मृदु तथा मृदु मध्य मध्य मध्य तीव्र मध्य तथा मृदु तीव्र मध्य तीव्र अधिमात्र तीव्र नव भेद होते हैं जब तीनमृदु मध्य अधिमात्र के उक्त प्रकार से तीन तीन भेद होते हैं तब नव कृत कारित और अनुमोदित की मृदु आदि के साथ गुणन करने से सत्ताइस सत्ताइस मृदु मध्य और अधिमात्र के भेद होने से इक्यासी ८१ भेद होते हैं अथवा तीन तीन प्रकार के कृत कारित अनुमोदित के भेद होने से नवकृत आदि भेदों को नव मृदु मृदु आदि भेदों के साथ गुणन करने से नव नवां इक्यासी ८१ भेद होते हैं फिर ब्राह्मण धार्मिक उत्तम गुण वाले और क्रमसे उत्तम मध्यम निकृष्ट जाति गुण भेदों सहित असत्य प्राणियों के भेदों से असख्य हिंसा के भेद होते हैं ऐसेही असत्य आदि में भेदों को योजित करना चाहिये इस प्रकार से असत्य भेदों से युक्त हिंसा आदि पाप कर्म असख्य व अनन्त दुःख और अज्ञान फलों के देने वाले वा करने वाले हैं इससे त्याग करने योग्य है। हिंसा करने वाला जिसका वध करता है उसको बलात्कार करके गिराता है निर्बल करता है फिर शस्त्र (हथियार) से मारकर दुःख देता है फिर प्राण से रहित करता है निर्बल करने से हिंसा करनेवाला इस जन्म वा जन्मान्तर में निर्बल होता है दुःख देनेसे तिर्यक् योनियों में प्राप्त हो दुःख को अनुभव करता है जीवन हानि करने से मरण में अतिक्लेश को प्राप्त होता है जन्मान्तर में किसी उत्तम कर्म से सुख को प्राप्त होता है तो अल्पायु होता है इस प्रकार से निकृष्ट फलों को प्राप्त करने वाली हिंसा का त्याग ही करना उचित है इस प्रकार से वितर्क में प्रतिपक्ष भावन करके हिंसा में तथा असत्य आदि में प्रवृत्त न होना चाहिये हिंसा आदि की निवृत्ति ही उत्तम और कल्याण करने वाली है ऐसा पतञ्जलि महर्षि ने हिंसा आदि के विषय में वर्णन किया है और व्यास जी योग दर्शन के भाष्यकारने इस प्रकार से व्याख्यान किया है अर्थात् वितर्क हिंसादय- इत्यादि इस सूत्र का व्याख्यान श्री व्यास मुनि कृत भाष्य के आशय के अनुसार लिखा गया है ॥

मनु व्यास पतञ्जलि वर्मा मा महर्षियों की सम्मति से हिंसा का त्याग करने

योग्य और अधर्म होना सिद्ध होता है और बुद्धि से विचार करने से भी हिंसा का अधर्म होना मांस भक्षण त्याग करने योग्य होना निश्चित होता है क्योंकि जब कोई अधिक शक्तिमान अपने अधीन अपने से निर्बल प्राणी को पीडा देता है उसका बध करता है तब उस निर्बलके मुखका वर्ण विकार को प्राप्त होता है उसके मुख की आकृति बिगड जाती है दीन हो किसी रक्षक की सहायता को चाहता है दीन शब्द उच्चारण करता है अति व्याकुल होता है इस प्रकार के लक्षणों से उसके क्लेश का निश्चय होनेसे दयावान् सत्पुरुष धार्मिकों के हृदय में करुणा उत्पन्नहोती है तथा स्वप्न में जब कोई प्राणी यह देखता है कि कोई मेरे बध करने में उद्यत है अथवा व्याघ्र आदि हिंसकप्राणी के वश होगया हूं बचने का कोई उपाय नहीं है उस समय व्याकुल होता है अति संकट में प्राप्त होता है ऐसी दशा को प्राय प्राणी स्वप्न में प्रत्यक्ष और अनुभव करते हैं ऐसे ही उस निर्बल प्राणी की दशा जिसका बध किया जाता है समझना चाहिये इस हेतु से अनुमान द्वारा यह सिद्ध होता है इस प्रकार बलात्कार से निरपराध प्राणियों के हिंसक और मांस भक्षकों को परमन्यायकारी सर्वज्ञ दयालु परमात्मा अवश्य दण्ड देवेगा और वे दुर्गतिको प्राप्त क्लेश को प्राप्त होवेंगे। इससे किसी प्रकार से हिंसा करना उचित व धर्म प्रतीत न होने से विचार शील धर्मात्माओं को सर्वथा त्याग करना ही उचित और श्रेयस्कर है यह सिद्धान्त है ॥

इति तत्त्वमार्तण्डेश्रीस्वामीप्रभूतानन्दनिर्मिते
मांसभक्षणहिंसानिषेधवर्णने
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ वर्णव्यवस्था समीक्षा विषयः

वर्तमान समय में प्राय आर्य्यावर्त निवासी यह समझते हैं कि ब्राह्मण कुल में जो उत्पन्न है उसके गुण व कर्म चाहे जैसे हों वह ब्राह्मण ही मन्तव्य है और श्रेष्ठ पूजनीय है ऐसे ही क्षत्रिय वैश्य और शूद्र जो जिस वर्ण व कुल में उत्पन्न है बिना उसके उत्कृष्ट व निकृष्ट गुण व कर्मों के विचार वर्ण और कुल अनुसार ही उत्कृष्ट व निकृष्ट होना समझते हैं और मानते हैं परन्तु ऐसा मानना केवल अज्ञान और शास्त्र व महर्षियों की सम्मति के विरुद्ध है। शास्त्र के अनुसार मनुष्य मात्र ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब एक जाति हैं क्योंकि शास्त्र में जाति का लक्षण ऐसा वर्णन किया है।

"समानप्रसवात्मिका जाति." न्या० अ० २ अ० २ सूत्र ७१

आकृतिर्जाति लिङ्गाख्या ॥ न्या० आ० २ आ० २ सूत्र ७०

इन दोनों सूत्रों का अर्थ यह है-जो एक ही प्रकार होने की बुद्धि को उत्पन्न करे अर्थात् जो पदार्थ अनेकों में एक ही प्रकार होने भिन्न न होने की बुद्धि का कारण हो वह जाति है ॥

जिस रचना व अङ्गों की बनावट से एकही प्रकार का होना ज्ञात हो अर्थात् जो जाति के ज्ञान होने का चिन्ह अर्थात् लक्षण है वह आकृति है। जैसे गौ की एक प्रकार की आकृति को देख कर सहस्रों गौओं में एक गौ जाति होने का ज्ञान होता है सब घोड़ों में घोड़ों की एक जाति होने का ज्ञान होता है ऐसे ही मनुष्यमात्र के देखने से ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कोई वर्ण किसी देश का मनुष्य हो सब में एक मनुष्य जाति होने का ज्ञान होता है इससे ब्राह्मण जाति क्षत्रिय जाति इत्यादि कहना अज्ञानियों लौकिक जनों का कथन है विद्वानों का नहीं है सब मनुष्य एक ही जाति हैं क्योंकि सब स्त्री व पुरुष के रज व वीर्य से उत्पन्न और एकही समान आकार के अङ्गों के बनावट वाले होते हैं ऊपर के अपने बनाये हुये चिन्ह जनेऊ चन्दन माला कपड़ा आदि न हों तो शरीर मात्रसे कोई वर्णभेद का ज्ञान नहीं हो सकता इससे जाति से वर्ण भिन्न वस्तु है। ब्राह्मण आदि वर्णों का जो भेद है वह गुण व कर्मों के भेद से होता है किसी वर्ण की स्त्री अथवा पुरुष से उत्पन्न होने और किसी कुल में उत्पन्न होने से नहीं होता इसके प्रमाण के लिये अनेक आप्त वाक्य आचार्य व ऋषियों के निर्मित ग्रन्थों में वर्णन किये हुये सिद्धान्त को लिखते हैं ॥

आपस्तम्ब ऋषि ने धर्म वर्णन में अपने आपस्तम्ब सूत्रों में,ऐसा वर्णन किया है

धर्म चर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

प्रपाठक २ पटल ५ सू० १० व ११ अर्थ—धर्म चर्य्या से अर्थात् धर्माचरण से जघन्य वर्ण अर्थात् नीच वर्ण जो शूद्र वर्ण है वह जाति परिवृत्ति में अर्थात् वर्णों के सब वृत्ति नाम आचरण करने में अधिकार प्राप्त होने में पूर्व पूर्व वर्ण को अर्थात् अपने से पहिले वा ऊपर वाले वर्ण को (वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण को) प्राप्त होता है और अधर्म आचरण से पूर्व वर्ण जो ब्राह्मण है वह जघन्य जघन्य वर्ण को अर्थात् अपने से नीचे नीचे वर्ण को अर्थात् क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्ण को प्राप्त होता है अथवा जाति परिवृत्तौ का अर्थ इस,प्रकार से समझना चाहिये 'जाति र्जन्म जन्मतोयो वर्णः स जाति शब्द-वाच्योऽर्थ तस्यपरिवृत्तिः परिवर्तन जाति परिवृत्तिस्तस्यां जाति परिवृत्तौ ॥

अर्थ—जन्म से जो वर्ण होता है वह जाति का अर्थ है जाति शब्द का अर्थ यहा जन्म है जाति परिवृत्ति में अर्थात् जन्म से प्राप्त वर्ण के परिवर्तन में कर्म की मुख्यता में यह उपदेश है कि धर्माचरण करने से नीच वर्ण अपने से उच्च उच्च वर्ण को प्राप्त होता है इत्यादि जाति शब्द का अर्थ जन्म होने में यह प्रमाण है ॥

अर्ति पीडा धनुष कोट्योर्जातिः सामान्यजन्मनोः ॥ नानार्थ वर्ग अमर कोशे श्लोक० ६७ ॥ इन ऋषि वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म आचरण से शूद्र ब्राह्मण पर्य्यन्त वर्णों के सब अधिकार को प्राप्त होता है अधर्म आचरण से ब्राह्मण शूद्र पर्य्यन्त नीच वर्ण के अधिकार को प्राप्त होता है इससे उत्तम गति और उत्तम वर्ण होने का कारण धर्म और निकृष्ट गति और नीच वर्ण होन का कारण अधर्म है। कुल और माता पिता कारण नहीं है तथा मनुस्मृति के अध्याय १० श्लोक ६५ में मनु जीन यह कहा है ॥

शूद्रोब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैतिशूद्रताम् क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैवच ॥

अर्थ—शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त होता है और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है ऐसे ही क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न को जाने आशय यह है कि ब्राह्मण के गुण व कर्म धारण करने से शूद्र ब्राह्मण और शूद्र के गुण और कर्म धारण करने से ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ऐसे ही क्षत्रिय के गुण व कर्म से क्षत्रिय वैश्य के गुण कर्म से वैश्य होना जाना चाहिये ॥

शुक्राचार्य जी ने शुक्र नीति के प्रथम अध्याय के श्लोक ३८ व ३९ में ऐसा वर्णन किया है ॥

नजात्या ब्राह्मणश्चात्रक्षत्रियो वैश्य एवच नशूद्रो नच वै म्लेच्छो भेदिता गुण कर्मभि. ३८ ब्रह्मणस्तु समुत्पन्नः सर्वे ते किन्तु ब्राह्मणा. नवर्णतो न जनकाद्ब्राह्मय तेज प्रपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ (अत्र) यहा अर्थात् इस जगत् में (जात्या) जाति से अर्थात् कुल में जन्म होने मात्र से न ब्राह्मण न क्षत्रिय है न वैश्य है न शूद्र है न म्लेच्छ है ये सब गुण कर्मों से भेद को प्राप्त हैं अर्थात् गुण कर्मों के ही भेद से इन वर्णों का भेद है और ब्रह्म से उत्पन्न है इससे (तु) क्या सब ब्राह्मण हैं या हो सकते हैं अर्थात् नहीं क्यों नहीं इस संशय दूर होने के लिये यह कहा है (वर्णत जनकात्तथा) वर्ण से अथवा पिता से (ब्राह्म तेजन प्रपद्यते) ब्राह्मण का तेज प्राप्त नहीं होता अर्थात् विना ब्राह्मण के गुण व कर्मोंके ब्राह्मण वर्ण म व ब्राह्मण पिता से उत्पन्न होने से ब्रह्म का तेज नहीं प्राप्त होता है न ब्राह्मण होता है गीता में श्री कृष्ण महाराज ने भी यह कहा है

चातुर्वर्ण्यंमयासृष्टं गुणकर्म विभागशः अध्याय ४ श्लो० १३

अर्थ—चारों वर्णों का होना मैंने गुण व कर्मों के विभाग से उत्पन्न किया है

महाभारत में व्यास जी ने शान्तिपर्व अध्याय १८८ में श्लोक १० से १३ तक ऐसा वर्णन किया है

न विशेषोऽस्ति वर्णानांसर्वंब्रह्ममिदंजगत् ब्रह्मणापूर्वसृष्टंहिकर्मभि वर्णतां गतम् ॥ १० ॥

अर्थ—वर्णों की कुछ विशेषता नहीं है यह सब जगत् एक ब्रह्म का कार्य क्योंकि पहले ब्रह्म से उत्पन्न किया गया है। इस का आशय है कि एक पिता उत्पन्न हुये एक ही वर्ण होना चाहिये इससे एक ब्रह्म से उत्पन्न होने से ब्राह्मण वर्ण मन्तव्य है अनेक वर्ण विशेष नहीं हो सकते इस संशय निवारण के लिये यह कहा है (कर्मभि वर्णता गतम्) कर्मों से अर्थात् कर्म के भेदों वर्णता को प्राप्त हुआ है अर्थात् ब्रह्म वा ब्रह्मासे उत्पन्न होने से एक ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न हुआ है परन्तु पीछे से गुण व कर्मों के भेद से अनेक वर्णता को जगत् प्राप्त हुआ है कैसे अनेक वर्ण हुये हैं यह आगे वर्णन करते हैं ॥

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा क्रोधना' प्रियसाहसा. त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्तेद्विजाः क्षत्रतां गता. ॥ ११ ॥

अर्थ—जो ब्राह्मण काम भोग प्रिय हुये तीक्ष्ण क्रोध करनेवाले हुये अपने धर्मको (ब्राह्मण धर्मको) त्याग दिया रजोगुण को धारण किया वे ब्राह्मण क्षत्रियता को प्राप्त हुये अर्थात् क्षत्रिय होगये ॥ ११ ॥

गोभ्यो वृत्ति समास्थाय पीताः कृष्युपजीविन. स्वधर्मान्नान्वति ष्ठन्त्येतेद्विजाः वैश्यतां गतां ॥१२॥

अर्थ—जे गोओं से (गाय और बैलोंसे) वृत्तिको धारण करके रजोगुण तमोगुण युक्त हुये खेती व्यापार से जीविका करने लगे अपने ब्राह्मधर्मों अर्थात् गुणों को छोड़ दिया व वैश्यता को प्राप्त हुये अर्थात् वैश्य हो गये ॥१२॥

हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धा सर्वकर्मोपजीविनः कृष्णा. शौचि परि भ्रष्टास्ते द्विजा. शूद्रतां गत' ॥१३॥

अर्थ—जिनको हिंसा करना झूठ बोलना प्रिय हुआ लोभी हुये और सब

› इन श्लोकों में क्षत्रिय को रक्ताङ्ग वैश्य को पीत शूद्र को कृष्ण होना लिखा है जिसका साधारण अर्थ लालरंग के आजाने १ पीले व २ काले के होते हैं अर्थात् क्षत्रिय का रंग लाल वैश्य का पीला शूद्र का काला लिखा है परन्तु ऐसा होना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है इससे हमने रक्त का अर्थ रजोगुण युक्त क्षत्रिय रजोगुण व तमोगुण -युक्त वैश्य और तमोगुण व पापयुक्त शूद्र यह अर्थ लिया ० तमोगुण का रंग कृष्ण अन्यत्र भी श्रुति में वर्णन किया गया है और कृष्ण शब्द पाप का भी वाचक होता है

कर्मोंसे विना विचार के जीविका करने लगे पाप आचरण करने वाले हुये पवित्रता से भ्रष्ट हुये वे ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त हुये ॥ १३ ॥ और अधिक इसका व्याख्यान आगे के अध्याय अर्थात् १८९ में देखना चाहिये ॥

मूलगोत्राणि चत्वारिसमुत्पन्नानि पार्थिव अङ्गिर कश्यपश्चैव वशिष्ठो भृगुरेवच ॥ शान्ति पर्व में पराशर जीने राजा जनक से यह वर्णन किया है। अध्याय २९६ श्लो० १७

अर्थ—हे राजन् मूल गोत्रचार उत्पन्न हुये हैं अङ्गिरा १ कश्यप २ वशिष्ठ ३ भृगु ४ इनहीं चार गोत्रों से कर्म से सब गोत्र व वर्ण पीछे से हुये हैं जैसा कि आगे वर्णन किया है ॥

कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव ॥ १८ ॥

हे राजन कर्म से अर्थात् कर्म अनुसार अन्य गोत्र उत्पन्न हुये हे इस कथन से कि अङ्गिरा आदि चार ब्राह्मण वर्ण ऋषि मुनियों के मूल गोत्रों से सब वर्ण हुये हैं यही सिद्ध होता है कि प्रथम ब्राह्मण ही वर्ण हुआ पीछे गुण कर्मों के भेद से अनेक वर्ण भेद होगये हे ॥

महाभारत के अनुशासन पर्व में अध्याय १४३ में श्री महादेव जी ने पार्वती जी से धर्म कर्मों को वर्णन करके फिर ऐसा वर्णन किया है

ऐते.कर्मफलैर्देविन्यूनजातिकुलोद्भव. शूद्रोऽप्यागम सम्पन्नो द्विजोभवति संस्कृतः ॥४६॥

अर्थ—हे देवि (पार्वति) इन कर्म फलों से (इन पहिले वर्णन किये हुये कर्म फलों से) न्यून जाति कुल में उत्पन्न हुआ शूद्र भी वेद पढ़ा हुआ संस्कार कोप्राप्त हुआ ब्राह्मण होता हे अर्थात् ब्राह्मण के समान होता हैं ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणोऽप्यसद्वृत्तस्त सर्वसंकर भोजनः ब्राह्मण्यं समुत्सृज्य शूद्रो-भवति तादृशः ॥४७॥

अर्थ—ब्राह्मण भी दुराचारी भक्ष्याभक्ष्य भोजन करने वाला वैसा ही ब्राह्मणता को त्याग कर शूद्र हो जाता है

कर्मभिश्शुचिभिर्देविशुद्धात्माविजितेन्द्रिय. शूद्रोऽपिद्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत्स्वयं ॥४८॥

अर्थ—हे देवि शुचि (पवित्र) कर्मों से जो शूद्र शुद्धात्मा व इन्द्रियजित है वह शूद्र भी ब्राह्मण के समान सेवा करने योग्य है ऐसा ब्रह्मा जी ने आप ही कहा है ॥ ४८ ॥

स्वभावः कर्मचशुभं यत्र शूद्रेपि तिष्ठति विशिष्ठ. सद्विजातेर्वै विज्ञेय इति मेमतिः ॥४९॥

अर्थ—जिस शूद्र में उत्तम स्वभाव व उत्तम कर्म होते है-वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ जानने योग्य है ऐसी मेरी मति है ॥ ४६ ॥

नयोनिर्नापि संस्कारो न श्रुतिर्नच सन्ततिः कारणानिद्विजत्व-स्य वृत्तमेवतु कारणम् ॥५०॥

अर्थ—न योनि (ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न होना) न संस्कार (यज्ञोपवीत होना) न श्रुति (वेद पढना व सुनना) न सन्तति (ब्राह्मण कुल में ब्राह्मण की सन्तति होना) इन में से एक भी ब्राह्मण होने के कारण नहीं हैं केवल आचरण ही ब्राह्मण होने में कारण है ॥ ५० ॥

सर्वोऽयंब्राह्मणोलोकेवृत्तेनतुविधीयते वृत्ते स्थितस्तुशूद्रोपिब्राह्मणत्व नियच्छति ॥५१॥

अर्थ—लोक में सब यह ब्राह्मण आचरण ही से विधान किये जाते हैं (शास्त्र से ब्राह्मण होने योग्य कहे जाते हैं) इस से शूद्र भी जो ब्राह्मण के आचरण में प्रवृत्त हो तो वह ब्राह्मणता को प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

एतत्तेगुह्यमाख्यातंयथा शूद्रोभवेद्द्विज. ब्राह्मणो वाच्युतो धर्माद्यथा शूद्रत्वमाप्नुते ॥५९॥

अर्थ—जिस प्रकार से शुद्र ब्राह्मण होता है और धर्मसे पतित ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है यह गुह्य भेद मैंने तुमसे वर्णन कर दिया ॥ ५६ ॥

इस वर्णन में श्री महादेव जीने ब्रह्मा जी की और अपनी सम्मति में कर्म से ,शूद्र का ब्राह्मण होना और श्रेष्ठ होना वर्णन किया है इन से श्रेष्ठ किसी की सम्मति नहीं हो सकती है इससे निश्चित सिद्धान्त मान कर ग्रन्थ समाप्त करते हैं यदि इसका व्याख्यान बढाया जाय तो और भी अधिक हो सक्ता है परन्तु अधिक की अब आवश्यकता नहीं है ॥ अब यह भी जानना आवश्यक है कि ब्राह्मण आदि के गुण व कर्म क्या हैं जिनसे ब्राह्मण आदि वर्णों के भेद होते हैं ब्राह्मण आदि के गुण व कर्मों को श्री शुक्राचार्य जी ने शुक्र नीति नामक ग्रन्थ में इस प्रकार से वर्णन किया है ॥

ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधनेरता शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणौ कृत. ॥ शुक्रनीति अध्या० १ श्लो० ४०

अर्थ—ज्ञान कर्म-और उपासना से जो परमेश्वर देवता के आराधन में रत

हो शान्त दान्त (इन्द्रियों का दमन करने वाला) और दयालु हो वह इन गुणों से किया गया ब्राह्मण होता है अर्थात् ये गुण उसको ब्राह्मण बनाते हैं आशय यह है कि इन गुणों से वह ब्राह्मण होता है ॥ ४० ॥

लोकसंरक्षणे दक्षश्शूरो दान्तः पराक्रमी । दुष्टनिग्रहशीलोयः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—लोक की रक्षा करने में चतुर शूरवीर दान्त (इन्द्रियों को दमन करनेवाला) पराक्रमी दुष्टों को दण्ड देनेवाला जो मनुष्य हो उसको क्षत्रिय कहते हैं ॥ ४१ ॥

क्रय विक्रय कुशला ये नित्यं पण्यजीविनः पशुरक्षा कृषिकरास्ते वैश्या कीर्तिता भुवि ॥ ४२ ॥

अर्थ—लेन देन में कुशल, व्यवहार है जीवन जिसका और जो पशुओं की रक्षा करनेवाले खेती करनेवाले हैं वे पृथिवी में वैश्य कहे जाते हैं ॥ ४० ॥

द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ताजितेन्द्रियाः सीरकाष्ठतृणवहास्ते नीचाः शूद्रसञ्ज्ञकाः ॥ ४३ ॥

अर्थ—ब्राह्मण की सेवा और पूजन में तत्पर शूर शान्त* जितेन्द्रिय हल काष्ठ और तृण के लेजानेवाले जो नीच प्राणी हैं वे शूद्र नाम से कहे जाते हैं ४३ गीता व मनुस्मृति में ऐसा लिखा है ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनयाजनं तथा दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु० अध्याय १० श्लो० ७५

शमो दमस्तप शौचं क्षान्तिरार्जमेवच । ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ भगवत गीता अध्या० १८ श्लो० ४२ ॥

अर्थ—पढाना पढना (वेद को पढाना व पढना) यज्ञ को करना व कराना दान देना और दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मणों के कहे गये हैं ऐसा मनु जी ने कहा है परन्तु यह भी कहा है ॥

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ॥

अर्थ—दान लेना नीच कर्म है शम अर्थात् मन को शान्त रखना अधर्म

* यहां शान्त व जितेन्द्रिय कहने का तात्पर्य इतना ही ग्राह्य है कि सेवा करने में क्रोध रहित होना व भूख पियास आलस्य वश न होकर सेवा व पूजन में तत्पर रहना यही शान्त व इन्द्रियजित होना है अन्यथा यथार्थ शान्त व जितेन्द्रिय नीच नहीं माना जा सकता ॥

में प्रवृत्त न होने देना (दम) नेत्र आदि इन्द्रियों को रूप आदि विषयों में आसक्त न होने देना (तप) जितेन्द्रिय हो कर चान्द्रायण आदि व्रत करना ब्रह्मचारी होना (शौच) स्नान आदि से शरीर को और सत्य बोलने से व रागद्वेष मोह से रहित हो मन को शुद्ध रखना (क्षान्ति) क्षमा करना (आर्जव) कोमलता सरलता चित्त में रखना (ज्ञान) आत्मा परमात्मा व वेद आदि शास्त्रों का जानना (विज्ञान) जो ज्ञान वेद आदि के पढ़ने से हुआ है उसको यथार्थ अपने हृदय में अनुभव करके निश्चय करना (आस्तिक्य) वेद और ईश्वर में दृढ़ विश्वास रखना ये ब्रह्म कर्म हैं जो स्वभाव से उत्पन्न होते हैं जिनमें ये कर्म हों वही ब्राह्मण है। स्वभाव से उत्पन्न कहने का आशय यह है कि जो स्वभाव से अर्थात् अन्तःकरण से स्वत शम दम आदि ब्रह्म कर्म में श्रद्धा व प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वह यथार्थ ब्रह्म कर्म है यदि देखाव व प्रतिष्ठा मात्र के लिये है तो वह ब्रह्म कर्म नहीं है अथवा पूर्व संस्कार से पुरुष विशेषों में ये कर्म स्वभावज होते हैं वे ब्राह्मण हैं ऐसे ही क्षात्र कर्म आदि से स्वभावज शब्द का अर्थ ग्रहण करने योग्य है किसी वर्ण में उत्पन्न हुये में वर्ण के उक्तकर्म व धर्म स्वभावज नहीं होते इससे उत्पन्न मात्र में सब में स्वभावज मन्तव्य नहीं है प्रत्यक्ष से असिद्ध है॥

प्रजानांरक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्यसमासतः ॥ १ ॥ मनु० अध्या० १ श्लोक ८९

शौर्यंतेजोधृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम् दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ गी० अ०१८ श्लो० ४३

अर्थ—प्रजाओं की रक्षा करना दान देना यज्ञ करना वेद आदि शास्त्रों का पढ़ना विषयों में न फसना धर्मयुक्त रहना क्षत्रिय के धर्म हैं॥ ८९॥

शूरता अर्थात् वीरतायुक्त होना किसी से न डरना तेजस्वी होना धैर्यवान् होना चतुर होना युद्ध में निःशङ्क रह कर न हटना दान देना प्रजाओं को अपने वश में रखना ये क्षत्रिय के कर्म क्षत्रिय के स्वभाव से होते हैं अर्थात् जिसको पूर्व संस्कार से क्षत्रियपन की वासना है उसमें ऐसे क्षत्रिय के गुण व कर्म स्वभाव से होते हैं॥ ४३॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच वणिकपथं कुसीदञ्चवैश्यस्य कृषिमेवच ॥ ९० ॥

अर्थ—पशुओं की रक्षा करना अर्थात् गौ आदि पशुओं का पालना बढ़ाना दान देना (इज्या) अग्नि होत्र आदि यज्ञ करना वेद आदि शास्त्रों का पढ़ना (वणिक पथ) सब प्रकारके व्यापार करना (कुसीद) व्याज लेना अर्थात् उधार दिये हुये धन में व्याज लेना खेती करना ये वैश्य के गुण कर्म हैं वैश्य के लिये

देकर धन के लेने और व्याज के ग्रहण करने में धर्मशास्त्र में यह नियम है कि चार आने से लेकर बीस आने सैकड़े तक व्याज लेवें इससे अधिक और व्याज सहित द्विगुण होने तक ऋणी से धन लेवे अधिक न लेवें अ एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपया से अधिक न लेवें ॥

गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् परिचर्यात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ गीता अध्याय १८ श्लोक ४४

अर्थ—खेती करना गौओं का पालना वाणिज्य (सौदागरी व्यापार करना) वैश्यकर्म स्वभाव से उत्पन्न होते हैं अर्थात् वैश्यके स्वभाव से होते हैं ब्राह्मण आदि तीन वर्णों की सेवा करना शूद्र का कर्म है यह शूद्र के स्वभाव से होता है।

इति श्रीतत्वमार्तण्डेश्रीस्वामिप्रभूतानन्दनिर्मिते वर्णव्यवस्थाविषयेएकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ पुराण प्रामाण्य समीक्षा पूर्वकशेषादि शब्द विशेषानां ब्रह्मवाचकत्ववर्णन विषयः ॥

अब इस ग्रंथ को समाप्त करने से पूर्व यह विज्ञापनीय है कि पुराणों के लेख से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि पुराण अयुक्त असंभव गाथाओं और पूर्वापर तथा परस्पर विरुद्ध व्याख्यानों से युक्त हैं ऐसे होने पर भी प्राय पौराणिक पण्डित पुराणों को सर्वथा मन्तव्य और निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं जैसे अष्टादशपुराणदर्पण नामक ग्रंथ के निर्माता पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र जी ने उक्त ग्रंथ में बड़ी बुद्धिमत्ता व्यय करके पुराणों को वेदानुकूल प्रमाण के योग्य प्राचीन होना वर्णन किया है परन्तु इसके साथ ही आप ही जहां किसी वर्णन का सत्य होना सिद्ध करने के लिये कोई हेतु व प्रमाण बुद्धिगत नहीं हुआ वहाँ पुराणों में प्रक्षिप्त अंश का होना लिखा है और उपोद्घात में भी यह लिखा है कि यदि पुराणों में आधुनिक प्रसङ्ग पाये जाय जो पुराण कर्ता के समय के न हों तो उसके प्रक्षिप्त होने में सन्देह नहीं है कारण कि इस समय एक तो पुराण पूर्ण स्थिति में नहीं मिलते दूसरे किसी २ स्थल में सम्प्रदाय के पक्षपातियों ने

अनुचित मेल कर निष्पक्षपात महात्माओं की बुद्धियों में पुराणों के गौरव में बड़ा विघ्न उपस्थित कर दिया है ॥

इससे अयुक्त व्याख्यानों का पुराणों में होना ग्रंथ निर्माता ही के लेख से सिद्ध है और यह भी विचारनेके योग्य है कि एक ही पुराण के श्लोकों का परिमाण और क्रम अन्य अन्य पुराणों में जो एकही व्यास कर्ता से निर्मित कहे जाते हैं भिन्न २ संख्या व भेद से लिखे हैं और एक ही पुराण के भिन्न पुस्तकों में श्लोक अध्याय और कथाओं में भी न्यून अधिक होने का भेद है जिसको स्पष्टता के साथ अष्टादशपुराणदर्पण में ग्रंथ निर्माता ने लिखा है यथा भविष्य पुराण को लिखा है कि हम चार प्रकार के भविष्यपुराण पाये हैं उक्त ग्रंथ के देखने से यह विदित होता है कि चारो प्रकार के भविष्य में भिन्नप्रकार से आरंभ में और कथाओं में भेद तथा संख्या और क्रम में भेद है नारदीय पुराण के मत से अर्थात् नारदीय पुराण के लेखानुसार भविष्य पुराण १४००० ब्रह्मवैवर्त के अनुसार १४५०० मत्स्य-पुराण के लेखानुसार १८५०० श्लोक हैं कई पुराणों में सब पुराणों की श्लोक संख्या नहीं है इससे भविष्य के श्लोकों की संख्या नहीं लिखी चार प्रकार के भविष्य पुराण जो अष्टादशपुराणदर्पण में लिखे हैं उनमें से द्वितीय भविष्य के प्रथम अध्याय में भविष्यपुराण की संख्या ५०००० है इसी प्रकार से अन्य पुराणों में भी भेद है भविष्य में अधिक भेद है स्वयं भी प० ज्वालाप्रसाद जीने लिखा है कि इस भविष्यपुराण को लेकर बड़ा भारी गोलमाल है परन्तु पुराणों में भेद होने का समाधान इस प्रकार से वर्णन किया है कि कल्पान्तर में भिन्न प्रकार से पुराणों को व्यास जीने रचा है इससे इस कल्प और अन्य कल्प के भी कोई कोई पुराणों के पुस्तक मिल जाने से एक ही पुराण के भिन्न प्रकार और संख्या के ग्रंथ मिलते हैं । यह उत्तर सर्वथा निर्मूल और हास्य के योग्य है सब पदार्थों के नाश होने पर अन्य कल्प के ग्रंथों का रहना कैसे संभव है ग्रन्थों के न रहने का एक यह प्रमाण है कि वेद जो अनादि और ईश्वरवाणी है उसकी जो शाखायें लुप्त हो गई हैं वे नहीं मिलतीं पुराण के कल्पान्तर के ग्रंथ कैसे रह सक्ते हैं एक ही बनाने वाले को अपनेही बनाये हुए ग्रन्थ में अपने बनाये हुये ग्रंथ के परिमाण संख्या और क्रम लिखने में भ्रम नहीं हो सक्ता अन्यथा लेख होने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रचरित पुराण व्यास जी वा अन्य किसी एक के बनाये नहीं हैं मतवादियों सम्प्रदायियों ने पुराणों को बनाया है जिसने किसी पुराणों को जितना पहिले बनाया उतना अपने बनाये हुये पुराणों में लिख दिया पीछे जब किसी ने और अधिक बढ़ा दिया उतना उसमें अधिक हो गया भविष्य में अधिक भेद होने का कारण यह है कि पृथ्वीराज का तथा यमन राजाओं का आगमन उनका राज्य करना उनके नाम आदि का वर्णन आधुनिक वृत्तान्त और अन्य वर्णन जो भविष्य लेख भविष्य पुराण के गौरव के लिये उचित ज्ञात हुआ है वह उसमें पूर्व से लिखित होने के प्रमाण होने के लिये लिख दिया है और ग्रन्थ के प्राचीन होने के लिये बहुत पूर्वकाल

का सम्वत् ग्रन्थ के लेख का अपने लेख में रख दिया है इससे एक में लेख अधिक होगया जिसमें न लिखा गया उसमें रह गया। अब इस विषय की समीक्षा की जाती है कि पण्डित ज्वालाप्रसाद जी ने पुराणों में वर्णित कूर्म वराह आदि अवतारों का होना तथा ब्रह्मा विष्णु महादेव का ब्रह्म होना ब्रह्मा विष्णु महादेव ये नाम शतपथ ब्राह्मण तैत्तिरीय संहिता तथा ऐतरेय छान्दोग्य उपनिषद् के वाक्यों में आने से सिद्ध किया है और पुराण शब्द का प्रयोग उपनिषद् और अन्य आर्ष ग्रन्थों में उपलब्ध होने से प्राचीन काल में पुराणों का होना और वेदमूलक होना प्रतिपादन किया है और यह लिखा है कि पुराण संहिता एक थी उसके अनेक भाग व्यास जी ने किया है और पुराण का यह लक्षण वर्णन किया है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणिच वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

अर्थ—सृष्टि पुनः सृष्टिप्रलय पूर्व में हुओं के वंश का मन्वन्तरों का अर्थात् किस मनु का कितने काल तक अधिकार रहा और वंश में हुये ऋषियों और राजाओं के आचरणों का वर्णन पुराण के यह पाच लक्षण हैं। यह सत्य है कि पुराण शब्द ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषद् ग्रंथों में मिलता है सायणाचार्य ने जो ऐतरेय ब्राह्मण के उपक्रम में और शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में यह लिखा है कि इतिहास पुराण पौरुषेय हैं अर्थात् सत्पुरुष मनुष्यों से रचित हैं इससे सत्य मूल रूप कोई अन्य प्रमाण मिलने पर मन्तव्य हैं स्वतः प्रमाण नहीं हैं अर्थात् वेद शास्त्रानुकूल होने पर मन्तव्य हैं इस लेख को अष्टादशपुराणदर्पण के उपोद्घात में ग्रंथ निर्माता ने इस आशय से लिखा है कि शङ्कराचार्य और सायणाचार्य ने भी वेद मूलक होने का प्रमाण मिलने से पुराण भी मन्तव्य हैं यह लिखा है और पुराण वेद मूलक है उक्त आचार्यों के लेख को हम स्वीकार करते हैं पुराण के लक्षणमें वर्णित सृष्टि आदि पाच प्रकार के सत्य व्याख्यानों से युक्त पुराण शब्दसे वाच्य किसी ग्रंथ का होना मन्तव्य हो सकता है व्यासजीने उसके विभाग किये वे ही अठारह पुराण हुये इस के स्वीकार करने में भी कुछ हानि नहीं है और न थी यदि वर्तमान में जो पुराण ग्रंथ हैं वह यथार्थ पुराण के लक्षण से युक्त वेद शास्त्रानुकूल होने के प्रमाण से सत्य निश्चित होते परन्तु वर्तमान में प्रचरित पुराण ग्रंथों में किसी अंश में पुराणके उक्त लक्षण मिलते हैं और उनके अधिक अंश में अन्य विरुद्ध पाच लक्षण पाये जाते हैं जिस से यह अमन्तव्य निश्चित होते हैं वह वर्तमान असत्यपुराणके लक्षण यह हैं॥

विप्रतिपत्तिरयुक्तत्व मिथ्यागाथात्वैवच असंभवताऽप्रमाणत्व पुराणंपञ्च लक्षणम् ॥

अर्थ—(विप्रपत्ति) एकही विषय में दो प्रकार का विरुद्ध वर्णन (अयुक्तत्व) हेतुपूर्वक यथार्थ प्रतीत न होना असत्य कथा (असंभवता) जिसका होना संभव न हो (अप्रमाणत्व) जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा वेद शास्त्र के अनुसार

न होना ये पुराण के पांच लक्षण हैं क्योंकि वर्तमान पुराणों में यह लक्षण पाये जाते हैं यथा भागवत के द्वितीय स्कंध में विष्णु जी ने सृष्टि होने के समय में ब्रह्मा को यह वरदान दिया है ॥

भवानकल्पविकल्पेषु न विमुह्यतिकर्हिचित ॥

अर्थ-आप कल्प सृष्टि और विकल्प प्रलय में कभी मोह को न प्राप्त होंगे ऐसा लिख कर भागवत के बनानेवाले ने फिर दशमस्कंध में लिखा है कि ब्रह्मा मोहित हो कर वत्स हरण किया इन दोनों पूर्वापर विरुद्ध वर्णन की गई कथाओं में से एक सत्य और दूसरी असत्य होगी अथवा दोनों का असत्य होना संभव है ऐसे विरुद्ध कथन को जिसमें दो में से एक का निश्चय न हो विप्रतिपत्ति कहते हैं भागवत में लिखा है कि प्रजापति की तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से हुआ और उनमें से दिति नामक कन्या से दैत्य दनु से दानव अदिति से आदित्य विनिता से पक्षी कद्रू से सर्प उत्पन्न हुये इसी प्रकार से किसी से कुत्ते स्याल किसी से घोड़े ऊंट गधे आदि किसी से घास फूस वन्धुर पीपर आदि वृक्ष और लता आदि उत्पन्न हुये यह असंभव है क्योंकि मनुष्य पुरुष व स्त्री के रजोवीर्य से मनुष्य जाति की व्यक्ति के उत्पन्न होने का नियम है दैत्य पक्षी व वनस्पतियों का परमेश्वर के नियम विरुद्ध होने तथा स्त्री के उदर में सहस्त्रों वृक्षों और वनस्पतियों के सूक्ष्म रूप से भी रहने का अवकाश होना और उससे उत्पन्न होना सभव न होने से असम्भव है तस्मात्काश्यप्यइमाः प्रजाः अर्थ-यह प्रजा कश्यप से उत्पन्न हुई है इस वाक्य का तत्वार्थ न समझने से पुराण में मिथ्या प्रलाप रूप असंभव कथा का वर्णन है महाभाष्य के अनुसार पश्यक शब्द का भी वर्णविपर्यय होने से कश्यप होजाता है पश्यतीति पश्यकः इस प्रकार से व्युत्पत्ति करने से पश्यक का अर्थ देखने वाला ज्ञाता का होता है और यही कश्यप शब्द का अर्थ है अर्थात् सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ परमात्मा का नाम कश्यप है उसने अपनी परम शक्ति से सब सृष्टि को उत्पन्न किया है उक्त वाक्य में कश्यप का अर्थ कश्यपऋषि का नहीं है उक्त वाक्य शतपथ ब्राह्मण का है उसके यथार्थ आशय को न समझकर भ्रम को प्राप्त होकर मिथ्या कथन किया है। देवी भागवत में देवी का ब्रह्मा आदि पुत्रों को उत्पन्न करना और फिर अपने ही पुत्रों को अपने साथ व्यभिचार करने और अपनी स्त्री बनाने की आज्ञा देना और अधर्मरूप आज्ञापालन न करने में क्रोध करके उनको भस्म कर देने आदि की कथा अयुक्त है इससे अमन्तव्य है और वेद द्वारा जिस परमेश्वर ने धर्म को उपदेश किया है उसका जालंधर का रूप धर कर छलकर जालंधर की स्त्री के पतिव्रत को भंग करना बुद्धिमान धर्मात्मा के मानने योग्य नहीं है क्योंकि छल कपट करना अधर्म में प्रवृत्त होना सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ परमात्मा का कर्म नहीं हो सकता इससे अप्रमाण है। प्रह्लाद के इस वर मांगने पर कि मेरे पिता की सद्गति हो प्रह्लाद को, नृसिंह

रूपधारण किये हुये नारायण ने भागवत में वर्णन किये जाने के अनुसार यह वर-दान दिया है कि तेरे इक्कीस पुरुषे सद्गति को प्राप्त हुये अर्थात् एक पिता की सद्गति के लिये तुम क्यों मांगते हो तुम्हारी भक्ति के प्रभाव से २१ पुरुषे तर गये। सनकादिकों ने जब जय और विजय को वैकुंठ में दैत्य वा राक्षस होने का शाप दिया था तब तीसरे जन्म के अन्त में वैकुंठ में आने का वरदान दिया था उसके विरुद्ध नारायण ने इक्कीस पुरुषे तरने को कह दिया इससे विदित होता है कि नृसिंह रूप नारायण उक्त वृत्तान्त को भूल गये और मिथ्या कथन किया क्योंकि भागवत ही के लेख से ब्रह्मा १ प्रजापति २ कश्यप ३ हिरण्याक्ष हिरण्यकश्यप ४ क्रम से उत्पन्न होने में हिरण्यकश्यप चौथी ही पीढ़ी में होता है जब चार से अधिक पीढ़ी नहीं हुई थी तो २१ पुरुषे कहांसे तरे इक्कीस पुरुषों (पुरुखों) का तरना कहना ही मिथ्या था इक्कीस पुरुषों का तरना तो मिथ्या ही है जिस के लिये प्रह्लाद ने वर मांगा वह हिरण्यकश्यप ही नहीं तरा अर्थात् सद्गति को नहीं प्राप्त हुआ क्योंकि हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप ही रावण और कुम्भ करण पुनः शिशुपाल और दन्तवक्र हुये हैं ऐसा लिखा है इसमें नारायण का कथन और वरदान का सर्वथा मिथ्या होना सिद्ध होता है इससे असत्य मन्तव्य है॥

शिवपुराण में जैसा पूर्वही वर्णन किया गया है जिस ब्रह्मा को महादेव ने सृष्टि उत्पन्न करने को उत्पन्न किया वह सर्वत्र जलमय देखकर अञ्जुली में जल उठा कर जल में पटका उससे बुदबुदा उठा उस बुदबुदे में से एक पुरुष उत्पन्न हुआ जो विष्णु नाम से प्रसिद्ध हुआ वह उत्पन्न हुआ ब्रह्मा से कहा कि हे पुत्र सृष्टि उत्पन्न कर ब्रह्मा ने कहा मैं तेरा पुत्र नहीं हूं तू मेरा पुत्र है इसी प्रकार परस्पर दोनों विवाद करके लड़ने लगे दोनों दिव्य सहस्र वर्ष तक लड़ते रहे जब महादेव ने देखा कि इन को मैंने सृष्टि करने को उत्पन्न किया ये लड़ झगड़ रहे हैं तब एक तेजोमय लिङ्ग उत्पन्न किया जो आकाश और पाताल की ओर बढ़ गया महादेव ने ब्रह्मा और विष्णु से कहा कि तुम दो में से जो कोई इस लिंग का अन्त लेकर पहिले लौटकर मेरे पास आवेगा वही पिता दूसरा पुत्र होगा विष्णु पाताल को ब्रह्मा आकाश को अन्त लेने को गये विष्णु अन्त को न पाकर आकर सत्य सत्य कह दिया कि मैं अन्त नहीं पा सका ब्रह्मा ने भी अन्त नहीं पाया परन्तु इस सोच में हुये कि विष्णु अन्त ले आया होगा तो मुझे पुत्र बनना पड़ेगा उसी समय एक गाय और केतकी का वृक्ष आकाश से ब्रह्मा ने उतरते देखा उनसे पूँछा तुम कहां से आये उन्होंने कहा सहस्र वर्षों से इस लिंग के आधार से चले आते हैं ब्रह्माने पूँछा इसका अन्त है उन्होंने कहा नहीं ब्रह्मा ने उनसे झूँठीसाक्षी देनेको कहा प्रथम उन्होंने नहीं माना ब्रह्मा ने उनको भस्म करदेने का भय दिखलाया तब दोनों झूँठी साक्षी देना स्वीकार किया ब्रह्माने आकर कहा कि कि मैं अन्त ले आया और गाय और केतकी के वृक्ष ने अन्त ले आने की साक्षी दी कि हम लिङ्ग के अन्त में थे ऐसा मिथ्या

कथन करने से लिंग में से शब्द निकला प्रथम वृक्ष को शाप दिया कि तेरा पुष्प किसी देवता पर न चढ़ाया जायगा जो चढ़ावैगा वह नष्ट हो जायगा गाय को शाप दिया कि झूँठ बोले हुये मुखसे तू विष्ठा खायगी ब्रह्मा को शाप दिया झूँठ बोलने से तू अपूज्य होगा तेरी पूजा न की जायगी। विष्णु पर प्रसन्न हो कर वर दिया कि तू सर्वत्र पूज्य होगा। फिर सृष्टि की रचना के लिये जब महादेव ने कहा तब ब्रह्मा विष्णु ने कहा कि हम विना सामग्री सृष्टि को कहाँ से करे 'तब महादेव अपने जटा से भस्म का गोला निकाल कर दिया और कहा इसमें से सृष्टि बनाओ इत्यादि इस शिवपुराण के बनाने वाले की अज्ञानता को देखिये कि सृष्टि उत्पन्न करने के लिये ब्रह्मा विष्णु को उत्पन्न करना वर्णन किया है और गाय जल कमल केतकी के वृक्ष का होना भी वर्णन किया है पञ्चभूत और सृष्टि न होती तो केतकी का वृक्ष गाय का शरीर कहासे होते एक ही साथ ऐसा वर्णन करने में जिसको विरुद्ध और अयुक्त कथनका ज्ञान नहीं है और ब्रह्मा व विष्णु का युद्ध कहे जाने पर एक दूसरे से सहस्रों वर्ष पर्य्यन्त लड़ना आदि बालकों की ऐसी बुद्धि व क्रीडा का अयुक्त कथन करना किसी बुद्धिमान का वर्णन किया हुआ मन्तव्य नहीं हो सकता फिर परम विद्वान् व्यासका कथन इस प्रकार का कैसे हो सकता है यद्यपि इसका वर्णन प्रथम होगया है परन्तु प्रसङ्ग से अयुक्तता प्रदर्शन के लिये पुनर्वार लिखा गया है उक्त प्रकार के सहस्रों निर्मूल मिथ्या गाथाओं का कोई समाधान करे तो हम समझैं कि वह बुद्धिमान है और पुराणों को निर्दोष सिद्ध कर सकता है अन्यथा अज्ञानियों को वागजाल में फासने और मोहित करने से पुराणों का प्रमाण के योग्य होना सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वोक्तानुसार इन दोषों से रहित शुद्ध किये जानेपर पुराण मन्तव्य हो सकते हैं परन्तु ये पुराण न रहेंगे जन्मान्तर को धारण करेंगे। ब्रह्मा विष्णु महादेव कृष्ण राम कूर्म आदि नाम किसी आर्ष ग्रंथमें आने से परमात्मा का अवतार होना सिद्ध नहीं हो सकता यदि कोई शरीरधारी विष्णु के अवतार भी माने जावें तो वह परमात्मा ब्रह्म के अवतार नहीं माने जा सकते क्योंकि योग दर्शन में पतञ्जलि मुनि न ब्रह्माविष्णु से परमात्मा ईश्वर की विशेषता विज्ञापन के लिये ऐसा वर्णन किया है॥

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ यो० पा० १ सूत्र २६॥

अर्थ—पूर्व वालों का अर्थात् पूर्व में जो ब्रह्मा विष्णु, महेश क्लेश कर्मविपाक आशयों से रहित उत्कृष्ट सामर्थ्य वाले हुये हैं उनका भी जो गुरु है अर्थात् उनसे श्रेष्ठ है वह परमात्मा ईश्वर है क्यों ईश्वर ब्रह्मा आदिकों का गुरु है काल का अवच्छेद अर्थात् काल की मर्य्यादा का भेद न होने से अर्थात् ब्रह्मा आदि उत्पन्न होते हैं और प्रलय में नाश को प्राप्त होते है इससे काल की मर्य्यादा से रहित नित्य नहीं हैं परमात्मा ईश्वर नित्य सर्वज्ञ जन्म व कर्म बंधन से रहित सब से श्रेष्ठ है इससे ब्रह्मा आदि का गुरु है परन्तु ब्रह्म दृष्टि करके विष्णु व राम आदि

की उपासना करने व ब्रह्मरूप या ब्रह्म के अवतार मानने के विषय आशय विशेष से पूर्व ही वर्णन कर दिया है एक ही शब्द विशेष के अनेक अर्थ होते हैं इस से ब्रह्मा विष्णु महादेव कूर्म शेष आदि में से कोई शब्द मात्र किसी मन्त्र ब्राह्मण और उपनिषद् वाक्य में होने से यह प्रमाण देना कि ब्रह्मा के ब्रह्म आदि होने का अथवा अवतार होने का प्रमाण होता हैं भ्रम मात्र है वेदान्त सूत्रों में व्यास जी ने जिन उपनिषद् वाक्यों में ज्योति मन प्राण शब्द वाच्य उपास्य की उपासना का वर्णन है उनमें ज्योति आदि शब्द से युक्ति व हेतु से ब्रह्म परमात्मा ही के अर्थ ग्रहण करने व उपास्य होने का निर्णय किया है ज्योति से भौतिक सूर्य आदि के ज्योति तथा मन आदि शब्दसे मन आदि के अर्थ ग्रहण करने का निषेध किया है ब्रह्मा विष्णु या किसी अवतार की उपासना का वर्णन वेदान्त दर्शन में जो उपनिषद् वाक्यों के निर्णय के लिये व्यास जी ने बनाया है व्यास जी ने नहीं किया ब्रह्मा विष्णु आदि तथा कूर्म वराह आदि शब्दों का अर्थ उपास्य होने के विषय में और ब्रह्म से भिन्न जो गुण व कर्म अन्य में सम्भव नहीं हो सकते ऐसे स्थल में सब ब्रह्म परमात्मा ही के नाम परमात्मा वाचक ग्रहण किये जाते हैं जब तक चार भुजा युक्त शरीरधारी वैकुण्ठ वासी का वर्णन न हो तब तक विष्णु शब्द से शरीरधारी वैकुण्ठवासी का अर्थ तथा विना सर्पों को धारण किये पंचशिर वाले कैलाशवासी के विशेषण महादेव शब्द से कैलाशवासी महादेव का अर्थ मन्तव्य नहीं हो सकता शब्द का अर्थ इच्छा अनुसार विना विचार ग्रहण किया जावे तो हरि शब्द सिंह वानर विष्णु का वाचक है जहा सिंह के अर्थ में हरि शब्द प्रयुक्त हो वहा वानर का अर्थ ग्रहण करने में वाक्य का अर्थ असङ्गत हो जायगा इससे बुद्धि से जहा जो अर्थ घटित होना विदित होता है वहां वही अर्थ ग्रहण किया जाता है। अज्ञता से शब्दों के अर्थ के भ्रम में प्राप्त हो पुराणों की रचना करने वालों ने बहुत अनर्थ और असंगत व्याख्यानों को किया है उपलक्षण मात्र के लिये एक उदाहरण लिखते हैं ब्राह्मण ग्रंथ में एक स्थल में सूर्य के उदय होने में दिन होने को अलङ्कार रूप से ऐसा वर्णन है प्रजापति ने अपनी कन्या में वीर्य को छोडा उससे पुत्र उत्पन्न हुआ इस गूढाशय का व्याख्यान यह है कि प्रजा पालन में अधिकार होने से अर्थात् वर्षा का कारण सूर्य होने से वर्षा प्रकाश और ऊष्णता द्वारा अनेक प्रकार से प्रजाओं (उत्पन्न प्राणियों) का पालन करने से प्रजापति शब्द का अर्थ सूर्य्य है उष काल सूर्य्य ही के प्रकाश से उत्पन्न होता है इससे उषा को कन्या कल्पना किया है उसमें प्रजापति (सूर्य) ने वीर्य को छोडा वीर्य नाम किरण का है अर्थात् किरणों को छोडा उससे उसका (सूर्य का) पुत्र दिन उत्पन्न हुआ इस अलङ्कार को न विचार कर प्रजापति शब्द का अर्थ ब्रह्मा ग्रहण करके पुराण में ब्रह्मा का अपनी कन्या में मोहित होकर व्यभिचार करने में उद्यत होना आदि वर्णन करने में अनेक श्लोकों को रचकर अयुक्त व्याख्यान किया है इसी प्रकार से अन्य अनेक व्याख्यान ज्ञातव्य हैं तथा शेषनाग

कच्छप दिग्गजों का पृथिवी को धारण करना पुराणों में मिथ्या व्याख्यान रूप से वर्णन किया गया है। यदि कोई प्रश्न करे कि पृथिवी को शेषनाग धारण किये है शेष किसके आधार में है यदि कहा जाय कच्छप के फिर कच्छप किस के आधार में है तो अन्त में सिवाय इसके कि परमात्मा अपने सामर्थ्य से धारण किये है अथवा शेष कच्छप रूप से ईश्वर ही धारण किये है और कुछ यथार्थ उत्तर नहीं हो सकता ऐसा ही दिग्गजों के विषय में समझना चाहिये परन्तु विना किसी हेतु विशेष परमात्मा का सर्प कच्छप और दिग्गज रूप होना मानना भी केवल अज्ञानता है क्योंकि सर्प आदि रूप धारण करने में कोई हेतु उत्तमता फल विशेष और आवश्यकता विदित नहीं होती इससे उक्त सब नाम केवल ब्रह्म के वाचक हैं भ्रम से अन्यथा और अयुक्त पुराणों में वर्णन किया है कैसे ब्रह्म अर्थ के वाचक है यह विज्ञापन के लिये ब्रह्मा आदि शब्दों के अर्थ उपलक्षण मात्र के लिये लिख कर शेष आदि नामों का जिनको पृथिवी को धारण करने वाले पौराणिक वर्णन करते हैं व्याख्यान पृथक् संस्कृत में इसलिये लिखेंगे कि उनका व्याकरण से भी यथार्थ होना पण्डित महाशयों को निश्चित हो और प्रमाण से यथार्थ होना मन्तव्य हो ॥

ब्रह्मा आदि इस प्रकार से ब्रह्म परमात्मा के नाम हैं कि बृह बृहि वृद्धौ धातु से ब्रह्म और ब्रह्मा दोनों शब्द सिद्ध होते हैं योऽखिल जगन्निर्माणेन बृहयति वर्द्धयति स ब्रह्मा अर्थ–जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर वढाता है वह ब्रह्मा है अर्थात् रचना से जगत् को वढ़ाने से ब्रह्म का नाम ब्रह्मा है। विष्लृ व्याप्तौ इस धातु से नु प्रत्यय करने से विष्णु शब्द सिद्ध होता है वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं चराचर जगत् सविष्णु जो सब चराचर जगत् में व्यापक होता है वह विष्णु है अर्थात् सब में व्यापक होने से परमात्मा विष्णु कहा जाता है शरीरवान अपन एक देशी शरीर से सर्व व्यापक नहीं हो सकता ॥

" महतादेव, यद्वा महाश्चासोदेव महादेव " अर्थ–जो महान्देवों का देव है अथवा जो श्रेष्ठ देव है वह सब से श्रेष्ठ होने से ब्रह्म महादेव है ॥

* सर्वेवरा श्रेष्ठगुणवन्तो महान्तो यस्यसामर्थ्यमहत्वान्तर्गता, व्याप्या य सर्वान्वरान्महतो अह्नोति व्याप्नोति स वराहो ब्रह्म ॥

अर्थ—जिस परमात्मा के सामर्थ्य और व्यापकता के अन्तर्गत होने से सब श्रेष्ठमहान पदार्थ व्याप्य हैं और जो सब श्रेष्ठों महान् पदार्थों में व्यापक है वह वराह है अर्थात् सब श्रेष्ठ पदार्थों में श्रेष्ठतम होन से व्यापक होने से ब्रह्म का नाम वराह है वर शब्द पूर्वक अह व्याप्तो स्वादिगण पठित धातु से अह शब्द करने से वराह शब्द वनता है ॥

इसी प्रकार उपास्य देवता के तथा जगत् के उत्पन्न करने व धारण करने के वर्णन में सब नाम ब्रह्म वाचक ग्राह्य है और सब ब्रह्म के अर्थ में घटित होते हैं वराह आदि अवतारों के वर्णन में जैसे गीता में श्रीकृष्ण जी ने धनुर्धारियों में राम में हू इत्यादि सामान्य में से विलक्षण सामर्थ्य गुण व कर्मवाली व्यक्ति

को अपना होना वर्णन किया है ऐसे ही अलङ्कार व उपचार से पौराणिक महा शय यह आशय ग्रहण कर सकते है कि साधारण तो ब्रह्म सब जगत् में उत्कृष्ट व निकृष्ट योनियों व पदार्थों में व्यापक हैं परन्तु किसी जाति की व्यक्ति विशेष में जिसमें विलक्षण सामर्थ्य गुण व कर्म विदित हों उसमें विशेषता व उत्तमता ब्रह्म रूप व ब्रह्म अंशरूप मान कर उसमें ब्रह्म का सत्ता विशेष माना है वा मन्तव्य है अलङ्कार से वराह आदि अवतार की आख्यायिकों का अन्य प्रकार का अर्थ व आशय जो युक्त हो वह ग्राह्य हो सकता है साधारण अर्थसे मन्तव्य नहीं हो सकता। इससे उक्त प्रकार से प्रकरण विशेष में वराह आदि ब्रह्म के नाम ही ब्रह्म वाचक मन्तव्य हैं उपलक्षण मात्र के लिये यहां कुछ नामों की व्युत्पत्ति ब्रह्मवाचक अर्थ होने के साथ लिखकर अब जो पौराणिक शेष कच्छप दिग्गज आदि नामों से शेष नामक सर्प और कछुहा और दिशाओं के हाथियों को पृथिवी के धारण करने वाले वर्णन करते हैं यह उनका कथन अयुक्त और असम्भव प्रतीत होता है ऐसा उनका कथन मन्तव्य न होने और शेष आदि शब्दों का यथार्थ अर्थ व आशय विज्ञापन के लिये संस्कृत में व्याख्यान करते हैं। भाषा मात्र जानने वाले महाशयों के समझने के लिये संस्कृत में किये हुये व्याख्यान का भाषानुवाद भी लिखेंगे॥

येशेषकच्छपदिग्गजान्सर्पकूर्मादिव्यक्तिविशेषान्पृथिवीधारका इत्याहु नतेषा मतस्य प्रामाण्यमस्ति प्रमाणाभावे न मन्तव्यमित्यवधार्य्यते। यदि शेषादि शब्दवाच्यस्य पृथिवीधारकत्वमित्येव स्वीकरणमिष्टं स्यात्तर्हि न शेषा दीनां नाग विशेष कच्छपहस्त्यर्थवाचकत्वं ग्राह्यमस्ति नप्रमाणादेतेषां जगत्धा- धारत्वं सम्भवति। अतो योगिकार्थेन शेषाद्युक्तशब्दा जगदाधारस्य परमात्मन एव वाचका इत्यवधार्यम्। तस्यैव नामानि सन्तीत्यर्थं कथं तस्यवाचकत्वमेतन्मया लिख्यते तदेव विशेयमस्ति य शिष्यते स शेष य सर्वेषां कार्यपदार्थानांविनाशे प्रलये शिष्यते स शेष परमेश्वर स स्वसत्तया शक्त्या च सृष्टिकाले पृथिवीं धारयति पृथिवी शब्द उपलक्षणार्थं अन्यानपि लोकान धारयति। अत शेषशब्दवाच्य परमात्मा जगदाधार एव पृथिवीधारक उक्त इत्यवगन्त व्यमिति नयथाऽनभिज्ञा पौराणिका वदन्ति कश्चित्सर्प विशेषो जगत्याधाररूपो मन्तव्योऽस्ति। तथा कच्छप शब्दे कच धातो शकप्रत्यय औणादि प्रत्ययोऽय कच्यते बध्यतेऽसौ कच्छ पृथिव्यादयो लोका परमेश्वरनियमेनयद्वा कच्छशब्द- वाच्या यस्तान्पाति रक्षति स कच्छप परमेश्वरः यद्वा कच्यतेऽनेनतिकच्छ करणेऽर्थ शक् प्रत्यये कृते एवमर्थो वाच्य येन नियमेन यया नियत सीमया यावद्वा पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति गच्छन्ति स कच्छ यस्ततांचा पातीति सकच्छप परमेश्वर अनेनार्थेन स्वनियमपालकत्वात्स्वनियमेन परमात्मा पृथिवीं धारयति स एव कच्छप पृथिवी धारको वाच्य अन्यलोकधारकोऽप्येव वाच्योऽस्ति न यथा प्रसिद्धो जलजन्तु विशेष तस्य पृथिवी धारकत्वासम्भवात् तस्य धारकत्वे हेत्वभावात हेतुविशेषाभावे तदप्रामाण्यम्। पृथिवी धारकत्ववर्णने

यदि कच्छप शब्दस्थाने कमठशब्दः प्रयुक्तः स्यात्तर्हि तस्यापि परमात्मवाचकत्वमेवमन्तव्यं यस्सर्वैर्योगिभिस्सज्जनैः प्राप्त्यै काम्यते स कमठः. कमेरठ इत्यौणादिसूत्रेणाठप्रत्ययान्तो ज्ञातव्यः तथा कूर्म शब्दः परमेश्वरवाचकोऽयं धार्य्यं करोति सर्वं जगदिति कूर्मः। दिग्गजशब्दोऽपि ब्रह्म शक्त्यार्थव्यञ्जकः स्वीकार्यो न गजरूपा काचिद्व्यक्तिः काश्चिद्व्यक्तयो वा दिक्षु पृथिवीधारका मन्तव्या दिग्गजशब्दस्यायमर्थो वाच्यः. सर्वासु दिक्षु गच्छति प्राप्नोति यद्वा सर्वासु दिक्षु प्राप्तान् पदार्थान्सर्वज्ञत्वेन गच्छति जानाति स दिग्गः सर्वव्यापकः सर्वज्ञः परमात्मा ब्रह्म, सृष्ट्यादौ सृष्ट्युत्पत्त्यर्थं तद्धारणार्थञ्च तस्माद्दिग्गाज्जातं प्रादुर्भूतं य ओजः पराक्रमः सामर्थ्यं शक्तिर्वा सदिग्गजः स एव ब्रह्मण ओजः शक्तिः पृथिवीं धारयति अर्थात् परमात्मा ब्रह्म स्वौजसा परमसामर्थ्येन स्वकीयया परमया शक्त्या पृथिवीं भूगोलं धारयति तथाऽन्यानपि लोकान् परन्तु भूमिस्थविदुषा विद्वद्भिर्वा सर्वाश्रयभूतायाः भूमेः को धारकोऽस्तीति विज्ञापनाय पृथिवी धारकत्वमेवोक्तं जातः न भूमेर्धारकत्वं ब्रह्मणः शक्तेरियत्तासूचनार्थम्। भूगोल धारणे ब्रह्मणः शक्तिरेवाधाररूपा। अत्रेयं सूर्यसिद्धान्तस्योक्तिः प्रमाणम्।

"मध्येसमन्तादण्डस्यभूगोलो व्योम्नि तिष्ठति बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्" ॥

अनेकासु दिक्षु व्यापकाया एकस्या ब्रह्मशक्तेरनेकदिगुपाधिभेदादनेकत्वकल्पनया एकस्यैव महादाकाशस्य घटाद्यनेकोपाधिभेदादनेकघटाकाशादि कल्पनावद्दिग्गजशब्दस्य बहुवचनमप्यूह्यमिति ॥

अत्र व्याख्याने कूर्मशब्दार्थे न धातु प्रत्ययावुक्तौ स्त अतोऽत्रैतदुच्यते कूर्मशब्दे कुम धातो र्ऊर्मक् वा ऊर्मच् प्रत्यय ऊह्यो वाच्यश्चेति तत्रौणादि सूत्रोक्तप्रत्ययविधाने प्रत्यय कल्पनाधिकारे ह्येतत्प्रमाणम् व्याकरण महाभाष्ये महर्षिपतञ्जलिनैवमुक्तं जात नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥१॥ संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्य्याद्विद्यादनुबंधमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥२॥

यदि कश्चिद्विद्वान् शेषादि शब्दवाच्यसर्पविशेषादीनापुराणोक्तीरभ्युपगम्य जगत्याधारसाधने प्रतिपक्षं गृह्णीयात्तत्साधितुञ्चेच्छेत्तर्हि सत्प्रमाणैर्युक्त्या च साध्यमिति ॥

अथ भाषानुवादः

जो लोग सर्परूपादि व्यक्ति विशेष शेष कच्छप दिग्गजों को यह कहते हैं कि ये पृथिवी को धारण किये हैं उनके ऐसा मानने का कुछ प्रमाण नहीं है प्रमाण न होने से ऐसा मानने योग्य नहीं है यदि उक्त शेष आदि शब्द पृथिवी धारण

करनेवाले के नाम हैं यही अङ्गीकार करना व सत्य मानना इष्ट हो तो शेष आदि नाम किसी सर्प विशेष या कच्छप (कछुवा) और हाथी के नाम हैं ऐसा अर्थ ग्रहण के योग्य नहीं है क्योंकि प्रमाण से इनका पृथिवी का धारण करने वाला होना सम्भव नहीं है इससे यौगिक अर्थसे शेष आदि शब्द जगत् के धारण करनेवाले परमात्मा ही के वाचक हैं अर्थात् उसी के नाम हैं यह निश्चय करना चाहिये कैसे उसके नाम हैं यह वर्णन किया जाता है यह इस प्रकार से जानना चाहिये कि जो बाकी रहजाता है (बचरहता है) उसका शेष कहते हैं सम्पूर्ण जगत् के कार्य (बने हुये) पदार्थों के नाश हो जाने पर प्रलय में केवल एक परमेश्वर रहजाता है इससे उसका नाम शेष है वह शेष परमेश्वर अपनी सत्ता और शक्ति से संसार की उत्पत्ति समय में पृथिवी को धारण करता है इससे शेष नामसे परमात्मा ही जो जगत् का आधार है वही पृथिवी का धारण करनेवाला कहा-गया है यह निश्चय करने योग्य है जैसा अज्ञान पौराणिक कहते हैं कि कोई सर्प विशेष पृथिवी को धारण किये है यह मन्तव्य नहीं है ऐसेही कच्छप शब्द में कच धातुसे उणादि शक् प्रत्यय करने से प्रथम कच्छपद होता है कच्छ का अर्थ ' बधा हुआ " यह होता है इससे पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम से बधे हुये कच्छ नाम से वाच्य हैं और प शब्द का अर्थ रक्षा करनेवाले का होता है अपने नियम से बधे हुये कच्छ शब्द वाच्य सब लोकों की रक्षा करता है इससे परमेश्वर का नाम कच्छप है। अथवा ऐसा अर्थ ग्राह्य कि जिस नियम से वा जिस नियत मर्य्यादा से बंधे हुये पृथिवी आदि लोक ठहरे हुये हैं और चल रहे हैं उस नियम अथवा मर्य्यादा (हद) का नाम कच्छ है जो उस नियम वा मर्य्यादा की रक्षा करता है अर्थात् नियम व मर्य्यादा को पालन करता है स्थिर रखता है वह परमेश्वर कच्छप है इस अर्थ से अपने नियम का पालन करने वाला होने से परमात्मा पृथिवी को धारण करता है वही पृथिवी का धारण करने वाला कच्छप नाम से वाच्य (कहने योग्य) है ऐसे ही अन्य लोकों का धारक होना भी वाच्य है जैसा कि प्रसिद्ध है। कच्छप (कछुवा) नामक एक जल के रहनेवाले जन्तु विशेष के आकार का कोई शरीरधारी मन्तव्य नहीं है क्योंकि उसका पृथिवी का धारण करनेवाला होना सम्भव नहीं है न उसके धारण करने में कोई हेतु (कारण) है कोई हेतु न होने में प्रमाण के योग्य नहीं है। पृथिवी धारक होने के वर्णन में यदि कच्छप शब्द के स्थान में कमठ शब्द कहा गया हो तो वह भी परमात्मा ही का नाम होना मन्तव्य है। कम धातु का अर्थ इच्छा करना है इस कमधातु में "कमेरठ" इस उणादिसूत्र से अठ प्रत्यय करने से कमठ शब्द बनता है इसका अर्थ इस प्रकार से ग्राह्य है कि जो सब योगियों और सज्जनों से प्राप्त होने के लिये इच्छा किया जाता है वह ईश्वर कमठ है ऐसेही कूर्म शब्द इस अर्थ से कि जो सब जगत् को करता है वह कूर्म है परमेश्वर का नाम मन्तव्य है दिग्गज शब्द भी ब्रह्म की शक्ति का अर्थ प्रकट करनेवाला स्वीकार करने योग्य है। हाथी के

आकार का कोई शरीर व हाथियों के आकार के शरीर दिशाओं में पृथिवी के धारण करनेवाले मन्तव्य नहीं हैं। दिग्गज शब्द का ऐसा अर्थ वर्णन के योग्य है संस्कृत में वर्णन किये हुये के अनुसार दिग्गज शब्द का यह अर्थ होता है कि जो सब दिशाओं में प्राप्त होता है। अथवा जो सब दिशाओं में प्राप्त पदार्थों को अपनी सर्वज्ञता से जानता है वह सर्वव्यापक सर्वज्ञपरमात्मा ब्रह्म दिग्ग है और दिग्गज का अर्थ दिग्ग से उत्पन्न हुये का होता है। सृष्टि की आदि में सृष्टि की उत्पत्ति के लिये और उसके धारण के लिये दिग्ग परमात्मा से प्रकट हुआ जो पराक्रम शक्ति वा सामर्थ्य है वह दिग्गज है वही ब्रह्म का सामर्थ्य अर्थात् ब्रह्म की शक्ति पृथिवी को धारण करती है अर्थात् परमात्मा ब्रह्म अपने परम सामर्थ्य वा अपनी परम शक्ति से पृथिवी अर्थात् भूगोल तथा अन्य लोकों को धारण करता है परन्तु भूमि में रहनेवाले विद्वान् वा विद्वानों ने यह जनाने के लिये कि इस जिस भूमिमें हम रहते हैं इसका धारण करनेवाला कौन है पृथिवीमात्र का धारण करनेवाला होना वर्णन किया है। पृथिवी का धारक होना ब्रह्म की शक्ति इतनीही है यह सूचित करने के लिये नहीं कहा। भूगोल के धारण करने में ब्रह्म की शक्ति ही आधार रूप है इसमें यह सूर्य सिद्धान्त का श्लोक प्रमाण है

मध्ये समन्तादण्डस्यभूगोलो व्योम्नितिष्ठति बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम् ॥१॥

अर्थ—ब्रह्माण्ड के बीच में धारण करना है स्वभाव जिसका ऐसी ब्रह्म की परम शक्ति को धारण किये अर्थात् परम शक्ति में प्राप्त भूगोल आकाशमें (अन्तरिक्ष में) स्थित है अर्थात् रहता है वा ठहरा हुआ है॥

जैसे एक ही व्यापक आकाश घट आदि अनेक उपाधियों के भेदों से घटाकाश (घट के भीतर घट रूप घट परिमित आकाश) आदि अनेक आकाश भेद कल्पना किये जाते हैं ऐसे ही अनेक दिशाओं में व्यापक एक ही ब्रह्म की शक्ति का अनेक दिशाओं के उपाधि भेदों से अनेक होने की कल्पना से दिग्गज शब्द के बहुवचन का प्रयोग भी कल्पना करने के योग्य है॥

प्रत्यय की कल्पना करने के प्रमाण में जो कुछ व्याकरण विषयक लेख है वह केवल व्याकरण जानने वाले के लिये उपयोगी है इससे उसका अनुवाद भाषा में नहीं लिखा गया भाषा में उसके लिखने का कुछ प्रयोजन नहीं था

ओ३म् शम्।

इति श्रीतत्वमार्तण्डेशेषादिशब्दाना ब्रह्मवाचकत्ववर्णने द्वादशोऽध्याय. ॥

वेदविषयकशंकासमाधानविषयः

अब ग्रंथकी समाप्ति में परिशिष्ट के समान यह विज्ञापनीय है कि वेदके सत्य अर्थ के निश्चय करने में यह एक बडे संशय का कारण है कि अनेक भाष्यकारों के भाष्योंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे मन्त्रों के व्याख्यान हैं प्रत्येक भाष्यकार के व्याख्यान मन्त्र वाक्य के शब्दों के अर्थ। और व्याकरणके अनुसार है और किसी पक्ष में भी यह निश्चय करने वा कराने का कोई हेतु विशेष उपलब्ध नहीं होता कि यही अर्थ ईश्वर के आशय के अनुसार है इस से यह निश्चय नहीं हो सकता कि कौन भाष्य का व्याख्यान व अर्थ यथार्थ मन्तव्य है ऐसा निश्चय न होने में वेद का तत्वार्थ (सत्य अर्थ) अब तक अज्ञात ही है अर्थात् जाना ही नहीं गया यह सिद्धान्त होता है ऐसे सिद्धान्त से किसी भाष्यकार का वेद वाक्योंका किया हुआ भाष्य यथार्थ रूपसे मन्तव्य नहीं है यदि दयानन्द स्वामी के मतानुयायी आर्यसमाजी महाशय यह कहें कि जो अर्थ श्री स्वामी दयानन्द जीने किया है वही यथार्थ है तो उक्त स्वामी जी के अर्थ में असंगत असंभव दोष होना जिस मन्त्र में ग्यारह पतियों के साथ नियोग होने का वर्णन है उसमें और अन्य वाक्यों और विषयों में इस ग्रंथ के छठवें अध्याय में वर्णन किये गये हेतुओं से निश्चित होता है। मनुष्य की बुद्धिमें कारण विशेष से भ्रम प्रमाद व आग्रह होना संभव है उक्त अध्याय में वर्णन किये हुये के अनुसार उक्त स्वामी जीने स्वय विशेष प्रश्नों के उत्तर में अपने वाक्यों की अशुद्धियों में अपने पक्ष का उत्तर न हो सकना और अशुद्धियों का होना स्वीकार कर लिया है। इससे उनके स्वय स्वीकार करने और उनके वेद भाष्य में तथा पूर्वोक्त हेतुओं से स्वामीजी के अन्यग्रंथों के अनेक वाक्यों में दोष ज्ञात होने से उनका भाष्य सब अंश में तथा अन्य भाष्यकारों का भाष्य मन्तव्य नहीं हो सकता। अब जो उक्त स्वामी जी का लेख शुद्ध भी कर दिया जाय तो भी जो दोष होना सिद्ध होगया उससे यह सिद्धान्त ग्रहण करना कि जो स्वामीजी का लेख है वह सब सत्य व मन्तव्य है निर्मूल होगया जो प्रमाण और हेतु युक्त लेख है वह स्वामी जी का हो वा किसी ग्रंथ और ग्रंथकार का हो वह मन्तव्य है और हो सकता है। * पौराणिक और आर्यसमाजी महाशय परस्पर पक्ष प्रतिपक्ष ग्रहण करके एक दूसरे के विरुद्ध अपने पक्ष को स्थापन करते हैं परन्तु आर्यसमाजी महाशयों का पक्ष पौराणिक महाशयों से इस हेतु से प्रबल रहता है कि वे युक्ति हेतु के अनुकूल तर्क व प्रमाण के अनुसार सिद्धान्त को मानते हैं और पौराणिक अपने आग्रह को त्याग न करके संभव असंभव युक्त अयुक्त बिना विचार के सब लेख को मन्तव्य होना मानते हैं और मन्तव्य होना सिद्ध किया चाहते हैं

*यद्यपि उक्त स्वामी जी का कुछ लेख अयुक्त है तथापि स्वामी जी के उत्तम उत्तम उपदेश से गुरुकुल आदि के होने से विद्या की उन्नति वेद व आर्य धर्ममें श्रद्धा होने आदि से आर्यावर्तनिवासियों का महा लाभ होरहा है उससे कृतघ्न होना बुद्धिमान सत्पुरुषों को उचित नहीं है।

ऐसा पक्ष किसी प्रकार से सत्ययथार्थ होना सिद्ध निश्चित और मन्तव्य नहीं हो सक्ता यदि पौराणिक विवेक पूर्वक तर्क और युक्ति अनुकूल विचारकर असत् व मिथ्या व्याख्यानों को इस हेतु से कि महाभारत आदिग्रंथों में स्वार्थ साधकों ने पीछे से प्रक्षिप्त किया है त्याग कर जो उत्तम साराश रूप प्रमाण और हेतुओं से सिद्ध वा साध्य हैं ऐसे विषय और उसके सम्बन्धी युक्त आख्यायिकों को माने तो पौराणिकों का पक्ष एक अंश में आर्यसमाजियों से भी विशेष व प्रबल हो सकता है क्योंकि एकही वेद शास्त्र व स्मृतियों के माननेवाले दोनो हैं इससे प्रमाण अनुकूल मानने में अन्य विषयों में तो दोनों के सिद्धान्तों में कुछ विशेषता नहीं रहसकती केवल जो प्रमाण व युक्ति विरुद्ध अपह्रुत अर्थ सम्बन्धी लेख पुराणों और आर्य समाजी महाशयों के ग्रंथों में विदित होगा उसके असत होने का आक्षेप होगा ऐसे आक्षेप को पौराणिक तो यह कह कर कि जैसे तुलसी दास की रामायण जो कुछ अधिक तीन सो वर्ष की बनी हुई है उसमें एक तिहाई के लगभग विचार रहित मनुष्यों ने अपनी कल्पित कथाओं को मिला दिया है जो क्षेपक वा प्रक्षिप्त नामसे लिखी है वा कही जाती हैं ऐसे ही महाभारत व वाल्मीकीयरामायण व अन्य ग्रथोंमें जो सहस्रों वर्षके बने हुये है उनमें अयुक्त कथाओं और व्याख्याना को स्वार्थ साधकों न मिलादिया है इससे वे मन्तव्य नहीं हैं निर्दोष होना सिद्ध कर सके हैं क्योंकि विशेष हेतुओं से प्रक्षिप्त सिद्ध करके उसके न मानने में जो ग्रथकारसे वर्णित नहीं है उसीका न मानना सिद्ध होता है ग्रथकारके वाक्य व ग्रथ का नहीं इससे दोषका निवारण करना सिद्ध होता है कोई दोष प्राप्त नहीं होता। यदि जिनकेहृदय में दीर्घकालकाल का अविवेक व भ्रम रोग असाध्य हो गया है यह ऐसा न समझे तो इसका औषध नहीं हैं परन्तु जो आक्षेप श्री दयानन्द स्वामी जी के ग्रथों व अन्य आर्यसमाजियों के लेख में किया जायगा और अयुक्त और असगत होगा उसको आर्यसमाजी किसी प्रकार से प्रक्षिप्त होना सिद्ध नहीं करसकते क्योंकि उक्त स्वामी जी ने अपने जीवन समय में सत्यार्थप्रकाश और सस्कार विधिको शुद्ध करके द्वितीय वार भी छपा चुके हैं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका भी उक्त स्वामी जी के समय की और उनके पीछे की भी छपी उपस्थित है और अन्य आर्यसमाजी महाशयों के निर्मितग्रथ जिनमें किसी अन्य से कुछ प्रक्षिप्त नहीं किया गया वर्तमान के छपे विद्यमान ग्रथकारों के छपवाये हुये विद्यमान हैं उनमेंसिवाय ग्रथकार के पक्षपात, अग्रह और प्रमाद के अन्य कोइ कारण दोष होने का सिद्ध नहीं हो सकता। जो पौराणिक बुद्धि व विचार अनुसार निर्णय करने व मन्तव्य के मानने में प्रवृत्त हों और ऐसे ही आर्यसमाजी आग्रह छोडकर निर्णय करने पर उद्यत हों तो दोनों का विरोध निवृत्त होजाय और एक सिद्धान्त निश्चित होजाय। अब जो वेद के अर्थ और सिद्धान्त के विषय में जब मैं वैदिक यन्त्रालय अजमेर में था वहा के पण्डितों से प्रश्न किया था और उनसे यथार्थ उत्तर न मिलने पर स्फुटमें लिखित पत्र द्वारा श्री प० तुलसीराम स्वामी जी से प्रश्न किया

था और जो उक्त पण्डित जीने उत्तर दिया था उन प्रश्न व उत्तरों को लिखकर उनका भाषा अनुवाद भी लिखता हूं ॥

॥ ओ३म् ॥

मेरे प्रथम पत्र की नकल

अजमेर वैदिक यन्त्रालय,
ता० २१-३-०१ ।

श्रीमन्महाशय नमस्ते !

वेद विषयक एक प्रश्न है जिसका यथोचित उत्तर यहाँ निश्चित नहीं हुआ इसका उत्तर अपनी सम्मति अनुसार पत्र द्वारा दीजियेगा ।

वेदवाक्यविषयक आक्षेपः

धर्मोपदेशविषयकवाक्येषु सरला असन्दिग्धा स्पष्टार्थबोधकाः शब्दाः प्रयोज्या यतो धर्मोपदेशकस्य वक्तुराशयज्ञाने भ्रान्तेर्विप्रतिपत्तेश्चोत्पादका न स्युः । वेदो धर्मोपदेशविषयः तन्मन्त्रेष्वीदृशाः शब्दाः प्रयुक्ताः सन्ति येषां भिन्नार्थैर्गृहीतानि मन्त्रवाक्यान्यनेकभाष्यकारैर्यकृतभाष्येणासम्बद्धानि व्याख्यातानि प्रत्येकभाष्यकारेण स्वेष्टाशयानुसारेण कृष्टानीत्यर्थः यथा सायनमहीधरश्रीस्वामिदयानन्दकृतेषु भाष्येषु ब्राह्मणग्रन्थेषु च लिखितप्रमाणव्याख्यादर्शनेनैतद्धि गम्यते । धर्मोपदेशे न्यायेन च श्लिष्टसन्दिग्धशब्दानां प्रयोगो वक्तुराशयनिश्चयाभावहेतुत्वाद्दोषत्वेनावधृतोऽस्ति विचारशीलैर्विद्वद्भिः । त्याज्योऽयं दोषो विशेषतया न्यायाध्यक्षेण धर्मोपदेशकेन च । कस्मादीश्वरेणेदृशाः शब्दा वेदे प्रयुक्ता यतस्तस्योक्तिः सदोषाऽनुचिताऽयुक्तेत्यवधार्यते व्यामोहनार्थं यथेष्टार्थग्रहणार्थं स्वाशयगत्वज्ञानार्थं वा । यदीश्वरेणैकार्थविज्ञापनायोक्ता कः सोऽर्थः कथं तस्य निश्चयः स्यात् यदि भाष्यकाराणां भ्रम एवानेकार्थत्वस्य हेतुस्तर्हि मनुष्यबुद्धौ भ्रमसम्भवात्कस्य बुद्ध्या येनोक्तस्यार्थस्यान्योऽन्यबुद्धिमदुक्त्या प्रत्याख्येयत्वादयमेव वक्तुराशय इत्यस्य निश्चये किं प्रमाणमवधार्यमस्तीति प्रश्नः —

इसका भाषानुवाद

धर्मोपदेश विषयक वाक्यों में सरल जिनसे सन्देह उत्पन्न न हो ऐसे स्पष्ट अर्थ के जनानेवाले शब्द प्रयोग करने योग्य होते हैं जिससे धर्म के उपदेश करनेवाले के आशय जानने में भ्रम और दो प्रकार के भिन्न अर्थ के उत्पन्न करने वाले न हों वेद में धर्म के उपदेश का विषय है वेद के मन्त्रों में ऐसे शब्द कहे गये हैं जिनके भिन्न भिन्न अर्थों से ग्रहण किये गये मन्त्र वाक्य अनेक भाष्यकारों से अन्य के किये हुये भाष्य के अर्थ से सम्बन्ध रहित व्याख्यान किये गये हैं अर्थात् प्रत्येक भाष्यकार ने अपनी इच्छा के अनुकूल अर्थ को खींचकर मन्त्रों का व्याख्यान किया है जैसे सायन महीधर और श्री स्वामीदयानन्द जी के किये

सूत्रभाष्यों में और ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखे हुये मन्त्रों के व्याख्यान देखने से ऐसा विदित होता है। धर्म के उपदेश में और न्याय में कईअर्थयुक्त सदेह उत्पन्न करनेवाले शब्दों का प्रयोग करने को इस हेतु से कि ऐसे प्रयोग से वक्ता के यथार्थ आशय का निश्चय नहीं होना विचारवान विद्वान् पुरुषों ने दोष रूप होना निश्चय किया है यह दोष न्याय करनेवाले और धर्म के उपदेश करनेवाले को त्याग करना आवश्यक है। ईश्वर ने किस हेतु से ऐसे शब्द वेद में कहा है जिससे उसका कथन दोषयुक्त अनुचित अयुक्त होना समझा जाता है अर्थात् भ्रम होने के लिये अपनी इच्छाअनुसार अर्थ ग्रहण करने के लिये अथवा यथार्थ मेरा आशय किसी को विदित न हो इसलिये किस निमित्त ऐसे शब्दों को प्रयुक्त किया है। जो ईश्वर ने एकही अर्थ जनाने के लिये कहा है तो वह अर्थ कौन है उसका निश्चय कैसे हो। जो यह कहा जाय कि भाष्यकारों का भ्रम ही अनेक प्रकार के अर्थ होने का कारण है तो मनुष्य की बुद्धि में भ्रम होना सम्भव होने से अपनी बुद्धि के अनुसार जो एक अर्थ वर्णन करता है वह जो उससे अधिक बुद्धिमान है उसके अर्थ व तर्क से खण्डित होजाने से वक्ता का यही आशय है इसके निश्चय करने के लिये क्या प्रमाण धारण करने योग्य वा मन्तव्य है यह प्रश्न है॥

उत्तर पं० तुलसीराम स्वामी

सं० ६३६ ता० २३-३-१६०५

श्रीमन्महाशय नमस्ते

आपके पत्र २१-३-१६०५ के लेखानुसार निवेदन है सरलार्था अपि शब्दा कालेन दुरूहार्था जायन्ते तद्वत् वेदविद्यायां कालबाहुल्यातिक्रमणेन काठिन्य जात तस्मान्नाय वेद प्रादुर्भावयितुर्दोषो ऽपितु.तदर्थदूरपरास्तानां मनुजानामेवेतिदिक

हस्ताक्षर

तुलसीराम।

इसका भाषानुवाद

सरल अर्थ वाले शब्द भी काल अधिक होजाने में कठिन अर्थवाले होजाते है तिससे इस वेद विद्या में बहुत काल व्यतीत होने से कठिनता होगई है तिस से यह दोष वेद के प्रकट वा उत्पन्न करनेवाले का नहीं है केवल जो मनुष्य वेद के अर्थ ज्ञान से दूर पड गये हैं उन मनुष्यों ही का है॥

मेरा दूसरा पत्र

ता० २५ मार्च सन् १६०५

महाशय नमस्ते

भवत्पत्रमायातं वृत्तमवगतं न मत्प्रश्नस्य यथेष्टमुत्तरमुक्तं जातम् पूर्वं वेद शब्दा सरलार्था आसन्सम्प्रति दुरूहार्थतां गता केन प्रमाणेनेदमवगम्यते तेषां सरलार्थत्वबोधक कः कोश कि भाष्य कि व्याख्यानमस्ति। न वेद प्रादुर्भाव-

यितुर्दोषोऽपितु तदर्थदूरपरास्तानां मनुजानामेवेति स्वीकारेऽपीयमाशङ्का जायते सदोषैर्मनुजैः कृतानि भाष्याणि सदोषाण्येव न किमपिभाष्य निर्दोषत्वेन स्वीकार्य-मस्ति ? तेषां सर्वेषामप्रामाण्ये वेदप्रादुर्भावयितुराशयानिश्चयेऽज्ञातएव वेदार्थः । अज्ञातार्थस्यवेदस्य नि फलत्वम् । यत्किमपि भाष्यं सप्रमाणं कथित स्यात्तर्हि यत्तत्रोक्तं तदेव वेदप्रादुर्भावयितुराशयोनात्र किञ्चित्प्रामाण्यमवधार्यते तर्हि वेदवक्तृ प्रादुर्भावयितुर्वाऽऽशयनिश्चये को हेतुरिति वाच्यम्—

इसका अनुवाद

आपका पत्र आया हाल ज्ञात हुआ । मेरे पत्र का जैसा चाहिये वैसा उत्तर नहीं दिया गया पूर्व काल में वेद के शब्द सरल अर्थवाले थे अब उनका अर्थ कठिन होगया है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है उनके सरल अर्थ का जनाने वाला कौन कोश है कौन भाष्य है कौन व्याख्यान है। वेद के प्रकट करनेवाले का दोष नहीं है केवल जिन मनुष्यों को वेद का अर्थ जानना कठिन हो गया है उन मनुष्यों ही का है ऐसा मान लेने में भी यह शङ्का उत्पन्न होती है कि दोषयुक्त मनुष्यों के किये भाष्य भी दोषयुक्त ही मन्तव्य हैं कोई भी भाष्य दोषरहित स्वीकार करने योग्य नहीं है उन सब के भाष्यों का प्रमाण न होने में वेद के प्रकट करने वाले के आशय का निश्चय न होने में वेद का अर्थ अज्ञात ही (न जाना हुआ ही) है जिस वेद का अर्थ ज्ञात नहीं है उसका होना निःफल है । जो कोई भाष्य प्रमाण युक्त या प्रमाण के योग्य कहा जाय तो जो उसमें वर्णन किया गया है वही वेद के प्रकट करने वाले का आशय है इसमें कोई प्रमाण होने का निश्चय नहीं होता आपको यह बताना चाहिये कि वेद के वक्ता का अथवा प्रकट करने वाले का यही आशय है ऐसा निश्चय करने के लिये क्या हेतु व प्रमाण है ॥

इसके उत्तर में पत्र पण्डित तुलसीराम जी का

ता० २८-३-१९०५

श्री मन्महाशय नमस्ते,

आपके २५-३-१९०५ के लेखनानुसार निवेदन है* कि विशिष्ट पत्र द्वारा निवेदयितुमनवकाशपीडितत्वादशक्तोऽस्मि कदाचित्समागमकाले यदि विज्ञा स्यामि निवेदयिष्यामि ॥

इसका अनुवाद

अवकाश न होने से विशेष पत्र द्वारा मैं निवेदन नहीं कर सकता जो कदाचित् (कभी) आप से मिलूंगा तब जो मेरी समझ में आवेगा तो निवेदन करूंगा ॥

इस पर्व सन् १९१४ सम्वत विक्रमीय १९७१ में गुरुकुल वृन्दावन में पत्र के उत्तर प्राप्त होने से नवम वर्ष में श्री पण्डित तुलसीराम स्वामी जी से भेंट हुई तब उक्त प्रश्न के विषय में फिर उत्तर देन के लिये कहा परन्तु यथार्थ उत्तर न

* इतना भाषा म छपा हुआ लेख कार्ड में होने से भाषा का लेख है ।

होने से अन्त में शङ्का का यथार्थ होना व सिद्धान्त निश्चित न होना स्वीकार किया। -

अब एक अन्य संशय भी वेद के विषय में है उसको लिखते हैं वह यह है कि वेद को ईश्वरवाणी और अपौरुषेय मानते हैं और अग्नि वायु और रवि इन तीन के हृदयों में वेद का ज्ञान प्रकट करके इनकेद्वारा ईश्वर ने ऋग यजुस्साम-वेदों को प्रकट किया है ऐसा श्रीस्वामी दयानन्द जी ने लिखा है और मनुस्मृति में भी इन तीन से ब्रह्मा जी का वेदों को प्राप्त करना लिखा है सृष्टि की आदि में वेद द्वारा उपदेश किया जाना सब मनुष्यों को धर्म और अन्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होने के लिये इस हेतु से आवश्यक होना निश्चित होता है कि यदि किसी उत्पन्न बालक को किसी ऐसे स्थान में रक्खें जहां उसको भोजन वस्त्र मात्र दिया जावे और किसी मनुष्य से उसको शब्द व अर्थ के सुनने व जानने का प्रसङ्ग न हो तो अपनी बुद्धि से उसको कुछ ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् किस पदार्थ का क्या नाम है उसके क्या गुण हैं ऐसा किसी वाणी के शब्दों व उनसे वाच्य अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता इससे यदि ईश्वर वेद द्वारा उपदेश न करता तो किसी को धर्म अधर्म व पदार्थों का ज्ञान न होता ज्ञान न होने में मनुष्य पाप व पुण्य कर्मों के फल के भोग के योग्य न होते इत्यादि हेतु वर्णन किये जाते हैं इस प्रकार से वेदों का ईश्वर से प्रकट किया जाना और वेद मात्र को अपौरुषेय और ईश्वर वाणी मानते हैं परन्तु इसमें यह आक्षेप हो सकता है कि वेद के समान शिक्षा कल्प व्याकरण छन्द ज्योतिष और निरुक्त यह छः वेद के अङ्ग भी जिनके ज्ञान होने के पश्चात् वेद का ज्ञान हो सकता है अन्यथा नहीं, अपौरुषेय ईश्वर से उपदिष्ट मन्तव्य हैं क्योंकि उत्पन्न बालकों को विना शिक्षा के उक्त अङ्गों का भी ज्ञान वेद के ज्ञान न-होने के समान नहीं होता न होना सम्भव है इससे जो विना उक्त अङ्गों की शिक्षा किये ईश्वर ने वेद वाणी मात्र को प्रकट किया तो वेद का प्रकट करना निष्फल और न प्रकट करने के समान है जैसे किसी मनुष्य को जो संस्कृत वाणी को नहीं जानता था अन्य किसी वाणी को नहीं जानता कोई संस्कृत में वा अन्य अज्ञात वाणी में उपदेश या शिक्षा विषयक वाक्यों को सुनावे तो उनसे उसको कुछ ज्ञान व लाभ नहीं हो सकता वाक्यों का कहना और सुनना निष्फलही है ऐसे ही विना उक्त अङ्गों की शिक्षा के वेद का प्रकट करना और वेद की शिक्षा निष्फल है वेद से प्रथम उक्त अङ्गों की शिक्षा होना आवश्यक है यदि विना ईश्वर की शिक्षा विशेष पुरुषों ने उक्त छः अङ्गों के ज्ञान को अपनी बुद्धि के द्वारा प्राप्त कर लिया है और यह पौरुषेय हैं तो वेद को भी ईश्वरवाणी और अपौरुषेय मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रथम व्याकरण आदि अङ्गों का जानना ही कठिन परिश्रम साध्य है जिसको व्याकरण से शब्दों व अर्थों में वाचक वाच्य सम्बन्ध नाम, आख्यात कारक, समास, तद्धित और कृदन्त आदि प्रकरण और उनके प्रकृति प्रत्यय आदि के नियम का ज्ञान और अन्य उक्त अङ्गों के विषयों का ज्ञान हो जाता है वह वाक्यों के अर्थ समझने और स्वयं गद्य पद्य वाक्यों के रचना

करने में अधिकार और अज्ञात वाक्यों के अर्थ को भी विचार कर समझने की योग्यता प्राप्त करता है। और जो बिना उक्त अङ्गों के ज्ञान वाक्यों मात्र को पढ़ और कण्ठ करके अर्थ भी जान लेता है वह बिना यथार्थ और अयथार्थ होने का ज्ञान उक्त प्रकार के अधिकारसे रहित होता है। उक्त अङ्गोंके विद्वान वेद वाक्यों की भी रचना करने और उनमें वर्णित अर्थों के भी ज्ञाता व शिक्षक हो सकने से वेदभी पौरुषेयही होना मन्तव्य होंगे यदि उक्त अङ्गोंकी शिक्षा भी ईश्वरकृत और अब भी अपौरुषेय हैं तो उनके ऐसा होने का लेख पाया नहीं जाता न वे ऐसे माने जाते हैं इससे यह प्रश्न भी निर्णय करने के योग्य है अब इन दोनों प्रश्नों वा आक्षेपों का उत्तर अपने विचार से क्रम से लिखते हैं-प्रथम प्रश्न के विषय में यह मन्तव्य नहीं हो सकता है कि ईश्वर ने इस आशय से ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि जिनका अनेक प्रकार का अर्थ ग्रहण किया जावे और सत असत जो भाष्यकार अपनी इच्छा अनुसार वेद मन्त्रों का व्याख्यान करे वही ईश्वर का आशय होना स्वीकार किया जावे वेद मन्त्रों में ऐसे शब्दों के प्रयोग करने का आशय यह है कि मन्त्रों के अर्थ जानने में विचार व विवेक की आवश्यकता होने से जो विचार शील और वेद के सब अङ्गोंका ज्ञाता है वह अनेक प्रकार का अर्थ हो सकने में भी सत्य अर्थ निश्चय करे और उनके उपदेश से अन्य श्रद्धालु जन वेद के अङ्गों और वेद के अर्थ जानने के लिये वेद और वेदाङ्गों को परिश्रम से पढ़कर उनके तत्व को जानें और विद्या में अधिकार प्राप्त करने में उद्योग करें आलस्य युक्त हो तत्वज्ञान व मोक्ष के हेतुरूप विद्या और विवेक से रहित न हों यदि वेद बिना वेदके अङ्गों के ज्ञान व विचार के कथा व इतिहासों के समान सरलता से जानने के योग्य होंगे तो जैसे विशेष विद्या परिश्रम व विचार से जानने योग्य होने में यह समझ कर कि लौकिक पारलौकिक हित धर्म ईश्वर और सब पदार्थों का सच्चा ज्ञान वेद ही से होता है वेद और उसके ज्ञाता विद्वान् का लोग आदर करेंगे और वेद के जानने के लिये जो श्रद्धा रखते हैं वह वेद और वेद के अङ्गों के पढ़ने में परिश्रम करेंगे ऐसे आदर और परिश्रम का अभाव होगा अर्थात् विद्वान् के ऐसे आदर होने और विद्या में विशेष अधिकार प्राप्त करने में परिश्रम करने और विद्या व विचार की उन्नति होने का अभाव होगा इत्यादि विशेष हेतुओं से उक्त प्रकार से वेद वाणी का प्रयुक्त होना यथार्थ होना ज्ञातव्य है॥

अब अनेक भाष्यकारों के भिन्न भिन्न अर्थों से व्याख्यान किये गये मन्त्रों के भाष्यों में से कौन भाष्य यथार्थ होना मन्तव्य है इसके निर्णय के लिये यह सिद्धान्त निश्चय किया जाता है कि वेद मन्त्रों के सत्य अर्थ के वक्ता केवल तप व योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले दिव्य ज्ञान से परोक्ष व गूढ़ अर्थों के जानने का सामर्थ्य जिनको प्राप्त हुआ है ऐसे ऋषि ही मन्तव्य हैं और हो सकते हैं इसी से जिस ऋषि ने अपने योग के प्रभाव और ईश्वर के अनुग्रह से जिस मन्त्र के सत्य अर्थ को जान कर उसको प्रकाशित किया है उस मन्त्र पर उस

ऋषि का नाम लिखा है। मन्त्र विशेष पर ऋषि के नाम लिखने का यही हेतु श्रीस्वामी दयानन्द जी ने भी लिखा है उक्त प्रकार के ऋषियों से भिन्न अन्य लौकिक विद्वान् वे चाहे जैसे शब्द व अर्थ के ज्ञाता हों उनकी बुद्धि में भ्रम, पक्ष वा आग्रह, समय के अनुकूल अर्थ साधन आदि दोष किसी अंश में आही जाते हैं विचार करने से महीधर रावण सायनाचार्य आदि के भाष्यों में किसी में अधिक किसी में न्यून उक्त हेतुओं से व्याख्यान का अयुक्त होना प्रतीत होता है महीधर का भाष्य विशेष अयुक्त होने से मन्तव्य नहीं है अन्य में कोई कोई व्याख्यान अयुक्त है श्री स्वामी दयानन्द जी ने जो अन्य भाष्यकारों के भाष्य को सदोष कह कर ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में अपने भाष्य करने के शङ्का समाधानादि विषय में यह लिखा है कि मैं कोई नया अर्थ नहीं लिखता आर्षग्रंथों के व्याख्यानों का संग्रह मात्र करके सत्य अर्थ को प्रकाशित करता हूं उनका यह लेख अधिक अंश में सत्य है और कुछ अंश में असत्य है केवल अपने व्याख्यान वा वचन में श्रद्धा बढ़ाने के लिये कहना निश्चित होता है उक्त स्वामी जी के अर्थ में अयुक्त असंभव होने आदि का दोष होना इस ग्रन्थ में पूर्व ही वर्णन किया गया है और कोई कोई अर्थ व व्याख्यान उपनिषद् और आर्ष ग्रंथों के आशय से कुछ अंश में असंगत है इससे उनका भी सब लेख और वेदभाष्य यथार्थ है ऐसा मन्तव्य नहीं है इससे यह सिद्धान्त ग्राह्य है कि वेद की जो शाखायें लुप्त हो गई हैं वह तो अलभ्य हैं उनसे जो निश्चय करना संभव था उनके अभाव में अब जो अर्थ और आशय वेदमन्त्रों का ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यात है और आत्मा परमात्मा और उपासना विषय में उपनिषद् ग्रन्थों में वर्णित है तथा जिस ऋषि ने जो दर्शन ग्रंथ जिस विषय में सूत्रों में वर्णन किया है उनमें से जिसका आर्षभाष्य उपलब्ध होता है उसका वह भाष्य और अन्य का जो व्याख्यान सूत्रों के शब्दों के अर्थ व पूर्वापर सम्बन्ध व आशय के अनुकूल और क्लिष्ट कल्पना से रहित है वही मन्तव्य है। तथा जो व्याख्यान किसी आधुनिक भाष्यकार का वेद विषयक वा अन्य आर्ष ग्रन्थ का उक्त ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वर्णन किये हुये अर्थ व आशय के अनुकूल उनके पूर्वापर वाक्यों से विरोध रहित और अयुक्त असंभव होने के दोष से रहित है वह ग्राह्य व मन्तव्य है अन्यथा वह किसी का व्याख्यान हो मन्तव्य नहीं है। यदि किसी विषय में किसी शब्द वा वाक्य का अर्थ केवल अपनी बुद्धि के अनुसार अथवा कोश में कोई शब्द कई अर्थ वाचक होने से किसी वाक्य का अर्थ कल्पना करके कोई भाष्यकार करे और उसका आशय आर्ष ग्रन्थों में उसके विरुद्ध वा अन्यथा विदित हो वह स्वीकार के योग्य नहीं है यदि कोई भाष्यकार आर्ष ग्रन्थही में अपने व्याख्यान में व[illegible] किसी शब्द के अर्थ का कोई प्रमाण देवे तो भी व[illegible] ही [illegible] आशय में जिसमें आर्ष ग्रन्थ में प्रयुक्त है भाष्य[illegible] है [illegible] से युक्त न हो तो ग्राह्य है अन्यथा नहीं। विन[illegible] है॥

किसी आर्ष ग्रन्थ में अयुक्त [illegible]

यदि किसी आर्ष ग्रंथ के मूल वाक्य का व्याख्यान अयुक्त है और विचार से उसका उत्तम अर्थ हो सक्ता है तो व्याख्यान कर्ता की बुद्धि का दोष है वह मन्तव्य नहीं है ॥ १ ॥

द्वितीय प्रश्न के विषय में उत्तर यह है कि अङ्गों सहितही अङ्गी वाच्य होता विना अगारे के आगी नहीं होता इसी प्रकारसे वेदज्ञान के शिक्षा कल्प व्याकरण आदि अङ्ग के समान होने से इनके विना वेद रूप अङ्गी का होना सम्भव न होने से अग्नि आदि देवताओं वा ऋषियों अथवा ब्रह्मा जी के हृदय में अङ्गों सहित ही वेद को ईश्वर ने प्रकट किया है अङ्गी के कहने मात्र से अङ्गों का ग्रहण हो जाता है इससे उनको पृथक् नहीं कहा। उक्त अङ्गों का भी ज्ञान सृष्टि की आदि में विना ज्ञाता उपदेष्टा के सम्भव न होने से ब्रह्मा जी वा अग्नि आदिही के द्वारा अन्य मनुष्यों को हो सकता है अन्यथा नहीं इससे अङ्गों का भी ईश्वर से प्रकट किये जाना अपौरुषेय होना मन्तव्य है पीछे ब्रह्मा आदि से गुरुशिष्य सम्बन्ध क्रम चलने से अपौरुषेय माने गये हैं। यदि अग्नि आदि वा ब्रह्मा जी व्यक्ति विशेषों के द्वारा प्राप्त होने से अङ्ग पौरुषेय स्वीकार किये जावें तो वेद भी पौरुषेय मन्तव्य होवेंगे। यदि यह कहा जाय कि व्याकरण आदि का ब्रह्मा जी वा अग्नि आदि ने, प्रकट वा प्राप्त होना वर्णित नहीं है तो वेद अङ्गी और मुख्य के कहने ही से व्याकरण आदि अङ्गों का कथित होना ज्ञातव्य हैं। ब्रह्मा आदि ज्ञाता पुरुष विशेष ही से ज्ञान प्राप्त होने से इन्द्रचन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का पूर्वकाल में होना सुना जाता है उनके ग्रंथ लुप्त हो जाने से वर्तमान में पाणिनि का व्याकरण और अन्य व्याकरण ग्रंथ प्रसिद्ध हैं यदि पूर्वकालसे व्याकरण विद्या न होती तो पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि व्याकरण के ज्ञाता व व्याकरण ग्रंथ के निर्माता न होते, और व्याकरण का ज्ञान न होने में पूर्वमें वेद वाक्यों के अर्थका ज्ञान ही न हो सकता यदि यह कहाजाय कि वेद में परोक्ष अर्थ का प्रतिपादन है परोक्ष अर्थ का ज्ञान ईश्वर ही को हो सकता है इसमें वेद ही मात्र का प्रकट करने वाला ईश्वर मन्तव्य है वेदही मात्र ईश्वरवाणी है तो यह यथार्थ नहीं है कल्प ज्योतिष निरुक्त में भी परोक्ष अर्थ का वर्णन परोक्ष फलदायक कर्मकी विधि का वर्णन है इस से अङ्गों सहित वेद का अपौरुषेय होना अन्यथा पौरुषेय होना मन्तव्य है यह अनुमान से सिद्ध होता है ॥

समीक्षाकराख्ये ग्रंथेयथोक्ताः पूर्वमयाष्टौग्रथाः विनिर्मिता
शिष्येणसभ्यैरपिप्रेरितोऽहमर्वागततोनिर्मितवाञ्चापरौ ॥१॥

बृहदारण्यकाख्यायाः भाष्यमुपनिषदस्तथा ग्रंथञ्चतत्वमार्तण्डमतत्वध्वन्तिनाशनम् ॥२॥

अभ्युदयालुनामाऽऽसंद्वितीयाश्रमआश्रितः जातस्तुरीये सैत्राह मभूतानन्दसञ्ज्ञकः ॥३॥

ऋषि का नाम लिखा है। मन्त्र विशेष पर ऋषि के नाम लिखने का यही हेतु श्रीस्वामी दयानन्द जी ने भी लिखा है उक्त प्रकार के ऋषियों से भिन्न अन्य लौकिक विद्वान् वे चाहे जैसे शब्द व अर्थ के ज्ञाता हों उनकी बुद्धि में भ्रम, पक्ष वा आग्रह, समय के अनुकूल अर्थ साधन आदि दोष किसी अंश में आही जाते हैं विचार करने से महीधर रावण सायनाचार्य आदि के भाष्यों में किसी में अधिक किसी में न्यून उक्त हेतुओं से व्याख्यान का अयुक्त होना प्रतीत होता है महीधर का भाष्य विशेष अयुक्त होने से मन्तव्य नहीं है अन्य में कोई कोई व्याख्यान अयुक्त है श्री स्वामी दयानन्द जी ने जो अन्य भाष्यकारों के भाष्य को सदोष कह कर ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकामें अपने भाष्य करनेके शंका समाधानादि विषयमें यहलिखा है कि मैं कोई नया अर्थ नहीं लिखता आर्षग्रथों के व्याख्यानों का सग्रह मात्र करके सत्य अर्थ को प्रकाशित करता हूं उनका यह लेख अधिक अंश में सत्य है और कुछ अंश में असत्य है केवल अपने व्याख्यान वा वचन में श्रद्धा बढाने के लिये कहना निश्चित होता है उक्त स्वामी जी के अर्थ में अयुक्त असंभव होने आदि का दोष होना इस ग्रन्थ में पूर्व ही वर्णन किया गया है और कोई कोई अर्थ व व्याख्यान उपनिषद् और आर्ष ग्रंथों के आशय से कुछ अंश में असंगत है इससे उनका भी सब लेख और वेदभाष्य यथार्थ है ऐसा मन्तव्य नहीं है इससे यह सिद्धान्त ग्राह्य है कि वेद की जो शाखाएँ लुप्तहो गई हैं वह तो अलभ्य हैं उनसे जो निश्चय करना संभव था उनके अभाव में अब जो अर्थ और आशय वेदमन्त्रों का ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यात है और आत्मा परमात्मा और उपासना विषय में उपनिषद् ग्रन्थों में वर्णित है तथा जिस ऋषि ने जो दर्शन ग्रंथ जिस विषय में सूत्रों में वर्णन किया है उनमें से जिसका आर्षभाष्य उपलब्ध होता है उसका वह भाष्य और अन्य का जो व्याख्यान सूत्रों के शब्दों के अर्थ व पूर्वापर सम्बन्ध व आशय के अनुकूल और क्लिष्ट कल्पना से रहित है वही मन्तव्य है। तथा जो व्याख्यान किसी आधुनिक भाष्यकार का वेद विषयक वा अन्य आर्ष ग्रन्थ का उक्त ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वर्णन किये हुये अर्थ व आशयके अनुकूल उनके पूर्वापर वाक्योंसे विरोध रहित और अयुक्त असंभव होने के दोष से रहित है वह ग्राह्य व मन्तव्य है अन्यथा वह किसी का व्याख्यान हो मन्तव्य नहीं है। यदि किसी विषय में किसी शब्द वा वाक्य का अर्थ केवल अपनी बुद्धि के अनुसार अथवा कोश में कोई शब्द कई अर्थ वाचक होने से किसी वाक्य का अर्थ कल्पना करके कोई भाष्यकार करे और उसका आशय आर्ष ग्रन्थों में उसके विरुद्ध वा अन्यथा विदित हो वह स्वीकार के योग्य नहीं है यदि कोई भाष्यकार आर्ष ग्रन्थही में अपने व्याख्यान में वर्णित किसी शब्द के अर्थ का कोई प्रमाण देवे तो भी यदि वह वैसे ही प्रसङ्ग और आशय में जिसमें आर्ष ग्रन्थ में प्रयुक्त है भाष्यकार का प्रयोग है और उक्त दोषों से युक्त न हो तो ग्राह्य है अन्यथा नहीं। विचार से निर्णय करके मानना यथार्थ है॥

किसी आर्ष ग्रन्थ में अयुक्त असंभव का वर्णन हो तो वह प्रक्षिप्त ज्ञातव्य है

यदि किसी आर्ष ग्रंथ के मूल वाक्य का व्याख्यान अयुक्त है और विचार से उसका उत्तम अर्थ हो सका है तो व्याख्यान कर्ता की बुद्धि का दोष है यह मन्तव्य नहीं है ॥ १ ॥

द्वितीय प्रश्न के विषय में उत्तर यह है कि अङ्गों सहितही अङ्गी वाच्य होता बिना अगारे के आगी नहीं होता इसी प्रकारसे वेदज्ञान के शिक्षा कल्प व्याकरण आदि अङ्ग के समान होने से इनके बिना वेद रूप अङ्गी का होना सम्भव न होने से अग्नि आदि देवताओं वा ऋषियों अथवा ब्रह्मा जी के हृदय में अङ्गों सहित ही वेद को ईश्वर ने प्रकट किया है अङ्गी के कहने मात्र से अङ्गों का ग्रहण हो जाता है इससे उनको पृथक् नहीं कहा। उक्त अङ्गों का भी ज्ञान सृष्टि की आदि में बिना ज्ञाता उपदेष्टा के सम्भव न होने से ब्रह्मा जी वा अग्नि आदिही के द्वारा अन्य मनुष्यों को हो सकता है अन्यथा नहीं इससे अङ्गों का भी ईश्वर से प्रकट किये जाना अपौरुषेय होना मन्तव्य है पीछे ब्रह्मा आदि से गुरुशिष्य सम्बन्ध क्रम चलने से अपौरुषेय माने गये हैं। यदि अग्नि आदि वा ब्रह्मा जी व्यक्ति विशेषों के द्वारा प्राप्त होने से अङ्ग पौरुषेय स्वीकार किये जावें तो वेद भी पौरुषेय मन्तव्य होवेंगे। यदि यह कहा जाय कि व्याकरण आदि का ब्रह्मा जी वा अग्नि आदि से प्रकट वा प्राप्त होना वर्णित नहीं है तो वेद अङ्गी और मुख्य के कहने ही में व्याकरण आदि अङ्गों का कथित होना ज्ञातव्य है। ब्रह्मा आदि ज्ञाता पुरुष विशेष ही से ज्ञान प्राप्त होने से इन्द्रचन्द्र आदि आठ वैयाकरणों का पूर्वकाल में होना सुना जाता है उनके ग्रंथ लुप्त हो जाने से वर्तमान में पाणिनि का व्याकरण और अन्य व्याकरण ग्रंथ प्रसिद्ध हैं यदि पूर्वकालसे व्याकरण विधान होती तो पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि व्याकरण के ज्ञाता व व्याकरण ग्रंथ के निर्माता न होते, और व्याकरण का ज्ञान न होने में पूर्वमें वेद वाक्यों के अर्थका ज्ञान ही न हो सकता यदि यह कहाजाय कि वेद में परोक्ष अर्थ का प्रतिपादन है परोक्ष अर्थ का ज्ञान ईश्वर ही को हो सकता है इससे वेद ही मात्र का प्रकट करने वाला ईश्वर मन्तव्य है वेदही मात्र ईश्वरवाणी है तो यह यथार्थ नहीं है कल्प ज्योतिष निरुक्त में भी परोक्ष अर्थ का वर्णन परोक्ष फलदायक कर्मकी विधि का वर्णन है इस से अङ्गों सहित वेद का अपौरुषेय होना अन्यथा पौरुषेय होना मन्तव्य है यह अनुमान से सिद्ध होता है ॥

समीक्षाकराख्ये ग्रंथेयथोक्ताः पूर्वमयाद्यौग्रथाः विनिर्मिता
शिष्येणसभ्यैरपिप्रेरितोऽहमर्वाक्ततोनिर्मितवाञ्चापरौ ॥१॥
बृहदारण्यकाख्याया भाष्यमुपनिषदस्तया ग्रयञ्चतत्वमार्त-
ण्डमतत्वध्वन्तिनाशनम् ॥२॥
अभ्युदयालुनामाऽऽसंद्वितीयाश्रमआश्रितः जातस्तुरीये सैवाहं
अभूतानन्दसंज्ञकः ॥३॥

अर्थ—समीक्षाकर नामक ग्रन्थमें जैसे कहेगये हैं पहिले आठ ग्रंथ मैंने बनाये थे उसके पश्चात् एक शिष्य और कई सभ्यपुरुषों की प्रेरणा से मैं मैंने दो ग्रंथ और बनाया है ॥ १ ॥

एक बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य और दूसरा अतत्व (मिथ्याज्ञान) रूप अंधकार का नाश करनेवाला ग्रंथतत्व मार्तण्ड ॥ २ ॥

द्वितीय आश्रम (गृहस्थ आश्रम) में जब मैं था तब मेरा नाम प्रभुदयाल था अब चतुर्थ आश्रम में (सन्यास आश्रम में) प्रभूतानन्द नाम का होगया अर्थात् प्रभुदयाल के स्थान में मेरा नाम प्रभूतानन्द होगया ॥ ३ ॥

इति श्रीतत्वमार्तण्डे श्रीस्वामिप्रभूतानन्दनिर्मिते साङ्गवेदस्यपौरुषेयत्वापौरुषेयत्वनिर्णये त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥



शुद्धि पत्र

यद्यपि यन्त्रालय के छापने वाले कर्मचारी यह कहते हैं कि प्राय जिन जिन फार्मों में अक्षर व मात्रा न उठने की जो अशुद्धिया कुछ प्रतियो के छप आने पर ज्ञात हुई है वह शुद्ध कर दी गई है फिर जो प्रतिया छपी हैं उनमें शब्द शुद्ध छपे हैं परन्तु जिस फार्म में जो अशुद्ध प्रतिया प्रथम छप गई है उनके लिये आवश्यकता जान कर देखे हुये फार्मों में जो अशुद्धिया दृष्टिगत हुई हैं उनको इस शुद्धि पत्र में लिख दिया है ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	३०	ग्रहण कर	ग्रहण करैं
२	३३	आ नेमत	अपने मत
५	६	अधम	अधर्म
७	१३व१४	इन पक्तियों में कोई २ शब्द स्वच्छ नही छपे जैसे वचन के स्थान में ववत	विचार कर शब्दो को स्वच्छ व स्पष्ट लिख लेना चाहिये;
७	२३	प्रताप सिह	प्रतापसिंह
७	२६	वहार वृन्दावन	वहारवृन्दावन
८	३२	१२६५००० त्रेता=५४००० द्वापर	१२९६००० त्रेता =८६४००० द्वापर
१०	३१	दोनों प्रश्नों	दोनों प्रश्नों का
१४	२६	अथव	अथर्व
१५	८	आ नोकेलिये	अपनो के लिये
१६	१०	ज्ञा०	ज्ञात
१६	१६	अव्ययन	अध्ययन
१६	२३ व २४	ग्रन्थों स ख्या	ग्रन्थो की स ख्या
१७	१६	अपनी यहा के	अपने यहा के
१७	१४	अन्य पचीसों	अन्य पचीस
१६	२८	अनुचित न समुभा	अनुचित समुभा
२०	१६	वेदान्त दर्शन करके सूत्रों को	वेदान्त दर्शन के सूत्रो को
२२	२७	सत्य व्रत धम सिधु	सत्यव्रत धर्मसिन्धु
२३	१६	कया किसी पक्ष पात ग्रस्त	कथा किसी पक्षपात ग्रस्त
२४	१	कर्म फले देवि	कर्मफलेदेंनि
२५	८	स्था	स्थान
३१	३३	तीर्थों	तीर्थों का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५	३४	अपेक्षा निकृ०	अपेक्षा निकृष्ट
३३	३	वेरगो	वैरागी
३३	४	रगाकर	लगाकर
३३	१५	ब्रह्मचय्य	ब्रह्मचर्य्य
३४	१७	हो। है	होते हैं
३५	१८	उस त्रिपय मे	इस विषय में
३६	३०	हाजाने	होजाने
३७	२६	बाद्ध	बौद्ध
३८	३६	लिग्पा है था	लिखा था
३६	१६	वह्म	ब्रह्म
४०	५	ऐश्य	ऐसा
४०	३० व ३१ तथा ३५	ईश्वर को सिद्ध	ईश्वर की सिद्धि
४२	१७	एकगुण विशिष्ट	एक एक गुण विशिष्ट
४३	२१	हेत	हेतु
४६	१४	प्रयान	प्रधान
५२	६	हाने ही	होने ही
५२	१८ व १६	इन्द्रियों के विषयों को आसक्त	इन्द्रियों के विषय में आसक्त
५३	२७	वर्ण शङ्कर	वर्णसङ्कर
५३	२६ व ३०	विद्वोमान्दान्	विद्वोमन्दान्
५५	२४	सम न	समान
५७	८ व ६	प्रकाश रु। है	प्रकाशरूप
५६	२१	परमात्मा वेतन	परमात्मा चेतन
५६	२३	विज्ञापन	विज्ञापन
५६	२४	वनाकर	बनकर
५६	२८	मिते हुये के समान	मिले हुये के समान
५६	३२	आमारूप	आत्मारूप
६०	२०	इस इस प्रकार	इस प्रकार
६४	४	हो सकती प्रथम	हो सकती है प्रथम
६५	८	छन्दोग्य	छान्दोग्य
"	१४	अवतारी	अवतारों
६७	२८	रूपन से	रूप से
६८	३१	रक एसा	एक ऐसा
"	३३	चातुर्भौतिककेशरीर	चातुर्भौतिक शरीर
७०	३६	वर्णन किया	वर्णन किया है